डिंगल साहित्य

डा. जगदीश प्रसाद एम. ए. डी. फिल.

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश

डिंगल साहित्य

डिंगल-साहित्य

[पद्य]

[प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फिल्० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबंध]

लेखक
डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव
एम० ए०, डी० फिल्०

१९६०
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद

प्रथमावृत्ति—२०००
मूल्य—

मुद्रक
प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स,
२, क्लाइव रोड, इलाहाबाद

श्रद्धेय

आचार्य डा० धीरेन्द्र वर्मा, एम० ए०, डी० लिट् (पेरिस)

तथा

आचार्य डा० रामकुमार वर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०

को

साहित्य-साधना का प्रतीक पुष्प
सादर, सस्नेह समर्पित

—जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव

प्रकाशकीय

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद का यह सदैव से प्रयत्न रहा है कि हिन्दी में शोधपूर्ण एवं मौलिक ग्रंथों को प्रकाश में लाया जाय। डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव का 'डिंगल-साहित्य' हिन्दी के क्षेत्र विशेष की भाषा और साहित्य पर पूर्ण प्रकाश डालता है। प्रस्तुत पुस्तक प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फ़िल् उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध है।

प्राकृत और अपभ्रंश से उद्भूत डिंगल-भाषा, एक क्षेत्र-विशेष की जनता और विशिष्ट वर्ग, दोनों के अभिव्यक्ति का माध्यम रही है। डिंगलभाषा के आदि-कालीन होने तथा इसमें प्रचुर सामग्री होने के कारण विद्यार्थी और विद्वान् दोनों ही इसके मंथन में लगे हैं। पर अभी इसके सुव्यवस्थित वैज्ञानिक अध्ययन की बहुत अपेक्षा है। पुस्तक में विद्वान् लेखक ने डिंगल-पद्य-साहित्य की सम्पूर्ण धारा का शोधपूर्ण क्रमबद्ध तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। डिंगल में प्राप्त प्रमुख रचनाओं का ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक विवेचन, विषयों का काल-विभाजन और आलोचनात्मक परिचय, छन्दों और अलंकारों की व्याख्या और उनका परिचय तथा डिंगलभाषा सम्बन्धी सभी अपेक्षित विषयों पर भाषावैज्ञानिक निरूपण, पुस्तक के प्रमुख विषय हैं। आशा है, हिन्दी जगत् में पुस्तक का समादर होगा और डिंगल-भाषा और साहित्य के अध्ययन की ओर विद्यार्थियों एवं विद्वानों का ध्यान समान रूप से आकृष्ट होगा।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद

विद्याभास्कर
मन्त्री तथा कोषाध्यक्ष

परिचय

हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक धाराओं में हिन्दी, उर्दू, ब्रजभाषा, अवधी तथा मैथिली के अतिरिक्त डिंगल साहित्य-धारा भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसकी कई विशेषताएँ हैं। डिंगल साहित्य की परम्परा का सम्बन्ध संस्कृत-साहित्य से विशेष न होकर प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्यधाराओं से अधिक निकट का है। फिर यह केवल उच्च-वर्ग से सम्बन्धित साहित्य नहीं है बल्कि जनसम्पर्क में लिखा गया है। डिंगल में पद्य-साहित्य के साथ-साथ गद्य साहित्य भी प्रचुर मात्रा में मिलता है।

यह अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि डिंगल के पद्य साहित्य का क्रमबद्ध अध्ययन डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है। लेखक ने ६,१० प्रमुख ग्रन्थों का तो विस्तृत परिचय दिया है तथा शेष का विषयानुसार संक्षिप्त विवरण दिया है। इसके अतिरिक्त इन समस्त ग्रन्थों के अलंकार विधान, छन्द योजना तथा भाषागत विशेषताओं का पृथक्-पृथक् अध्ययन प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ का छठा अध्यायन विशेष महत्वपूर्ण है। इसमें सात चुने हुए ग्रन्थों की ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सामग्री की परीक्षा की गई है। इस अध्याय को इतिहास के विद्यार्थी भी रोचक तथा उपयोगी पावेंगे। ग्रन्थ के अन्त में मूल तथा सहायक ग्रन्थों की विस्तृत सूचियाँ भी दी गई हैं जिनसे ग्रन्थ की उपयोगिता विशेष बढ़ जाती है।

मुझे विश्वास है कि डा० श्रीवास्तव का यह अध्ययन राजस्थान के डिंगल पद्य-साहित्य में हिन्दी पाठकों की विशेष अभिरुचि जाग्रत् करने में सहायक होगा। डिंगल के विशाल गद्य साहित्य का अध्ययन भी शीघ्र होना चाहिये। आशा है कि डा० श्रीवास्तव अथवा कोई अन्य विद्वान् इस कमी की पूर्त्ति शीघ्र ही करेगा।

वाराणसी
मार्च १९६०

धीरेन्द्र वर्मा

वक्तव्य

अनेक विषम परिस्थितियों का साक्षात्कार करने के उपरान्त दिसम्बर सन् १९५१ ई० में रिसर्च करने की अनुमति प्राप्त कर लेखक ने 'डिंगल-साहित्य का अध्ययन' प्रारम्भ किया। इसके अध्ययन की प्रेरणा तथा प्रोत्साहन में पूज्य गुरुवर डा० धीरेन्द्र वर्मा तथा डा० रामकुमार वर्मा का विशेष हाथ रहा। प्रयाग के ग्रंथागारों तथा वाराणसी के आर्यभाषा पुस्तकालय में एतद्विषयक सामग्री का निरीक्षण करने के उपरांत अक्टूबर तथा नवम्बर सन् १९५२ ई० में सामग्री-संकलन के निमित्त लेखक ने राजस्थान के प्रमुख नगरों की यात्रा की। इस प्रकार लगभग एक वर्ष के अध्ययन के पश्चात् विषय की व्यापकता को देखते हुये, आचार्य डा० धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशानुसार, उसे सीमित कराकर केवल 'पद्य-साहित्य' के अध्ययन की ओर ध्यान केन्द्रीभूत किया गया।

इस साहित्य के अध्ययन की अपेक्षा की ओर तो विद्वानों का ध्यान वर्तमान शती में प्रायः सदैव ही बना रहा किन्तु सामग्री के एकत्र उपलब्ध न होने तथा अधिकांश अप्रकाशित होने के कारण कदाचित् किसी ने भी इसे कार्यान्वित करने का साहस नहीं किया। इस दिशा में सर्व प्रथम महत्वपूर्णकार्य इटली के विद्वान् स्व० डा० एल० पी० टेसीटरी ने 'ए डिस्क्रिप्टिव कैटलाग् आव् बार्डिक ऐंड हिस्टारिकल मैनुस्क्रिप्ट्स' का सन् १९१७ में प्रकाशन करा कर किया। इसके द्वारा डिंगल के अनेक कवियों तथा उनकी रचनाओं पर प्रकाश पड़ा। इसके अतिरिक्त उन्होंने बेलि क्रिसन रुक्मिणी री, छंद राव जैतसी तथा वचनिका राठौड़ रतनसिंह जी री महेदासोतरी का संपादन किया एवं जर्नल आव् एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, में कई लेख लिखे। इस प्रकार डिंगल के जीर्णोद्धार का श्रीगणेश हुआ। इसके पश्चात् ठा० भूरसिंह शेखावत का महाराणा यश प्रकाश (सन् १९२५ ई०), नरोत्तम दास स्वामी का राजस्थान रा दूहा (सन् १९३४ ई०), मोतीलाल मेनारिया कृत राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा (सन् १९३९ ई०), डिंगल में वीररस (सन् १९४२ ई०), राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (सन् १९४२ ई०), बीकानेर राज्य की ओर से गीत मंजरी (सन् १९४४ ई०) तथा राजस्थानी वीरगीत (सन् १९४५ ई०) एवं कैटलाग आव् राजस्थानी मैनुस्क्रिप्ट्स (सन् १९४७ ई०) प्रकाशित हुये। इन रचनाओं के द्वारा डिंगल पद्य-साहित्य के अनेक ग्रंथप्रणेता एवं गीत-रचयिता प्रकाश में आ सके। इनके साथ ही साथ पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर निबंध

प्रकाशित होते रहे जिनमें कि गजराज ओझा का डिंगल-भाषा, पुरुषोत्तम स्वामी का राजस्थानी साहित्य और उसकी प्रगति तथा शुभकर्ण बदरीदान कविया का हिन्दी का चारण-काव्य विशेष उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त अब तक लगभग ४-५ दर्जन छोटे बड़े-ग्रंथों का संपादन हो चुका है।

प्रस्तुत "डिंगल साहित्य" [पद्य] हिन्दी में एक पूर्ण ग्रंथ की अपेक्षा की पूर्ति के निमित्त प्रयत्न है। इसका आधार लगभग गत ५० वर्षों के मध्य प्रकाशित सामग्री तथा तद्विषयक हस्तलिखित पोथियाँ हैं जिनका उपयोग, विषय की सीमाओं को ध्यान में रखते हुये, यथासंभव किया गया है। ग्रंथ ६ अध्यायों में है जिसका आभास विषय-सूची पर दृष्टिपात करने से हो सकता है। इस विभाजन से संबंधित दृष्टिकोण को संक्षेप में यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। प्रथम अध्याय में, ९ रचनाओं का विषयानुसार आलोचनात्मक विवेचन कर डिंगल-साहित्य की श्रेष्ठता एवं संपन्नता का प्रकाशन किया गया है। द्वितीय अध्याय में, डिंगल पद्य-साहित्य में उपलब्ध सामग्री का विषयानुसार विभाजन, प्रत्येक विषय का विवेचन एवं प्रत्येक विषय की उपलब्ध रचनाओं का कालक्रम के अनुसार परिचय प्रस्तुत किया गया है। रचनाओं का परिचय देने में प्रयास तो यही रहा है कि डिंगल की समस्त रचनाओं पर प्रकाश पड़ सके, किन्तु फिर भी रचनाओं का छूट जाना असंभव नहीं है। डिंगल की रचनाओं का निर्वाचन, भाषा के निकष पर परीक्षण करके किया गया है तथा इस विषय में लेखक ने अपने निर्णय को प्राधान्य दिया है। भाषा के विवाद-ग्रस्त रचनाओं को जान बूझ कर छोड़ दिया गया है। तृतीय अध्याय में, डिंगल के अलंकार-ग्रंथों का परिचय, वैण सगाई तथा डिंगल में प्रयुक्त अन्य अलंकारों का उल्लेख और प्रथम अध्याय की रचनाओं में प्रयुक्त अलंकारों का निर्देश है। चतुर्थ अध्याय में, छंद संबंधी रचनाओं का उल्लेख, नवीन एवं मौलिक छंदों के नाम तथा विशिष्ट छंदों का परिचय और अध्याय १ की रचनाओं में प्रयुक्त छंदों की व्याख्या है। पंचम अध्याय में, डिंगलभाषा का अभ्युदय, विकास एवं प्रत्येक काल की प्रमुख विशेषतायें तथा भाषाविज्ञान की दृष्टि से शास्त्रीय विवेचन है। शास्त्रीय विवेचन में केवल प्रमुख विशेषताओं का ही उल्लेख किया जा सका है। अंतिम अध्याय में संक्षेप में ऐतिहासिक सामग्री के मूल्यांकन के आधुनिक दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हुये, ६ रचनाओं में प्राप्य ऐतिहासिक सामग्री का परीक्षण किया गया है। इन रचनाओं के सांस्कृतिक पक्ष पर विशेष प्रकाश डालने का यत्न किया गया है।

आवश्यकता का अनुभव कर, ग्रंथ के विषय को देखते हुये, प्रारम्भ में एक विस्तृत भूमिका दी गई है। इसमें डिंगल के नामकरण, काल-विभाजन, काल-क्रम तथा विषय के अनुसार कवि परिचय, हिन्दी से संबंध तथा तद्गत साहित्य को

हिन्दी में स्थान देने पर उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव—विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इन विषयों के परिचय तथा परिणाम की अपेक्षा को समझकर इन असंबद्ध विषयों का समावेश करना ही उचित समझा गया है।

विषय-सूची का विभाजन स्थूल शीर्षकों में ही किया गया है। छोटे शीर्षक जान-बूझकर नहीं दिये गये हैं। उनके स्थान पर ग्रंथ को अनुच्छेदों (Paragraph) में विभाजित कर दिया गया है। यह विभाजन पूज्य डा० साहब के 'हिन्दी भाषा का इतिहास' को ध्यान में रख कर किया गया है। विस्तृत आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक विवेचनों के लिये प्रकाशित ग्रंथों को ही आधार-स्वरूप रक्खा गया है। डिंगल को पठनीय बनाने के उद्देश्य से विशेष-लिपिचिह्नों को भी दे दिया गया है। डिंगल-साहित्य पर लिखित यह प्रथम ग्रंथ है। इस साहित्य पर शोध-कार्य करने वाले विद्यार्थियों के लिये यह ग्रंथ पथ-प्रदर्शक हो सकेगा, लेखक को आशा तथा विश्वास है।

वक्तव्य का अंत करने के पूर्व हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पूज्य गुरुवर डा० धीरेन्द्र वर्मा, एम० ए०, डी० लिट्० (पेरिस) के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन लेखक का सर्वप्रथम कर्तव्य है जिन्होंने कि आलोक-पुंज के सदृश व्यक्तिगत रूप में सतत मार्ग-निर्देश किया। इतिहास विभाग के अध्यक्ष, पूज्य डा० बनारसी प्रसाद सक्सेना के प्रति आभार प्रदर्शन करना लगभग उतना ही आवश्यक है, जिनके पथ-प्रदर्शन से छठे अध्याय को अपना रूप मिल सका। पूज्य डा० रामकुमार वर्मा, डा० माताप्रसाद गुप्त तथा हिन्दी-विभाग के अन्य आचार्यों के अतिरिक्त सर्व श्री डा० सुनीति-कुमार चटर्जी, डा० मोतीलाल मेनारिया, उदयराज उज्ज्वल, नरोत्तमदास स्वामी, अगरचन्द नाहटा, डा० सोमनाथ गुप्त, पं० विश्वेश्वर नाथ रेऊ, पं० नित्यानन्द शास्त्री, कविराव मोहनसिंह, डा० ब्रजनाथसिंह यादव तथा डा० बी० आर० शर्मा विशेष धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने कि सदैव आवश्यकता पड़ने पर लेखक को परामर्श तथा सहायता प्रदान की। इनके अतिरिक्त अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर, अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर, पुस्तक प्रकाश, जोधपुर, सुमेर पब्लिक लाइब्रेरी, जोधपुर, सरस्वती भवन, उदयपुर, पब्लिक लाइब्रेरी, भरतपुर, बंगाल हिन्दी मंडल, कलकत्ता, आर्यभाषा पुस्तकालय, वाराणसी, यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी, इलाहाबाद इत्यादि के प्रबंधकों के प्रति लेखक विशेषरूप से बाधित है जिनकी कृपा के बिना ग्रंथ की रूपरेखा ही निर्मित होना असंभव था। अंत में, उन विद्वानों का आभार स्वीकार करना लेखक अपना कर्तव्य समझता है जिनकी रचनाओं अथवा निबंधों से उसने लाभ उठाया है।

संकेताक्षर

अ०	अनुच्छेद (Paragraph)
अ० वि०	अष्टम विलास
अ० सं० पु० बी०	अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर
उ० रा० इ०	ओझा—उदयपुर राज्य का इतिहास
क० ना०	कवि नाम
के० प्र०	केहर प्रकाश
च० वि०	चतुर्थ विलास
छ० स०	छंद संख्या
छ० रा० जै०	छंद राव जैतसी
जे० ए० एस० बी०	जर्नल आव् एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल
जो० रा० इ०	जोधपुर राज्य का इतिहास
डि० वी०	डिंगल में वीर रस
डी० सी०	ए डेस्क्रिप्टिव कैटलाग आफ् दि वार्डिक एन्ड हिस्टारिकल मैनुस्क्रिप्ट्स
ढो० मा० दू०	ढोला मारू रा दूहा
तृ० वि०	तृतीय विकास
द० री० भा०	दयालदास री ख्यात भाग २
दो० सं०	दोहा संख्या
द्वि० वि०	द्वितीय विलास
न० वि०	नवम विलास
ना० प्र० प०	नागरी प्रचारिणी पत्रिका
नि० का०	निर्माण काल
प० वि०	पंचम विलास
पु० प्र० जो०	पुस्तक प्रकाश, जोधपुर

पु० सं०	पुस्तक संख्या
प्र० वि०	प्रथम विलास
प्र० रा० इ०	प्रतापगढ़ राज्य का इतिहास
प्र० हि० सा० स०	प्रथम हिन्दीसाहित्य सम्मेलन
पृ०	पृष्ठ
बाँ० ग्रं०	बाँकीदास ग्रंथावली
बी० रा० इ०	बीकानेर राज्य का इतिहास
भा०	भाग
भू०	भूमिका
म० य० प्र०	महाराणा यश प्रकाश—ठा० भूरसिंह शेखावत
मि० वि०	मिश्रबंधु विनोद
मु० नै० ख्या०	मुहणोत नैणसी की ख्यात
र० का०	रचना काल
र० रू० गी०	रघुनाथ रूपक गीतांरो
रा० जै० छं०	राव जैतसी री छंद
रा० दू०	नरोत्तमदास स्वामी—राजस्थान रा दूहा
रा० पिं०सा०	राजस्थान का पिंगल साहित्य
रा० भा०	राजस्थानी भाषा
रा० भा० सा०	राजस्थानी भाषा और साहित्य
रा० रू०	राजरूपक
रा० सा० रू०	राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा
रा० हि० ह० ग्रं० खो०	राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज—मेनारिया
व० रा० र० म०	वचनिका राठौड़ रतनसिंह जी री महेसदासोतरी
वि० छ० (या छि०)	विरद छहत्तरी (या छिहतरी)
वि० शि०	विरद शिणगार
वी० स०	वीर सतसई
ष० वि०	षष्ठ विलास
स० भ० उ०	सरस्वती भवन, उदयपुर
स० वि०	सप्तम विलास

सी० रा० एम०	कैटलाग आव् दि राजस्थानी मैनुस्क्रि-प्ट्स इन दि अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर
ह० र०	हरिरस
सू० का०	सूजनकाल
हा० झा० कुं०	हांला झालां रा कुंडलिया
हि० सा० आ० इ०	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

विशेष लिपि-चिन्ह

ष	=	ख
छ	=	छ
ञ	=	झ
ठ	=	ड
ल्ह	=	ल़
व़	=	V (अंग्रेजी)
स	=	श
रि	=	ऋ
ँ (चंद्र बिंदु)	=	ं (अनुस्वार)
: (विसर्ग)	=	आ (ह्रस्व)
ड०	=	ड़
ढ़ या ड़	=	ढ़
द़	=	ض (अरबी)

सूचना—इनका प्रयोग प्रायः हस्तलिखित पोथियों में मिलता है, किन्तु साथ ही इनके अपवाद भी मिलते हैं जो कि देवनागरी लिपि के प्रभाव के कारण प्रतीत होता है।

विषय-सूची

अध्याय—२

पृष्ठ

राजस्थान

माप १" = १०२ मील

पश्चिमी पाकिस्तान

नहर (घग्घर)

किशनगढ़

फलोदी

जैसलमेर

जोधपुर

नदी

लूनी

उमरकोट

जालोर

अहमदाबाद

कच्छ

सौराष्ट्र

पालनपुर

पाटन

अरब सागर

भूमिका

क. नामकरण

१—डिंगल के नामकरण की समस्या अद्यावधि विवाद का विषय है। अनेक विद्वानों ने वर्तमान शती ईसवी में इस विवादग्रस्त प्रश्न को अपने-अपने दृष्टिकोण से हल करने का प्रयत्न किया है किन्तु अभी तक इस संबंध में न तो वे किसी वैज्ञानिक निष्कर्ष पर पहुँचने में समर्थ हो सके हैं और न वे किसी परिणाम के सम्बन्ध में एकमत हो सके हैं। अतएव यहाँ इस जटिल समस्या से संबंधित प्रधान विचारकों के मतों का उल्लेख तथा उन मतों का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया जाता है।

२—डिंगल साहित्य की ओर ध्यान आकृष्ट करने का सर्वप्रथम श्रेय डा० हरप्रसाद शास्त्री को है। अतः सर्वप्रथम डिंगल नाम से संबंधित उनके मत[१] पर विचार करना वांछनीय है। शास्त्री जी के कथनानुसार प्रारम्भ में इसका नाम 'डगल' अर्थात् मिट्टी का ढेला था परन्तु अनन्तर पिंगल के साम्य पर इसका नाम डिंगल कर दिया गया था। अपने कथन की पुष्टि के लिये उन्होंने जोधपुर निवासी कविराजा मुरारिदान से प्राप्त हुये एक छंद का उद्धरण दिया है जिसका अपेक्षित अंश नीचे प्रस्तुत किया जाता है :—

दीसे जंगल डगल जेथ जल बगल चाँटे।
अनहुता गल दियै गला हुँता गल काटे[२] ॥

शास्त्री जी के अनुसार उपर्युक्त छन्द का रचना-काल विक्रम की १४ वीं शती है। इस छन्द के आधार पर उन्होंने परिणाम निकाला है कि जंगलदेश अर्थात् मरुदेश की भाषा डिंगल कहलाती थी। इसके अतिरिक्त यह भी कहा है कि डिंगल भाषा नहीं वरन् 'कविता की शैली'[३] है।

शास्त्री जी द्वारा उद्धृत छंदांश १७ वीं शती विक्रमी के कवि अल्लू जी चारण के छप्पय की प्रथम दो पंक्तियाँ हैं जिसका उल्लेख मोतीलाल मेनारिया ने भी

१—Preliminary Report on the Operation in Search of Manuscript of Bardic Chronicles, P. 15. 1913.

२—वही।

३—Journal and Proceedings of Asiatic Society of Bengal, Volume X, P. 375 पर की गई डा० एल० पी० टेसीटरी की आलोचना भी देखिये।

अपनी पुस्तक राजस्थानी भाषा और साहित्य में किया है। अपने शुद्ध रूप में पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

दीसै जंगल डगल जेथ जल वगलां चाढ़ै।
अणहूँतां गल दिये गला हूँता गल काढ़ै॥

अर्थात् जंगल में जहाँ मिट्टी के ढेले दृष्टिगत होते हैं, उनके आस पास चारों ओर पानी चढ़ आता है। ईश्वर जिनके पास नहीं है, उन्हें खाना देता है और जिनके पास है, उनके गले से भी भोजन निकाल लेता है।

कहने की अपेक्षा न होगी 'डगल' से डिंगल भाषा सम्बन्धी कोई ध्वनि नहीं निकलती। दूसरी आपत्तिजनक बात यह है कि डिंगल का भाषा और कविता की शैली होना सम्भव नहीं क्योंकि दोनों ही पृथक् एवम् विरोधात्मक हैं। अतः शास्त्री जी के मत द्वारा किसी परिणाम पर पहुँचना अनुचित तथा अनुपयुक्त है।[१]

३—डिंगल साहित्य के जीर्णोद्धार करने का सक्रिय उद्योग इटली के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० एल० पी० टेसीटरी का रहा है। उनके मतानुसार डिंगल केवल एक विशेषतासूचक शब्द है जिसका अर्थ अनियमित अथवा संभवतः अपरिष्कृत है। चारणों तथा राजपूताना के पंडितों द्वारा प्रस्तावित 'डगल' अथवा अन्य किसी काल्पनिक व्युत्पत्ति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं।[२]

डा० टेसीटरी के मत को स्वीकार करने में दो आपत्तियाँ हैं जिनकी ओर ध्यान देना पर्याप्त होगा। प्रथम, डा० टेसीटरी अपने मत के सम्बन्ध में स्वयं ही सन्देहास्पद कथन करते हैं और वह उनके सम्भवतः (Probably) शब्द से प्रकट है। द्वितीय, राजपूतों के सदृश स्वतंत्रता की उपासक जाति अपने साहित्य की भाषा को डा० टेसीटरी द्वारा कथित उपेक्षा एवम् अनादर सूचक शब्दों से अलंकृत करे, ऐसा सम्भव नहीं प्रतीत होता। ऐसी परिस्थिति में डा० टेसीटरी के मत को अंगीकार करना अनुचित तथा अनुपयुक्त है।[३]

१—राजस्थानी भा० सा०, पृ० १७-१८ पर की गई आलोचना भी देखिये।

२—The term Dingala which has nothing to do with 'Dagar' nor with any other of the fantastic etymologies proposed by the bards and Pandits of Rajputana, but is a mere adjective meaning probably 'irregular i.e. 'not in accordance with the standard poetry or probably 'vulgar'. Journal and Proceedings of Asiatic Society of Bengal, Vol. X, P. 376.

३—आलोचना के लिये मोती लाल मेनारिया कृत डिं० वी० र०, पृ० २-३ रा० सा० रू०, पृ० १७, अथवा रा० भा० सा०, पृ० १६-१७ भी देखिये।

४—तृतीय मत बीकानेर निवासी गजराज ओझा का है। ओझा जी का कथन है कि डिंगल 'ड' वर्ण प्रधान भाषा है। इसके नाम को 'यथा नामो तथा गुणः' अथवा 'यथा गुणः तथा नामः' के उद्देश्य से 'ड' की स्थापना की गई हो यह उचित जान पड़ता है। डिंगल नाम को केवल तुकान्त न कहकर इसके भाषा की विशेषता सूचक सूक्ष्म सार्थकतामय शब्द कह सकते हैं। 'ड' वर्ण के इस प्राधान्य को ही ध्यान में रखकर पिंगल के साम्य पर भाषा का नाम डिंगल रक्खा गया है।[1]

ओझा जी ने अपने 'डिंगल भाषा' नामक निबन्ध में डिंगल पद्य-साहित्य से सम्बन्धित अनेक अवतरण प्रस्तुत किये हैं किन्तु उन समस्त अवतरणों को भी आधार मान कर उनके द्वारा कहे गये परिणाम पर नहीं पहुँचा जा सकता। और वस्तुस्थिति तो यह है कि सम्पूर्ण डिंगल साहित्य में भी 'ड' वर्ण का प्राधान्य नहीं है। अतएव पुष्ट प्रमाण के अभाव में ओझा जी के मत को मान लेना आपत्तिजनक है।[2]

चतुर्थ मत बीकानेर के पुरुषोत्तम दास स्वामी का है। उन्होंने अपने निबन्ध 'राजस्थानी साहित्य और उसकी प्रगति'[3] में डिंगल नाम पर विचार करते हुये लिखा है कि 'डिंगल = डिम्+गल से बना है। डिम् का अर्थ डमरू की ध्वनि तथा गल से गले का तात्पर्य है। डमरू की ध्वनि रणचण्डी का आह्वान करती है तथा वीरों को उत्साहित करने वाली है। डमरू वीर रस के देवता महादेव का बाजा है। गले से निकल कर जो कविता डिम् डिम् की तरह वीरों के हृदयों को उत्साह से भर दे उसी को डिंगल कहते हैं। राजस्थानी साहित्य विशेषकर डिंगल साहित्य में वीर रस पूर्ण रचनाओं की अधिकता है अतः यही नाम हमें समुचित प्रतीत होता है। डमरू का भाषा-शास्त्र में बड़ा महत्व है। इसी से अ, इ, उ, ण, ऋ, लृ, क् आदि वर्णों की उत्पत्ति हुई है। डिंगल शब्द की सुन्दरता से आकृष्ट होकर सम्भवतः परवर्ती भाषा ब्रज का नाम पिंगल रख दिया गया हो'।

मेनारिया जी ने अपने ग्रन्थों[4] में स्वामी जी के डमरू 'वीर रस के देवता महादेव का बाजा है' वाक्य पर विशेष बल देकर सम्पूर्ण मत को निराधार प्रमाणित कर दिया है। वस्तुतः बात ऐसी नहीं प्रतीत होती। मेनारिया जी ने यदि 'वीर रस

१—ना० प्र० प०, भा० १४, अंक १, बैशाख संवत् १९९०, पृ० १२२-१४२।

२—आलोचना के लिये मोती लाल मेनारिया कृत पुस्तकों के पृ०, ४६, पृ० १९-२० अथवा पृ० १८ क्रमशः देखिये।

३—ना० प्र० प०, भाग १४, अंक १, वैशाख संवत् १९९० पृ० २५५।

४—देखिये डिं० वी० र०, पृ० ६, रा० सा० रू०, पृ० २०-२१, अथवा रा० भा० सा०, पृ० १९।

के स्थान पर 'रौद्र रस' रख कर सम्पूर्ण तर्क पर ध्यान दिया होता तो वे सत्य के अधिक निकट पहुँचने में समर्थ होते।

पुरुषोत्तम दास स्वामी के ऊपर उद्धृत अंश के दो वाक्य डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में विशेष महत्वपूर्ण हैं जो इस प्रकार हैं...'डिम का अर्थ डमरू की ध्वनि तथा गल से गले का तात्पर्य है'। 'गले से निकल कर जो कविता डिम् डिम् की तरह वीरों के हृदयों को उत्साह से भर दे उसी को डिंगल कहते हैं'। इन वाक्यों में सन्निहित भाव को अधिक स्पष्ट रूप में यों व्यक्त किया जा सकता है... डमरू की ध्वनि के सदृश झंकृत होकर जो कविता गले से उच्चारण की जाने पर वीरों को युद्ध करने की प्रेरणा तथा प्रोत्साहन प्रदान करे, वह डिंगल है। नामों के साथ धार्मिक कथाओं (आख्यानों) को जोड़ने की परम्परा भारतीय संस्कृति के आदि काल से पाई जाती है। वामन अवतार इस परम्परा का एक उदाहरण है।

हिन्दू धर्म के अनुसार महादेव सृष्टि के संहारकर्ता हैं। अतएव प्रलयंकारी शंकर का रुद्र का रूप धारण कर डमरू का नाद करना स्पष्टतया रणचण्डी के आह्वान करने का सांकेतिक है। इस प्रकार स्वामी जी का शुद्ध किया हुआ वाक्य 'डमरू रौद्ररस के देवता महादेव का बाजा है' पूर्ण रूप से सार्थक सिद्ध हो जाता है। इतना ही नहीं, रणभूमि में योद्धागण शंकर की जय के नारे लगाते थे और इसका उदाहरण बूंदी के सुप्रसिद्ध कवि सूर्यमल्ल मिश्रण की वीरसतसई (अपूर्ण) में उपलब्ध है[1]।

यह सब तो हुई स्वामी जी के मत के पक्ष की बात। उनके मत के विपक्ष में केवल यही कहा जा सकता है कि स्वामी जी ने उपर्युक्त परिणाम पर पहुँचने के आधार का उल्लेख नहीं किया। यदि स्वामी जी का मत केवल कल्पना की उपज समझा जाय तो भी यह कहना पड़ेगा कि वह उच्च कोटि की है तथा सारगर्भित भी।

६—पंचम मत जोधपुर निवासी उदयराज उज्ज्वल का है। 'डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति' पुस्तिका (Booklet) में उन्होंने अपने मत का प्रकाशन इस प्रकार किया है :—

'अतः डिंगल के कवि पिंगल को पांगुली (पंगु) भाषा कहते हैं। ठीक इसके विपरीत डिंगल का विशेष व्याकरण न होने से, अक्षरों के उच्चारण का भेद तथा यथार्थ प्रयोग आदि बन्धन प्रायः नहीं हैं और छन्दों का अधिक विस्तार न होने से, कवि की इच्छानुसार शब्दों का प्रयोग होता है, इस कारण उनकी घटत-बढ़त सरलता से हो सकती है। इसलिये चारण कवि डिंगल को उड़ने वाली भाषा अर्थात स्वतन्त्रता से (सुगमता से) चलने वाली (काम में आने वाली) भाषा मानते हैं।'

१—झूठे हाकै हुलसता, पीव बधाईदार।
जागौ सिव सांचौ कियौ, घूमै मैंगल वार ॥२२॥ वी० स० पृ० १५।

'मरु भाषा में' डींगल 'व' 'ढींगल' शब्द तो पुरातन काल से विद्यमान ही था। मिट्टी के बड़े बर्तन (बासन) के टूटने से जो उसका बड़ा भाग बेडौल आकार वाला रह जाता है, उसको 'डींगल' व 'ढींगल' (हि० ठीकरा) कहते हैं जिसका स्वरूप किसी उपाय व कारीगरी से सुडौल नहीं किया गया है। डिंगल भाषा भी मानों अपने उसी असली अनघड़ स्वरूप में है जिस पर व्याकरण आदि नियमों की कारीगरी प्राय: नहीं है, अर्थात् पिंगल की तुलना में बहुत कम है, यही डींगल शब्द डिंगल भाषा के शब्द की व्युत्पत्ति है।'

'मरु भाषा में डिंगल शब्द के जो निकटतम शब्द हैं उनसे भी इस अर्थ की पुष्टि होती है, यथा...

(१) डग=पक्षी की भुजा अर्थात् पाखें। ल=लिये हुये।

डगल=पाखें लिये हुये=पाखों वाली=उड़ने वाली अर्थात् स्वतन्त्रता से चलने वाली।

(२) डग=लम्बा कदम=तेज चाल। ल=लिये हुये।

डगल=तेज चाल वाली

(३) महामहोपाध्याय कविराज मुरारिदान जी (जोधपुर) इस डिंगल भाषा को 'डगल' ही कहा करते थे। 'ढगल' या 'डगल' मिट्टी के नैसर्गिक बने हुये ढेले को कहते हैं जिस पर मनुष्य की की हुई कारीगरी नहीं होती और जैसे मिट्टी के ढेले पर चित्रण सुगमता से यथेच्छा किया जा सकता है उसी प्रकार डिंगल भाषा के शब्दों का प्रयोग सुगमता से यथेच्छा हो सकता है जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है।

(४) डगल=ढीला, जिसके अंग या जोड़ दृढ़ता से गठे हुये नहीं होते, ढीले होते हैं उसको भी 'डगल' या 'डगलो' या 'डगला' कहते हैं। डिंगल भाषा भी पिंगल के समान नियमों से सुगठित नहीं है।

(५) डगल व डगलो=रुई से भरे हुये आतमसुख या फुलगर के समान सब शरीर को ढक देवे जैसा पहिनने का वस्त्र होता है जो शीत काल में पहिना जाता है। छाती के पास एक कसने से बाँधा जाता है। यह ढीला होने से 'डगल', 'डगलो', या 'डगला' कहलाता है जो शरीर की चलने फिरने व मुड़ने के स्वतन्त्रता को नहीं रोकता, इसी प्रकार डिंगल भाषा में कवि की गति स्वतन्त्र रहती है।'

ऊपर के अवतरण से प्रकट है कि उज्ज्वल जी ने डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति से संबद्ध दो शब्दों पर विशेष बल दिया है। एक है 'डगल' और दूसरा है 'डींगल' या 'ढींगल'। भाषा विज्ञान की दृष्टि से 'डगल' शब्द का डिंगल बनना असम्भव है। स्वरागम के नियमानुसार डगल का डिगल तथा अकारण अनुनासिकता के परिणाम स्वरूप 'डिगल' का डिंगल हो सकता है। किन्तु वास्तव में डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति डगल से हुई है, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।

उज्ज्वल जी ने 'डगल' शब्द का अर्थ करने में बड़ी खींच तान की है। इतना ही नहीं, अपने मत को प्रमाणित करने के लिये डिंगल साहित्य से सम्बन्धित कुछ ऐसी बातें भी कही हैं जो डिंगल साहित्य से अनभिज्ञ व्यक्ति को भ्रम में डाल सकती हैं। वस्तुतः डिंगल भाषा का समुचित व्याकरण उपलब्ध है[१]। अक्षरों के उच्चारण भेद पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है[२]। छन्दों का पर्याप्त विस्तार है जो यदि अधिक नहीं तो कम भी नहीं कहा जा सकता[३]। और जहाँ तक कवि का इच्छानुसार शब्दों के प्रयोग करने का सम्बन्ध है वह तो प्रत्येक भाषा के कवि का जन्मसिद्ध अधिकार-सा है। कवि आचार्यों द्वारा आरोपित अंकुशों के मानने अथवा न मानने के लिये बाध्य नहीं।

लक्षणा शब्द शक्ति के आधार पर 'डींगल' अथवा 'ढींगल' का अर्थ अनगढ़ स्वरूप लेकर भी उज्ज्वल जी ने अपने मत को पुष्ट करने में खींचा तानी की है। इसके अतिरिक्त कला पक्ष को लेकर यह भी बताने का प्रयास किया है कि डिंगल भाषा पर व्याकरण आदि नियमों की कारीगरी नहीं है। इस प्रसंग में कदाचित् कहने की आवश्यकता न होगी कि साहित्य की परख रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा अलंकार के द्वारा की जाती है न कि व्याकरण के नियमों की कारीगरी देखकर।

इतना सब होने पर भी उज्ज्वल जी ने डिंगल के निकट के जिन शब्दों का उल्लेख किया है उनसे उनकी विवेचनात्मक बुद्धि एवम् सृजनात्मक कार्य करने की प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय मिलता है।

७—षष्ठम मत डा० सुनीति कुमार चैटर्जी का है। उनके विचारानुसार डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति 'डूंगर' शब्द से हुई है। राजस्थानी में डूंगर शब्द का अर्थ पर्वत या पहाड़ी है। अतएव डिंगल का अर्थ संभवतः पर्वतीय प्रदेश की भाषा होगा। डूंगर शब्द के अनेक रूप अन्य भारतीय आर्य भाषाओं में भी पाये जाते हैं। 'डंग', 'डिंग' और 'डुंग' इसके तीन विभिन्न रूप हैं। डिंगल शब्द स्पष्टतया पिंगल के साम्य पर बनाया गया है जो कि राजस्थान में सदैव प्रचलित रही है। यहाँ पर यह भी कह देना आवश्यक है कि डा० चैटर्जी अपने मत के सम्बन्ध में अनिश्चित हैं[४]।

१—मारवाड़ी व्याकरण, ना० प्र० प०, भा० १४, अंक १, पृ० १३८-१७१, वे० क्रि० रु० तथा ढो० मा० दू० भू० क्रमशः पृ० ११०-१८ और १४०-६५ आदि।

२—मारवाड़ी व्याकरण, किशोर सिंह बार्हस्पत्य द्वारा अनूदित तथा संपादित हरिरस की भूमिका, रा० दू० (भू०) पृ० २-३।

३—र० रू० गी०।

४—लेखक को लिखा गया डा० सुनीति कुमार चैटर्जी का पत्र दिनांक २५ मार्च, ५३ ई०।

अतः उनके विचार की व्याख्या करना अनुचित है।

८—इसी प्रकार कुछ अन्य मत भी डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति तथा नामकरण से सम्बन्धित हैं जिनका उल्लेख पं० मोती लाल मेनारिया ने अपने ग्रंथों[1] में किया है।

९—वर्तमान समय में राजस्थान में प्रचलित मत के अनुसार डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति 'डींग' से मानी जा रही है। मेनारिया जी भी इसी मत को स्वीकार करते हैं। उन्होंने लिखा है 'यथार्थतः डिंगल शब्द डींगल का परिवर्त्तित रूप है'। 'यह एक अनुकरणात्मक शब्द है जो शीतल, बोझल, धूमल आदि शब्दों के अनुकरण पर डिंगल साहित्य में वर्णित अत्युक्ति पूर्ण वृत्तों को ध्यान में रखकर उसकी इस विशेषता के द्योतनार्थ गढ़ लिखा गया है। इसकी उत्पत्ति 'डींग' शब्द के साथ 'ल' प्रत्यय जोड़ने से हुई है और इसका अर्थ है डींग से युक्त अर्थात् अतिरंजना पूर्ण'[2]।

मेनारिया जी द्वारा उल्लेख किये गये शब्दों में 'बोझल' और 'धूमल' अपने शुद्ध रूप में 'बोझिल' और 'धूमिल' होने चाहिये। ये वर्तमान युग में निर्मित खड़ी बोली के शब्द हैं। डिंगल अपेक्षाकृत प्राचीन नाम है। और इन शब्दों में केवल 'ल' प्रत्यय नहीं, वरन् 'इल' प्रत्यय है। शेष शीतल शब्द संस्कृत भाषा का है। किन्तु केवल 'शीतल शब्द के आधार पर 'डींगल' का अनुकरण[3] किया गया हो, ऐसी कल्पना करना कुछ बहुत समीचीन नहीं जान पड़ता। डिंगल साहित्य में वर्णित अत्युक्ति पूर्ण वृत्त[4] साहित्य में चमत्कार लाने का परिचायक है। इस प्रकार के अत्युक्ति पूर्ण वृत्त तो प्रायः प्रत्येक साहित्य में किसी न किसी रूप में मिलते हैं किन्तु प्रत्येक साहित्य को 'डींगल' कहना तो उचित नहीं।

'डींगल' शब्द से साम्य दिखाने के लिये मेनारिया जी ने डिंगल साहित्य में उपलब्ध 'ल' प्रत्यय युक्त 'दागल'[5], 'अणदागल'[6] तथा 'काटल'[7] शब्दों की

१—डिं० वी० र० पृ० ६, ८, रा० भा० सा०, पृ० २०, अथवा रा० सा० रू० पृ० २१।

२—रा० भा० और सा० पृ० २०, २२।

३—अनुकरण वस्तुतः शब्द साम्य का सूचक है।

४—अत्युक्ति पूर्ण वृत्त में शैली का भाव सन्निहित है।

५—दाग से युक्त।

६—दाग से रहित।

७—मोर्चा से युक्त (Rusted)।

ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है। कदाचित तर्क को अधिक सशक्त एवम् सार्थक बनाने के लिये उपयुक्त यही होता कि वे 'शीतल', 'बोझल' और 'धूमल' के स्थान पर 'दागल', 'अणदागल' तथा 'काटल' शब्दों का उल्लेख करते। आगे चलकर उन्होंने यह भी कहा है कि अत्युक्ति के भाव के साथ दुरूहता एवम् अनगढ़ता के भाव भी डिंगल शब्द के साथ लिपटे हुये हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण तर्क को संश्लिष्ट रूप में देखने पर विदित होता है कि मेनारिया जी का मत वस्तुतः पूर्व प्रचलित प्रमुख मतों को लेकर समन्वय करने अथवा मध्यस्थ मार्ग निकालने का सुन्दर प्रयास है।

१०—इसमें सन्देह नहीं कि डिंगल शब्द की व्युत्पति एवम् नामकरण से सम्बन्धित विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रतिपादित जिन मतों का उल्लेख किया गया है उनका अपना विशिष्ट महत्व है किन्तु मेरे विचार से पुष्ट प्रमाणों के अभाव में किसी भी मत को सत्य मान लेना न्यायसंगत न होगा। और जब तक किसी मत का प्रतिपादन अकाट्य तर्कों एवम् निःसंशयात्मक प्रमाणों द्वारा नहीं किया जाता उस समय तक इस वादविवाद को स्थगित रखना चाहिये और यों समझना चाहिये कि डिंगल संज्ञा बिना किसी विशिष्टता को परिलक्षित करके दी गई है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि नवजात शिशु का नामकरण संस्कार उसके गुणों तथा दुर्गुणों के पल्लवित एवम् पुष्पित हुये बिना ही कर दिया जाता है।

ख. काल-विभाजन

११—डिंगल साहित्य के विद्वानों ने डिंगल साहित्य का विभाजन अपने-अपने दृष्टिकोण से पृथक्-पृथक् किया है। इस सम्बन्ध में प्रमुख विद्वानों के मतों का उल्लेख नीचे किया जाता है :—

डा० एल० पी० टेसीटरी के अनुसार डिंगल की दो अवस्थायें (stages) हैं:—

(१) प्राचीन डिंगल सन् १३०० ई० से १६०० ई० तक।

(२) अर्वाचीन डिंगल सन् १६०१ ई० से आधुनिक समय तक।[1]

गजराज ओझा ने डिंगल साहित्य को निम्नलिखित कालों में विभक्त किया है :—

(१) आरम्भ काल...संवत् १००० वि० से १४०० वि० तक

(२) मध्य काल...संवत् १४०१ वि० से १८०० वि० तक

(३) उत्तर काल...संवत् १८०१ वि० से आज तक।[2]

१—व० रा० र० भ०, भू० पृ० ४।

२—ना० प्र० प०, भा० १४, अंक १, पृ० १८, १९।

पुरुषोत्तम दास स्वामी के अनुसार डिंगल साहित्य का काल विभाजन निम्नांकित है :—

(१) प्राचीन राजस्थानी...संवत् १००० वि० से १६०० वि० तक
(२) माध्यमिक ,, ... ,, १६०० ,, ,, १६०० वि० तक
(३) आधुनिक ,, ... ,, १६०१ ,, ,, वर्तमान समय तक।[1]

मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थानी भाषा और साहित्य के क्रमिक विकास को ध्यान में रखकर निम्न प्रकार से काल विभाजन किया है :—

(१) प्रारम्भ काल सं० १०४५...१४६० वि०
(२) पूर्व मध्य काल सं० १४६०...१७०० वि०
(३) उत्तर मध्य काल सं० १७००...१६०० वि०
(४) आधुनिक काल सं० १६००...२००५ वि०।[2]

१२—ऊपर जिन मतों का उल्लेख किया गया है उनमें सर्वाधिक वैज्ञानिक मत डा० टेसीटरी का प्रतीत होता है, कारण १३ वीं शती ई० के पूर्व देश-भाषायें अपभ्रंश के प्रभाव से अपने को पूर्णतया मुक्त न कर सकी थीं, अतएव इस सम्बन्ध में डिंगल के लिये किसी प्रकार का अपवाद समझने का कोई कारण नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि १३ वीं शती ई० के उपरान्त डिगल भाषा में निश्चित रूप में रचनायें होने लगी थीं। यद्यपि पुस्तक के रूप में अभी तक १४ वीं शती ई० की कोई रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है किन्तु स्फुट पदों के रूप में दोहे, छप्पय आदि उपलब्ध होते हैं। अतएव मेरे विचार से डिंगल साहित्य का काल-विभाजन इस प्रकार होना चाहिये :—

(१) प्राचीन काल लगभग १३०० ई० से १६५० ई० तक
(२) मध्य काल लगभग १६५० ई० से १८५० ई० तक
(३) आधुनिक काल लगभग १८५० ई० से आज तक।

ग. संक्षिप्त इतिहास

१—प्राचीन काल

(लगभग १३०० ई० से १६५० ई० पर्यन्त)

१३—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार जनता की परिवर्तनशील चित्त-वृत्तियों की परम्परा को परखते हुये साहित्य परम्परा के साथ उनका सामञ्जस्य

१—ना० प्र० प०, भाग १४, अंक १, पृ० २२४-२३५।
२—रा० भा० सा०, पृ० ७७।

दिखाना ही "साहित्य का इतिहास" कहलाता है।[1] अतएव डिंगल साहित्य का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करते समय इस विशिष्ट दृष्टिकोण को भी ध्यान में रक्खा जायगा। जनता की मनोवृत्ति के प्रस्फुटन का आधार किसी देश की संस्कृति होती है और डिंगल साहित्य के अभ्युदय एवम् विकास में भी तत्कालीन राजस्थान की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा गौण रूप में दार्शनिक परिस्थितियों का अपना-अपना सहयोग था। समसामयिक विशेष वातावरण के अनुकूल ही वहाँ की रचनाओं का सृजन हुआ जिन्हें हम सुविधा के लिये नीचे उल्लेख किये गये ढंग से विभाजित कर सकते हैं :—

(१) प्रशंसात्मक काव्य
(२) वीर काव्य
(३) भक्ति काव्य
(४) शृंगारिक काव्य
(५) इतर काव्य

(१) प्रशंसात्मक काव्य

१४—कहने की आवश्यकता न होगी कि डिंगल साहित्य का सृजन करने वाले चारण और भाट रहे हैं जिनका प्रमुख कार्य अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करना रहा है। यही विशेष कारण है कि इस युग में प्रशंसात्मक काव्य की प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सका है। विशेष उत्सवों में, पर्वों अथवा युद्ध के अवसरों में ये कवि राजा-महाराजाओं की विरुदावली का गान किया करते थे जिन्हें सुनकर अधिकतर काव्य-नायक हर्षोत्फुल्ल हो जाते थे और काव्य-कर्त्ता को लाख-पसाव अथवा क्रोड़ पसाव[2] पुरस्कार-स्वरूप दान करते थे। राजस्थान में इस प्रकार के काव्य को 'सर' संज्ञा दी गई है। 'सर' अथवा प्रशंसात्मक रचना को स्पष्ट करने के विचार से नीचे एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है :—

१—शुक्ल...हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १।

२—'पसाव' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के शब्द 'प्रसाद' से हुई है। वर्तमान समय में तो इस प्रकार के पुरस्कार प्रदान करने की प्रथा धनाभाव के कारण बन्द हो गई किन्तु इनसे तत्कालीन राजा महाराजाओं की सहृदयता एवम् उदारता, कविता के मूल्य तथा कवि की प्रतिभा और प्रतिष्ठा का वास्तविक परिचय मिलता है। इस प्रकार के पुरस्कार प्रधानतया तीन श्रेणियों में विभक्त थे। लाख पसाव साधारण, क्रोडपसाव श्रेष्ठतर तथा अड़वसाव विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न कवि को दिया जाता था। ये 'पसाव' सम्पूर्ण रुपयों के रूप में नहीं होता था वरन् हजार दो हजार रूपया तथा शेष अश्व, गज तथा भूमि के रूप में होता था।

विभीषण कूं वारिधि तट, मेंटे वो एक राम ।
अब मिलग्या अजमेर में, दुरसा कूं बेराम ॥[१]

अर्थात् बैरमखाँ दुरसा जी के द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ था और उन्हें पुरस्कार-स्वरूप एक लाख रुपये प्रदान किये थे।

इसके विपरीत निंदात्मक कविता को 'विसर' कहा जाता है। डिंगल साहित्य में इस प्रकार के उदाहरण भी यत्र-तत्र देखने में आते हैं। यथा :—

अकबर गरब न आण, हींदू सह चाकर हुआ ।
दीठो कोई दिवांण, करतो लटका कटहड़ै ॥[२]

यहाँ महाराणा प्रताप की तुलना में अकबर को नीचा दिखाया गया है।

ये रचनायें, जैसा संकेत किया जा चुका है, विभिन्न अवसरों पर की जाती थीं जिसका सहज परिणाम यह हुआ कि ये स्फुट काव्य के रूप में प्रकाश में आईं।

डा० टेसीटरी के अनुसार 'साखरी कविताओं' अथवा साह्य-संबंधी गीतों के संग्रह 'राजपूताना में बहुत हैं और आज भी उनका अभाव नहीं है। संग्रहों में निस्संदेह उनकी संख्या सैकड़ों तथा हजारों में थी। साहित्यिक मूल्य, जो कि अधिकांश में पर्याप्त होता है, के अतिरिक्त इन साह्य-संबंधी गीतों का विशेष महत्व होता है क्योंकि ये मध्ययुगीय राजपूत जीवन पर अच्छा प्रकाश डालते हैं और इतिहास-लेखकों को सहायता पहुँचाते हैं...विशेषतया जब कि कविता किसी समकालीन कवि द्वारा रची होती है।[३]

इसमें संदेह नहीं कि स्फुट कविताओं के अतिरिक्त प्रशंसात्मक काव्य ग्रंथ भी लिखे गये किन्तु इनकी संख्या अल्प है।

इस युग के प्रशंसात्मक काव्य रचयिताओं में समय क्रमानुसार चित्तौड़ का सौदा बारहठ बारू जी (र० का० सन् १३७४ ई०)[४], बारहठ चौहथ या चौथ (सन् १४३८...१५०४ ई०)[५], हरिदास केसरिया (सन् १५०४...१५२७ ई० के आसपास

१—रा० भा० सा० पृ० १३५।

२—वि० छं० पृ० १।

३—डी० सी०, से० २, बी० पी, पा० १ बी० पृ० ३।

४—मु० नै० ख्या०, भा० १ पृ० २२। म० य० प्र०, पृ० १९। रा० भा० सा०, पृ० १४४। रा० सा० रू०, पृ० २।

५—द० ख्या०, भा० २ पृ० १२५, १२८, २५३। बी० रा० इ०, भा० १, पृ० ६४, २१२। डी० सी०, से० २ बी० पी० भा० १ बी०, पृ० १२, २२, ४६, ६६। रा० भा० सा०, पृ० १४४। रा० दू० (प्र०), पृ० ३८। बी० एच० एस० आर०, १९१७, वा० १३ पृ० २३३। म० य० प्र०, पृ० ८३।

जीवित होना पाया जाता है)[१], सौदा बारहठ जमणा जी (सन् १५६५...१५८४ ई० में जीवित होना पाया जाता है)[२], गोरधन जी बोगसा (सन् १५७१...१५६६ ई० के आसपास जीवित होने का उल्लेख मिलता है)[३], पीथा जी आसिया (सन् १५७१...६६ ई० के लगभग जीवित होने का संकेत मिलता है)[४], महाराज पृथ्वीराज राठौड़ (सन् १५४६...१६०० ई०)[९] सूरायच टाप्या या टापरिया (सन् १५७१...६६ ई० के जीवित होने का संकेत मिलता है)[५], जयपुर-नरेश महाराजा मानसिंह (सन् १५६६...१६१४ ई० र० का०)[६], दुरसा जी आढ़ा (सन् १५३५... १६५५ ई०), भल्ला जी गांघल्यां (तन् १६१६...२७ ई० के आसपास जीवित होने का संकेत मिलता है)[७], केशवदास गाडण (सन् १५५३...१६४० ई०), गोविंद जी बारहठ (सन् १६२७...५२ ई० के आसपास जीवित होने का संकेत मिलता है)[८] तथा हरिदास भाट उल्लेखनीय हैं।

केशवदास गाडण को छोड़कर लगभग समस्त कवियों द्वारा रची स्फुट कवितायें मिलती हैं किन्तु केवल स्फुट रचनायें प्राप्त होने वाले कवियों के जीवन से संबंधित निश्चित इतिवृत्त का प्रायः अभाव-सा है। काव्य ग्रंथ निर्माण करने वालों में पृथ्वीराज राठौड़, दुरसा जी आढ़ा, केशवदास गाडण तथा हरिदास भाट हैं। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

१५—महाराज पृथ्वीराज राठौड़ का जन्म सन् १५४६ ई० में हुआ था।[९] इनके पितामह राव जैतसी तथा पिता राव कल्याणमल, बीकानेर-नरेश थे। रायसिंह इनके ज्येष्ठ तथा रामसिंह कनिष्ठ भ्राता थे। प्रथम पत्नी लालादे की मृत्यु के उपरान्त इन्होंने चंपादे से विवाह किया था। इनकी दोनों स्त्रियाँ जैसलमेर के राजा

१—म० य० प्र०, पृ० ५८, ६०।

२—उ० रा० इ०, भा० १, पृ० ३८१-२। म० य० प्र०, पृ० १६, २१। रा० भा० सा० पृ० १४४।

३—म० य० प्र०, पृ० ८३।

४—वही, पृ० ८६।

५—वही, पृ० १२१। प्र० हि० सा० स० (का० वि०). भा० २, पृ० ८२। रा० दू० (क० ना०), पृ० ९८।

६—वही, पृ० १२४। रा० भा० सा०, पृ० १४४। रा० दू० (क० ना०), पृ० १८।

७—वही, पृ० १५१।

८—वही, पृ० १५४।

९—रा० भा० सा०, पृ० १२१, वे० कि० रु०, पृ० १५।

रावल हरराज की पुत्रियाँ थीं। चंपादे अत्यन्त सुन्दरी थी जिसकी प्रशंसा पृथ्वीराज ने स्वयं की है :—

चंपा पगला च्यार, सामां दीजै साजना।
हीडलती गल हार, हित साचै हरराज री ॥

पृथ्वीराज की मृत्यु सन् सन् १६०० ई० में हुई थी। इस अवसर पर अकबर ने निम्नलिखित दोहा कहा था।

पीथल सूं मजलिस गई, तानसेन सूं राग।
रीझ बोल हंसि खेलबो, गयोबीरबर साथ ॥

प्रकट है, कि अकबर पृथ्वीराज को आदर की दृष्टि से देखता था।

महाराज पृथ्वीराज ने महाराणा प्रतापसिंह, अपने अनुज रामसिंह, जैमलजी मेड़तिया, कल्याण सिंह जी रायमालोत, भोजराज जी रूपावत तथा भीमसिंह जी रूपावत की प्रशंसा में स्फुट छंद रचे हैं। शृंगार रस प्रधान वेलिक्रिसन रुकमणी री तथा भक्ति रस से ओत प्रोत दसम भागवत रा दूहा,[1] गंगा लहरी, दसरथ रावउत एवं वसुदेरावउत इनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं।

कवि होने के साथ-साथ पृथ्वीराज उच्चकोटि के भक्त एवं वीर भी थे। नाभादास ने अपने भक्तमाल में इनकी गणना पहुँचे हुये भक्तों की श्रेणी में की है:—

'वरदेद औ भाषा निपुन पृथीराज कविराज हुव।
सवैया गीत श्लोक, वेलि दोहा गुण नव रस।
पिंगल काव्य प्रमाण विविध विध गायो हर जस ॥
परिदुख विदुख सलाध्य वचन रसना जु उच्चारे।
अर्थ विचित्रन मोल, सबै सागर उद्धारै ॥
रुकमिनी लता बरनन अनुप, वागीस वदन कल्याण सुव।
नरदेव उभै भाषा निपुन, प्रथीराज कविराज हुव ॥[2]

अहमद नगर के युद्ध में पृथ्वीराज अकबर की सेना के अध्यक्ष होकर गये थे और संग्राम में विजय प्राप्त किया था जिसके परिणाम स्वरूप अकबर ने इन्हें गाग-रीनगढ़ पुरस्कार रूप में प्रदान किया था। इसका उल्लेख मुहणोत नैणसी की ख्यात में है।[3]

१—स० म० उ० में एक प्रति है (अप्र०)।

२—श्री भक्तमाल सटीक, वार्तिक प्रकाशयुक्त, श्री अयोध्या जी प्रमोदवन कुटिया निवासी सीताराम शरण भगवान प्रसाद विरचित, पृ० ७८१-४ प्रथम वार सन् १९१३ ई०।

३—मु० नै० ख्या प्रथम भाग, पृ० १८८।

कर्नल टाड ने अपने 'राजस्थान' में लिखा है कि 'पृथ्वीराज अपने युग के सांमतों में एक श्रेष्ठ वीर थे और पश्चिमीय ट्रुबेदार राजकुमारों की भाँति अपनी ओजस्विनी कविता के द्वारा किसी कार्य का पक्ष उन्नत कर सकते थे और स्वयं तलवार लेकर लड़ भी सकते थे। इतना ही नहीं राजपूताने के कवि समुदाय ने एक स्वर से गुणिता का सेहरा भी इन्हीं वीर राठौड़ के सिर पर बाँधा था'[१]।

ऊपर के अवतरण में पृथ्वीराज की अनेक-मुखी प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है। वस्तुतः वे अपने युग के राजस्थान के प्रतिनिधि कवि ही नहीं वरन् महान् व्यक्ति भी थे।

१६—दुरसा जी आढ़ा[२] का जन्म सन् १५३५ ई० में जोधपुर के धुंधला ग्राम में हुआ था। इनके पितामह का नाम अमरा जी तथा पिता का नाम मेहा जी था। बचपन में ही माता-पिता की मृत्यु हो जाने के कारण ये अनाथ हो गये थे। इनका पालन-पोषण बगड़ी ग्राम के प्रताप सिंह नामक ठाकुर ने किया था। वयस्क होने पर ये उसी के यहाँ नौकर हो गये थे। इन्होंने दो ब्याह किये थे। इनके चार पुत्र थे १—भारमल जी, २—जगमल जी, ३—सार्दूल जी और ४—किसना जी। ये अधिकतर किसना जी के साथ रहते थे। इनकी मृत्यु सन् १६५५ ई० में लगभग १२० वर्ष की अवस्था में पांचेटिया ग्राम में हुई थी।

दुरसा जी अपने युग के सम्मानप्राप्त, प्रसिद्ध तथा जन-प्रिय कवि थे। इनकी ख्याति के कारण ही कदाचित् राजस्थान में इनके जीवन से संबद्ध अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं जिन में से चार दंतकथाओं[३] का उल्लेख डा० मेनारिया ने किया है। इनकी लोक-प्रियता का प्रमुख कारण स्वतंत्रता की बलिवेदी पर अपना सर्वस्व न्योछावर करने वाले इतिहास प्रसिद्ध स्वाधीनता प्रेमी महाराणा प्रताप की वीरता की गान करना है। इन्होंने महाराणा श्री अमर सिंह (शासन-काल सन् १५९६-१६१९ ई०) की प्रशंसा में भी वीरगीत[४] लिखे हैं। दुरसा जी कृत अनेक दोहे, गीत तथा कवित्त उपलब्ध होते हैं जो कि इनकी वीरोपासना के परिचायक हैं। इन बिखरी

१—Anuals & Antiquities of Rajasthan, P. 289, Vol. I 1873.

२—मु० नै० ख्या० भा० १ पृ० ७०, १३३, १५१। द० ख्या० भाग २ पृ० १४०। उ० रा० इ० भा० १ पृ० ४६७, ९। बी० एच० एस० आर० १९१७ वा० १३ पृ० २५१। डी० सी० से० २ बी० पी० भा० १, बी० पृ० १८, १९, २०, २२, २३, ६३, ६६ प्र० हिं० सा० स० दू० भा० पृ० ८२। रा० दू० प्र० पृ० ४४, ४५। म० य० प्र० पृ० ९८, १२०, १३७, ८, १४४, १४६। डिं० वी० पृ० ४२। रा० सा० र० पृ० ५३,५७। रा० भा० सा० पृ० १३४, ४०।

३—रा० भा० सा० पृ० १३४-३९।

४—म० य० प्र० पृ० १३९-५०।

हुई स्फुट कविताओं के संकलन की आवश्यकता है। दुरसा जीं केवल वीरोपासक ही नहीं थे। ये स्वयं भी वीर थे तथा युद्धों में भाग लेते थे।[१] इनकी कविताओं में वीर रस की जो सप्राण और वास्तविक अभिव्यंजना लक्षणीय है उसका मूलोद्गम यहीं है।

दुरसा जी की लोकप्रियता का प्रतीक इनकी रचना विरुद छिहत्तरी है जो कि महाराणा प्रताप से संबंधित है। इसके अतिरिक्त इनके निर्मित दो ग्रन्थ—किरतार-बावनी और श्री कुमार अज्जा जीनी भूचरमोरीनी गजगत, कहे जाते हैं किन्तु इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

१७—केशवदास गाडण[२] का जन्म सन् १५५३ ई० में जोधपुर राज्य के चिड़िया ग्राम में हुआ था।[३] ये सदमाल गाडण के पुत्र थे। इनकी विशेषता यह थी कि साधु-संतों की भाँति रहते हुये भी ये कौटुम्बिक जीवन व्यतीत करते थे। इनके आश्रयदाता जोधपुर राज्य के महाराजा गजसिंह थे जिनकी प्रशंसा में इन्होंने 'गुण रूपक' अथवा 'गुण रूपक बंध' नाम का एक बृहद् ग्रंथ रचा है। यह एक सुयोग्य, गुणवान तथा ख्याति-प्राप्ति कवि थे। तत्सम्बन्धी परिचयात्मक बानगी हमें इनके समकालीन कविसम्राट पृथ्वीराज राठौड़ के निम्नलिखित शब्दों में मिलती है—

कैसो गोरखनाथ कवि, चेलो कियो चकार।
सिध रूपी रहता सबद, गाडण गुण भंडार॥[४]

'गोरखनाथ जीरा छंद'[५] का सृजन कर केशवदास गाडण ने गोरखनाथ के प्रति अपनी श्रद्धा एवं भक्ति का प्रदर्शन किया है। इस रचना के आधार पर यह सहज परिणाम निकाला जा सकता है कि ये उनसे प्रभावित थे। असंभव नहीं कि इन्होंने नाथ-संप्रदाय में दीक्षा ग्रहण की हो।

नागौड़ के राव अमर सिंह के वीरत्व की सराहना केशवदास गाडण ने 'राव अमर सिंह जी रा दूहा' में किया है जिससे कि वीरों के प्रति इनका आदर-भाव दृष्टिगत होता है। 'विवेक वार्ता' तथा 'विवेक बार री नीसाणी' इनके[६] अन्य ग्रंथ

१—रा० भा० सा०, पृ० १३८-६।

२—डी० सी०, से० २, बी० पी०, पार्ट १ बी०, पृ० १,६,१६,२७। प्र० हि० सा० स० (कार्य विवरण), भाग २ पृ० ८२। ह० हि० पु० सं० वि० पहला भाग प० २६, ३३। उ० रा० इ०, भाग १ पृ० ४३२।

३—रा० भा० सा०, पृ० ११६।

४—वही।

५-६—दोनों रचनाओं की प्रतियाँ अ० स० पु० वी० में उपलब्ध हैं।

कहे जाते हैं। गज गुण रूपक एक इतर ग्रंथ इनका निर्मित कहा जाता है किन्तु उसकी कोई प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। इनकी समस्त रचनायें अप्रकाशित हैं।

८७ वर्ष की आयु में सन् १६४० में केशवदास गाडण की जीवन-लीला का अंत हुआ था।[१]

१८—हरिदास भाट[२] का जीवनवृत्त सम्बन्धी विवरण नितांत अंधकारमय है। केवल सन् १६४३ ई० के लगभग इनके जीवित होने की सूचना मिलती है।[३] अतएव स्थूल ढंग से इनका समय १७ वीं शती ईसवी कहा जा सकता है। 'अजीत सिंह चरित्र' तथा 'राव अमर सिंह गज सिंघौत रा रूपक सवैया'[४] इनकी बनाई हुई दो श्रेष्ठ रचनायें हैं किन्तु ये अप्रकाशित हैं।

(२) वीर-काव्य

१९. भारतवर्ष में सुलतान साम्राज्य की स्थापना सन् १२४० ई० में गयासुद्दीन बलबन के समय से लगभग स्थायी रूप से हो गई थी। परस्पर वैमनस्य, फूट और कलह होने पर भी विभिन्न जातियाँ मुसलमानों के अधीनता की बेड़ियों को काट कर अपने को मुक्त करने के प्रयास में दत्तचित्त थीं। स्वाधीनता-संग्राम की बलिबेदी पर न्योछावर होनेवाली जातियों में राजपूत जाति को प्रमुख स्थान प्राप्त है। महाराणा प्रताप जैसे स्वाभिमानी एवं स्वदेश-प्रेमी वीरों ने मुगल सम्राटों के अनुशासन में रहकर आत्म-सम्मान से हाथ धोने की अपेक्षा जंगलों भटककर एवं लड़ कर प्राणों की आहुति देना ही अधिक श्रेयस्कर समझा। इसके अतिरिक्त ऐसे भी वीर हुये जिन्होंने विदेशी शासकों की छत्र-छाया में रहकर अपने भाइयों के ही रक्त से जन्म-भूमि को कलुषित कर मुसलमानों को गौरवान्वित करने में अपनी कुशल समझा! राजस्थान के चारणों तथा भाटों ने बिना भेद-भाव के दोनों कोटि के वीरों को काव्य के आवरण से अलंकृत कर अमरत्व का बरदान दिया। इसी काव्य की सुन्दरता से अभिभूत होकर रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने कहा था कि 'भक्ति रस का काव्य तो भारतवर्ष

१—रा० भा० सा०, पृ० १२०।

२—डी० सी० से० २ बी० पी० पार्ट १ वी० पृ० ६२। डि० वी० (मू०) पृ० ४४। रा० भा० रू० (प०) पृ० २३०। रा० भा० सा० पृ० २१०। रा० पिं० सा० पृ० १६८।

३—रा० भा० सा० पृ० २१०, रा० पिं० सा० पृ० १३८।

४—रा० भा० सा० पृ० २१० तथा डी० सी० से० २, बी० पी०, भा० १ वी०।

के प्रत्येक साहित्य में किसी न किसी कोटि का पाया जाता है। राधाकृष्ण को लेकर हर एक प्रान्त में मंद वा ऊँची कोटि का साहित्य पैदा किया है। लेकिन राजस्थान ने अपने रक्त से जो साहित्य निर्माण किया है उसकी जोड़ का साहित्य कहीं नहीं मिलता।[1]

राजनैतिक परिस्थितियों में अंकुरित, पोषित एवं संवर्धित होने के कारण डिंगल कविता का कलेवर प्रधानतया वीर रसात्मक है। यदि यह कहा जाय कि डिंगल भाषा का वीर-साहित्य विश्वसाहित्य के लिये एक अपूर्व उपहार है तो अत्युक्ति न होगी। वीर रस के अंतर्गत मान्य युद्ध, दान, दया और धर्म, चारों प्रकार के वीरों के सजीव, स्वाभाविक तथा सांगोपांग चित्र काव्यकारों ने अंकित किये हैं। इस दिशा में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त होने का कारण वीरोचित कृत्यों का प्रत्यक्ष दर्शन एवं स्वानुभूति है। रवीन्द्र नाथ ठाकुर के कथनानुसार वीरता का भाव, जो कि राजस्थानी के प्रत्येक दोहे तथा गीत का सार है स्वयमेव ऐसा अनूठा एवं अलौकिक है कि इसके लिये संपूर्ण राष्ट्र को गर्व हो सकता है। युद्ध तथा युद्धस्थल का भयावह वातावरण, रण के विरोधी प्रतिद्वन्दियों के शौर्य, पराक्रम, औदार्य, और आतंक, सेनानियों की बहुलता तथा अश्व-गजों की प्रचुरता के वर्णन यद्यपि अत्युक्तियों एवं अतिशयोक्तियों से अनुरंजित और अनुप्राणित है तथापि प्रभावशाली, मनोमुग्धकर एवं अनुपम है। वीर नर नारियों का मनोविश्लेषण वास्तविक तथा मार्मिक है। विशेषतया पद्मिनी, करुणावती, जवाहर बाई कृष्णाकुमारी आदि वीरांगनाओं के साहस वीरता तथा जौहर (सतीत्व के रक्षार्थ जीवित अग्नि-प्रवेश कर मृत्यु का वरण) सृष्टि के इतिहास में आश्चर्यजनक घटनायें हैं।[2]

विद्वानों ने राजस्थान के वीर साहित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। डा० एल० पी० टेसीटरी के अनुसार यह वृहद् साहित्य, समस्त राजपूताना तथा गुजरात में, जहाँ कहीं भी राजपूत ने अपनी भूमि के विजय के हेतु रक्त का बलिदान किया, पल्लवित तथा पुष्पित हुआ।[3] डा० सुनीति कुमार चैटर्जी का मत है कि राजस्थानी साहित्य वीरत्व से ओत-प्रोत जीवन और वीर की झंझा-प्रवाह सदृश मृत्यु का संदेश है। ये राजस्थान के गीत थे जिनमें कि अथक शक्ति एवं अविजित लौह-युक्त साहस का फेनिल स्त्रोत प्रवाहित होता था और जिन्होंने कि राजपूत योद्धा को व्यक्तिगत सुख तथा आकर्षण को विस्मृत कराकर सत्यं, शिवं एवं सुंदरं, के लिये

१—डिं० वी०, हिं० सा० स० प्रयाग संवत् २००३।

२—रा० भा० सा० पृ० ५७।

३—राजस्थानी साहित्य का महत्व पृ० ६८, ना० प्र० स० माघ २००० वि० (प्रथम संस्करण)।

लड़ने पर बाध्य किया।[1] दीवान हरविलास सारदा ने राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (भाग १) के प्राक्कथन में लिखा है कि यह केवल राजपूत ही नहीं वरन् समग्र ३६ जातियों के लोग थे जो कि राजस्थान के वीरों के वीरतापूर्ण कृत्यों के गान को सुनकर युद्ध करने के लिये कटिबद्ध हो जाते थे। इसी कारण राजस्थान को वीर भूमि (Land of chivalry) की संज्ञा प्रदान की गई है।[2]

ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि राजस्थानी साहित्य में वीर रस के प्राधान्य ने विशेषकर साहित्य के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। फलस्वरूप, राजस्थान की भाषा डिंगल को अधिकांश साहित्यकारों ने केवल वीर रस के लिये ही उपयुक्त समझा जो कि वस्तुतः एक भ्रम है।

इस युग के वीररसात्मक काव्य रचयिताओं में ढाढ़ी बादर (सन् १३६० ई० के लगभग), श्रीधर (र० का० सन् १३६७ ई०), शिवदास (र० का० सन् १४२८ ई०), सूजा जी (र० का० सन् १५३४-४१ ई० के मध्य), केशवदास गाडण[3] (सन् १५५३, १६४० ई०), हेम कवि (केशव दास गाडण के समकालीन), ईसर दास (सन् १५३८-१६४० ई०) और दुरसाजी आढ़ा[4] (सन् १५३५-१६५५ ई०) की गणना की जा सकती है।

२०—ढाढ़ी बादर[5] का अन्य नाम बहादुर भी मिलता है[6]। ये जाति के ढाढ़ी थे। इनके जीवन संबंधी इतिवृत की उपलब्धि का लगभग अभाव सा है। ये अनुमानतः मंडोवर के राव मल्लिनाथ के भ्रातृज वीरम जी के आश्रित थे जिनका अवसान काल सन् १३६० ई० है।[7] अस्तु इनका समय भी सन् १३६० ई० के आस-पास समझा जा सकता है। डा० मेनारिया के मतानुसार बादर का समय लगभग १७ वीं शती ई० का अंत है[8] किन्तु उन्होंने अपने मत की पुष्टि में कोई

१—राजस्थानी साहित्य का महत्व, पृ० ६८।

२—रा० हि० ह० ग्रं० खो० भा० १ पृ० २ दीवान हरविलास सारदा का प्रवचन।

३—अ० १७।

४—अ० १६।

५—डी० सी० से० १ बी० पी० पा० २ पृ० ३०। रा० दू० (प्र०) पृ० ५१। रा० हि० ग्रं० खो० भा० १ पृ० १७१ ।रा० सा० रू० पृ० २११ प०)। डि० वी० (भू०) पृ० २६। रा० भा ० सा० पृ० १७०।

६—सी० आर० एम० पृ० ७७।

७—रा० भा० सा० पृ० १७०।

८—वही।

प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया है। बादर ढाढ़ी प्रणीत केवल एक ग्रंथ 'नीसाणी वीरमाण री' अथवा 'वीरमांण' उपलब्ध है जो कि अप्रकाशित है। पं० रामकर्ण आसोपा के अनुसार ग्रंथ का निर्माता रामचन्द्र है।[1] संभव है कि काव्यकार का उपनाम बादर रहा हो जिससे कि उसने आगे चलकर प्रसिद्धि प्राप्त की हो।

२१—श्रीधर[2] का जीवन वृत्त अज्ञात है। ये ईडर नरेश राठौड़ रणमल के शासन काल में वर्तमान थे। इन्होंने 'रणमल छंद' नामक एक उत्कृष्ट ग्रंथ का प्रणयन किया था जिसमें कि रणमल के द्वारा सन् १३९७ ई० में पाठण के सूबेदार जाफरखाँ पर प्राप्त की गई विजय का वर्णन है। अतएव मोटे तौर पर कवि का रचना काल सन् १४०० ई० के आस-पास माना जा सकता है।[3] सीधर (श्रीधर का अपभ्रंश रूप) नाम के व्यक्ति कृत 'मंदोदरी संवाद' तथा 'सप्तएसी रा छंद' दो अन्य रचनाओं का उल्लेख भी मिलता है[4] किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि श्रीधर और सीधर दोनों एक ही व्यक्ति थे।

२२—शिवदास[5] की जीवनी से संबंधित कोई भी सूचना ज्ञात नहीं है। डा० मेनारिया ने इन्हें 'जाति के चारण' बताया है।[6] इनका रचा हुआ एक छोटा किन्तु प्रसिद्ध ग्रंथ 'अचलदास खीची री वचनिका' उपलब्ध है। यह अभी तक अमुद्रित है। इसमें माँडू के पातशाह (बादशाह) और गागरौनगढ़ के राजा खीची अचलदास के सन् १४२८ ई० के आस-पास के युद्ध का वर्णन है अतः जैसा कि डा० टेसीटरी का मत है कि यह रचना युद्ध की समकालीन है,[7] के अनुसार कवि का रचनाकाल सन् १४२८ ई० के लगभग स्वीकार किया जा सकता है।

१—रा० रू० (भू०) पृ० २।

२—के० एम० मुंशी (गुजरात ऐन्ड इट्स लिटरेचर पृ० १०१। वी० रा० इ० भा० १ पृ० २८४। रा० दू० (प्र०) पृ० ३७, ४३। डि० वी० (भू०) पृ० ३६। रा० सा० रू० (प०) पृ० २२१। रा० भा० सा० पृ० ८०। डा० एल० एस० वार्ष्णेय—हि० सा० आ० इ० पृ० २५५। शोध पत्रिका, भा० ३, जून १६५२ पृ० १६२।

३—के० एम० मुंशी, गुजरात ऐन्ड इट्स लिटरेचर पृ० १०१।

४—सी० आर० एम० पृ० १६, १३५।

५—डी० सी० से० २ बी० पी० १ वी० पृ० ४१, ६२। हि० सा० आ० इ० पृ० २५५। बी० एच० एस० आर० १६१७ वा० १३ पृ० २०१। रा० दू० (प्र०) पृ० ३७, ३८, ४३ (क० ना०) पृ० १०१। डि० वी० (भू०) पृ० ३६। रा० भा० सा० पृ० १००, २७४।

६—रा० भा० सा० पृ० १००।

७—डी० सी० से० २ वी० पी० पा० १ बी० पृ० ४१।

२३—सूजा जी[१] अथवा वीठू सूजो नगराजोत का समय सन् १५३५ ई० के आस-पास है। ये बीकानेर 'नरेश राव जैतसी के समकालीन थे तथा उन्हीं के प्रश्रय में रहते भी थे। सिंढायच दयालदास की ख्यात में लिखा है कि 'राव जैतसी जी......गाँव खिलैरियो नगराजोत सूजै नूं दीनौ। तिण साख रो दूहो...

जैत राव जायौ जगत, बंस बधारण वान।
सूजै नूं दीना सहस, दूजै वीकम दान ॥[२]

स्पष्ट है कि सूजा जी राव जैतसी के विशेष कृपा-पात्र थे। ये राव जैतसी की मृत्यु के समय भी उपस्थित थे और उस अवसर पर उन्होंने गीत रचकर अपनी श्रद्धांजलि भी समर्पित किया था।[3]

इनका पारिवारिक जीवन विषयक कोई विवरण नहीं मिलता। इनका निर्माण किया हुआ 'राव जैतसी रो छंद' ग्रंथ प्रकाशित भी हो चुका है। इसके संपादक डा० एल० पी० टेसीटरी के कथनानुसार "राव जैतसी रो छंद निस्संदेह जैतसी की विजय के संवत् १५६१ के पश्चात् शीघ्र ही और किसी भी दशा में संवत् १५६८ के पूर्व, जिस वर्ष कि जैतसी जोधपुर के राव मालदे के भीषण आक्रमण से बीकानेर की रक्षा करते हुये वीर गति को प्राप्त हुये थे, अवश्य ही छंदोबद्ध किया गया था"।[४] इस ग्रंथ के अतिरिक्त भी सूजा जी विरचित स्फुट रचनायें यत्र तत्र बिखरी हुई उपलब्ध होती हैं।

२४—एक अज्ञात कवि अथवा वीठू मेहो[५] विरचित 'राव जैतसी रो छंद' नामक अन्य ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में संग्रहीत है।[६] उपरोक्त वीठू सूजा कृत 'राव जैतसी रो छंद' के ढाँचे पर तथा लगभग

१—द० ख्या० भा० २ पृ० १८, ५६, ६३, १२८, १५४, १७०, १७४, १७५, १७८, १७६, १८१, १८६, १८७। वी० रा० इ० भा० १ पृ० ६३, १००, १३२। जो० रा० इ० पृ० २४२-४३ (भा० १)। बी० एच० एस० आर० बा० १३, १६१७ पृ० २२१। रा० दू० (प्र०) पृ० ३८, ४४। रा० सा० रू० पृ० ४३-४४। रा० भा० सा० पृ० ११५।

२—द० ख्या० भा० २ पृ० ६३।

३—वही पृ० ५६-६०।

४—छं० रा० जै० (प्रकाशित) पृ० १७ (भू०)।

५—डी० सी० से० २ बी० पी० पा० १ बी० पृ० ७-८। सी० आर० एम० पृ० ४७। छं० रा० जै० (भू०) पृ० १०। बी० रा० इ० पृ० ६२-६३। रा० दू० (प्र०) ३६ ४४, ४५। रा० सा० रू० (प०) पृ० २२२। रा० भा० सा० पृ० १०८ (पाद टिप्पणी)।

६—वही।

उसी रीति से लिखा गया यह ग्रंथ भी कामरान पर बीकानेरी विजय से संबंधित है। डा० टेसीटरी का मत है कि यह अज्ञात नाम का व्यक्ति भी कोई चारण ही रहा होगा और कदाचित् सूजो का प्रतिस्पर्धी (Emulator) तथा सूजो के समान ही राव जैतसी का नमक खाने वाला रहा होगा। सिंढायच दयालदास ने अपनी ख्यात में लिखा है कि वीठू मेहो ने राव जैतसी के सम्मानार्थ छंदों में एक कविता रची थी किन्तु अन्य श्रेष्ठतर प्रमाणों की अनुपस्थिति में यह निष्कर्ष निकालना कि उस स्वेच्छाकृत (Adespotic) छंद का रचयिता मेहो था, कदाचित् अधिक शीघ्रता करना होगा।[1]

डा० टेसीटरी ने जिस परिणाम की ओर निर्देश किया है वह निश्चयात्मक न होने पर भी पर्याप्त युक्तियुक्त प्रतीत होता है। किन्तु यहाँ पर यह संकेत करना कदाचित् अनुपयुक्त न होगा कि बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय की हस्तलिखित पोथी के दो ग्रंथों में प्रथम 'पाबूजी रा छंद' वीठू मेहो द्वारा ही लिखित है। अतः असंभव नहीं, कि द्वितीय ग्रंथ 'राव जैतसी रो छंद' भी उसी कवि का रचा हो।

२५—हेम कवि[2] का जीवनी-पक्ष समय के विशाल विवर्त्त में लुप्त हो चुका है। इनका रचा हुआ 'गुण भाषा चित्र' नामक एक वृहद् ग्रंथ उपलब्ध है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति जोधपुर के राजकीय पुस्तकालय, पुस्तक प्रकाश, में सुरक्षित है। इसमें जोधपुर नरेश गजसिंह का यश तथा युद्धादि वर्णित हैं। अनुमानतः ये महाराज गजसिंह के आश्रित तथा केशवदास गाडण के समकालीन थे और इस प्रकार इनका रचनाकाल सन् १६२४ ई० के आसपास ठहराया जा सकता है।

२६—ईसरदास[3] बारहठ[4] का जन्म सन् १५३८ ई० में जोधपुर राज्यांतर्गत

१—छं० रा० जै० (मू०) पृ० ८-६।

२—पु० प्र० जो० में प्राप्य ह० गुण भाषा चित्र की प्रतिलिपि।

३—मु० नै० ख्या० भा० १ पृ० १३३ भा० २ पृ० २२७, २४१, ४६७। प्र० हि० सा० स० (का० वि०) भा० २ पृ० ८२। रा० दू० (प्र०) पृ० ४५। डिं० वी० (भू०) पृ० ४१। रा० सा० रू० (प०) पृ० २२४। रा० भा० सा० पृ० ६१, ११५, ११६।

४—बारहठ=द्वार पर हठ करने वाला। राजपूतों की प्रथा के अनुसार ब्याह के अवसर पर जिस समय हाथी या घोड़े पर चढ़कर वर तोरण बँधाते थे उस समय नेग के लिये वधू-पक्ष के चारण हठ करते थे। अतः वे बारहठ अथवा पोलपात कहलाने लगे।

स्थित भाद्रेस ग्राम में हुआ था।[1] स्वर्गीय ठा० किशोरसिंह बारहठ द्वारा सम्पादित 'हरिरस' की भूमिका में दिये गये वंश-वृत्त के अनुसार ईसर दास के वंश के आदि पुरुष बुध भाटी थे जिनकी पन्द्रहवीं पीढ़ी में इनका जन्म हुआ। इनके पितामह के तीन पुत्र थे...हरसूर, सूजा तथा आशानन्द। ये सूजा जी के बेटे थे। इनकी माता अमर बाई थीं। इनके गुरु का नाम पीताम्बर भट्ट था जिनका उल्लेख इन्होंने अपने हरिरस ग्रंथ की निम्नांकित पंक्ति में किया है :—

लागूं हूँ पहली लुलै, पीताम्बर गुर पाय।[2]

१४ वर्ष की अवस्था में इनका प्रथम व्याह देवलबाई से हुआ था। १८ तथा १९ वर्ष की आयु में क्रमशः इनके पिता तथा माता का देहावसान हुआ था। २० वर्ष के होकर ये जामनगर के नरेश रावल ज़ाम के यहाँ जाकर रहने लगे थे। २१ वें वर्ष में इनकी प्रथम पत्नी की अकाल मृत्यु हो गई। इस मध्यान्तर में इनके जागा और चूंडा दो पुत्र हो चुके थे। सन् १५६० ई० में रावल जाम के आग्रह से इन्होंने द्वितीय विवाह पेथाभाई गढ़वी की कन्या राजबाई से किया था। दूसरी स्त्री से कान्ह, जैसा तथा गोपाल तीन लड़के हुये।

रावल जाम के यहाँ पोलपात होकर ये ४० वर्ष रहे। यहाँ रहकर इन्होंने ख्याति तथा सम्मान लाभ किया। रावल ने सचाणा ग्राम तथा क्रोड पसाव प्रदान कर इनकी प्रतिष्ठा में चार चांद लगा दिया जिसकी पुष्टि नीचे उद्धृत दोहे के द्वारा होती है :—

क्रोड पसाव ईसर कियौ, दियौ सचाँणौ गाम।
दता सिरोमणि देखियौ, जगसर रावल जाम॥

अपने जीवन के अंतिम २० वर्ष ईसर दास ने पुनः अपने जन्म स्थान भाद्रेस में व्यतीत कर ८० वर्ष की अवस्था में सन् १६१८ ई० में स्वर्गलोक को प्रयाण किया।

कहा जाता है कि ईसरदास को अलौकिक शक्ति प्राप्त थी जिसके कारण इनके जीवन से सम्बन्धित अनेक चमत्कारपूर्ण दन्तकथायें प्रचलित हो गई हैं[3]। ये एक पहुँचे हुये भक्त थे और आश्चर्य नहीं कि इन्होंने ब्रह्म का साकार अथवा निराकार

१—जन्म तिथि के सम्बन्ध में निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है—

पनरासौ पिच्चाणवै, जनम्याँ ईसर दास।
चारण वरण चकार मैं, उण दिन हुवो उजास॥

२— अर्थात् मैं सर्व प्रथम अपने गुरू के चरणों को झुककर स्पर्श करता हूँ।

३—रा० भा० सा० पृ० ११६-१७। डा० झा० कु० पृ० ३-५ तथा ठा० किशोर सिंह द्वारा सम्पादित हरि रस की भूमिका।

रूप में साक्षात्कार भी किया हो। कदाचित् इसी कारण लोग इन्हें 'ईसरा रो परमेसरा' विशेषण से विभूषित कर चुके थे। अपनी विशिष्ट प्रतिभा, योग्यता तथा गुणों के प्रभाव से ये अपने जीवन काल में ही प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

ईसर दास की वीर रस प्रधान कृति 'हालां झालां रा कुंडलिया' है जिसका अन्य नाम 'सूर सतसई' भी कहा जाता है जो कि वस्तुतः अनुपयुक्त है। दूसरी महत्व पूर्ण रचना इनका 'हरिरस' है जिसकी प्रशंसा केशवदास माडण ने नीचे अवतरित सोरठे में की है—

जग प्राजलतो जाण, अघ दावानल ऊपरा।
रचियो रोहड़ राण, समन्द हरी रस सूरवत ॥

अर्थात् विश्व को पाप रूपी दावाग्नि में भस्मीभूत होता जानकर रोहड़िया[1] वंश के सम्राट् ईसर दास ने 'हरिरस' ग्रंथ अथवा भक्ति रूपी समुद्र (दावानल से भी प्रबल शक्ति) की वीर के सदृश सृष्टि की।

ऊपर उल्लेख किये गये ग्रंथों के अतिरिक्त छोटा हरिरस, बाल लीला, गुण भगवन्त हंस, गरुड़ पुराण, गुण आगम, वैराट, रास कैलास, सभापर्व तथा देवियाण अन्य १० रचनायें ईसर दास रचित है। वस्तुतः ये अपने युग के अग्रगण्य कवि थे।

(३) भक्ति काव्य

२७—विषम परिस्थितियों से साक्षात्कार होने पर ही मनुष्य को अपनी अशक्त एवम् असहाय अवस्था का ज्ञान होता है। फलस्वरूप उसे अत्यन्त निराशा होती है किन्तु चिर जीवित रहने की अज्ञात आकांक्षा तथा आशा उसे अलक्षित एवं अलौकिक शक्ति का अवलंब ग्रहण करने को प्रेरित करती है। यही प्रेरणा भक्ति भाव के अभ्युदय तथा अभ्युत्थान का मनोवैज्ञानिक सतत प्रवाहपूर्ण मूलस्रोत है। भक्ति साहित्य जनता के इस विशिष्ट भाव की प्रतिच्छाया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव मन्दिर गिराये जाते थे, देव मूर्त्तियाँ तोड़ी जाती थीं।'[2] दयालदास ने अपनी ख्यात में औरंगजेब द्वारा हिन्दुओं

१—ईसर दास के पूर्वज चन्द को रोहड़ कर अर्थात् बलात पोलपात बनाया गया था अतएव उसके वंशज रोहड़िया कहलाने लगे।

२—शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ६०।

के मुसलमान बनाये जाने की योजना तथा मूर्त्तियों के तोड़वाये जाने का स्पष्ट उल्लेख किया है जिसे अविकल रूप में उद्धृत कर देना यहाँ अनुचित न होगा।

'हमें हिन्दू राजा साराई पातसाह जी री चाकरी मैं हाजर है। सू हुणहार सूं पातसाह जी रै दिल मैं इसी ऊपजी कै राजावाँ सारांनूं मुसलमान करणा। सू अकबर वा जिहानगीर तथा साजिहान अै तीन पीढ़ी तौ राजावांनूं मुसलमान करण री उपाय मैं रया पण ताबे आयी नहीं। साजिहान जी सूं तौ सादलेखाँ अर्ज इण वातरी करी थी। तद हजरत इसी कही, "मैं तौ अब ब्रध हो गया सू कोई इस जगा बैठागा जिसकूं भारी है। पीछै सादलेखाँ रौ मित्र एक असतखाँ नामै हूतौ। वा इणरौ बेटौ जिलफकार नामै हूतौ सू औ बडौ दाना अरु बाहादर थौ। तथा पातसाह आलमगीर जीरै जिलफकारखाँ मुहडै लागतौ हुवौ। पीछै इण वगैरै औरां उजीरां सईदासूं आलमगीर जीरी सलाह हुई। अरु राजावांनूं मुसलमान करणा ठहराया। पीछै हिंदवारै तीरथां मैं देव मूरतां खंडण करायी। तथा काशी मैं बिश्वेसरजीरी लिंग ग्यानवापी मैं दाखल हुई। अरु मिन्दर रै लारै महजीद कराई। सू अब तलक मौजूद है। अरु ब्रंदावन वा गिरराज ऊपर मिन्दर था सो ढहाय दीना। तद गोरधन नाथ जी नूं गुसांई जी लेयनै आंबेर पधारिया।'

'अठैई पातसाह जीरा भयसूं रया नहीं। पीछै अग्यासूं ठाकुर जी नूं उदैपुर रै गांव सीहाड़ पधारिया। तठै राणा राजसिंघ जी सामा आय दरसण कियौ। अरु सीहाड़ किताई गाघांसू निजर कीवी वा रुको लिख दीनौ कै लाख सीसोदियांरा माथा भेट थे। हमै सीहाड़नूं नाथ द्वारौ कहै छै।'[1]

सामूहिक धर्म परिवर्तन के विषय में डा० कुंवर मुहम्मद अशरफ ने लिखा है कि 'निम्न वर्ग के धर्म परिवर्त्तितों के कुछ स्पष्ट उदाहरणों ने हिन्दू जनता को यह निदर्शन करा दिया था कि एक धर्म-परिवर्तित कितना अधिक सामाजिक सोपान द्वारा उन्नति कर सकता है। इस प्रकार हिंदू धर्म अपनी संख्या को संवर्द्धनशील इस्लाम के बाड़े में शनैः शनै सम्मिलित होने की अनिष्ट-सूचक प्रत्याशा का साक्षात्कार कर रहा था।[2] इसी प्रकार मन्दिरों की तोड़-फोड़ का उल्लेख डा० रघुबीर सिंह ने पूर्व आधुनिक राजस्थान में किया है।[3] श्री कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी द्वारा सोमनाथ के मन्दिर के तोड़-फोड़ और जीर्णोद्धार की कहानी भी

१—द० ख्या० भा० २ पृ० १६२-१६३।

२—डा० अशरफ-लाइफ ऐंड कंडीशन्स आव् दि पीपुल आव् हिंदुस्तान पृ० १६४।

३—डा० रघुवीर सिंह—पूर्व आधुनिक राजस्थान पृ० १२१-१३१।

इसका एक ज्वलंत उदाहरण है ।[1] इस कहानी में धार्मिक परिवर्तन के उल्लेख भी हैं ।

नारी वर्ग की अवस्था अत्यन्त शोचनीय थी । डा० कुंवर मुहम्मद अशरफ के शब्दों में 'स्त्रियों और रखैलों पर, जहाँ तक हम जान सके हैं, उनका अधिकांश समय व्यय होता था । उनमें से कुछ अपनी काम सम्बन्धी क्षुधा की बहुत अधिक तृप्ति न कर सकने के कारण चुनी हुई सुन्दरियों के समायोजन (Supply) के लिए नियमित विभाग रखते थे ।'[2] डा० साहब ने सुलतानों और हिन्दू राजाओं के नैतिक पतन के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं और मुइज़ुद्दीन कैकुबाद के सम्बन्ध में तो यह तक बताया है कि वह इस प्रकार के पापों के लिए अपनी प्रजा को क्षमा करके बढ़ावा दिया करता था ।[3] भारतीय इतिहास ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे कि तत्कालीन समाज की पतित अवस्था पर प्रकाश पड़ता है ।[4]

अतएव आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग'[5] लगभग नहीं ही था । डा० अशरफ के शब्द, कि 'एक लोकप्रिय, उदार और देश व्यापी धर्म हिन्दुस्तान में फैलने लगा जिसके व्युत्पत्ति की प्रेरणा विदेशी निष्कर्षण के अधिक लोकतांत्रिक धार्मिक मतों में थी । 'कर्म' और 'ज्ञान' के प्राचीनतर धार्मिक मतों के विरुद्ध इस धार्मिक मत का आधार मनुष्य की ईश्वर के प्रति भक्ति या श्रद्धा थी और जाति और आश्रम के चारों ओर केन्द्रित जीवन को इसने विध्वंस किया',[6] शुक्ल जी के मत का दूसरे प्रकार से समर्थन करते हैं ।

राजस्थान इसके लिए अपवाद न था । किन्तु डिंगल भाषा में उपलब्ध भक्ति साहित्य थोड़ा ही है । इसके दो प्रधान कारण प्रतीत होते हैं—प्रथम, अधि-

---

१—के० एम० मुन्शी—सोमनाथ दि श्राइन इटर्नल पृ० ४६-५२ ।

२—डा० अशरफ—लाइफ ऐंड कंडीशन आव् दि पीपुल आव् हिंदुस्तान पृ० १४७ ।

३—डा० अशरफ—लाइफ ऐंड कंडीशंस आव् दि पीपुल आव् हिंदुस्तान पृ० १४७-४८, १८७-९१, २३६-४२, ३१६, ३२०-२२ ।

४—वही—पृ० १४७-४८ ।

५—शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ६० ।

६—डा० अशरफ—लाइफ ऐंड कंडीशंस आव् दि पीपुल आव् दि हिंदुस्तान पृ० १९४ ।

कांश डिंगल साहित्य (जिसके अन्तर्गत भक्ति साहित्य आता है) का काल कवलित हो जाना और द्वितीय, राजा और महाराजाओं का युद्ध एवं विलासिता में व्यस्त जीवन, जो कि भक्ति साहित्य के प्रश्रय और प्रोत्साहन में बाधक रहा।

डिंगल भाषा में लिखित उपलब्ध भक्ति काव्य में सगुण भक्ति को लगभग एकान्तिक स्थान प्राप्त हुआ है। षोडश कलाओं से परिपूर्ण कृष्ण की मनोमुग्धकर मूर्ति गोपियों के सदृश प्रेम और भक्ति से ओत-प्रोत हृदय वाले काव्यकारों को अधिक प्रिय तथा चित्ताकर्षक प्रतीत हुई। अतएव कृष्ण से संबंधित काव्य अपेक्षा-कृत अधिक मात्रा में रचा गया। कृष्ण के अतिरिक्त राम भक्ति सम्बन्धी काव्य भी कुछ कवियों ने रचा। और अन्य देवी देवताओं के प्रति भी श्रद्धा और भक्ति भाव का प्रदर्शन किया गया परन्तु वह नाम मात्र के लिए है।

इस युग के भक्ति काव्य की सर्जना करने वालों में ईसरदास (सन् १५३८-१६१८ ई०) पृथ्वीराज राठौड़ (सन् १५४६-१६०० ई०), केशव दास गाडण (सन् १५५३-१६४० ई०) माधोदास दधिवाड़िया (सन् १५५३ अथवा १५५८-१६३३ ई०), सांया झूला (सन् १५७३-१६४६ ई०) और कल्याण दास (र० का० सन् १६४३ ई० तथा अनुमानतः उसके आसपास) के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रथम तीन के जीवन सम्बन्धी इतिवृत पर प्रकाश डाला जा चुका है। शेष का उपलब्ध जीवन विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

२८—माधोदास दधिवाड़िया[1] के जन्म काल से सम्बन्धित असंदिग्ध तिथि तो नहीं प्राप्त है किन्तु यह लगभग निश्चित सा है कि ये सन् १५५३-५८ ई० के मध्य किसी समय उत्पन्न हुये थे। इनके पिता का नाम चूंड़ा जी दधिवाड़िया था। इनका जन्म स्थान जोधपुर राज्य के अन्तर्गत स्थित बलूंदा ग्राम कहा जाता है जिसकी निश्चयात्मकता सन्देहास्पद है। इनके आश्रयदाता जोधपुर महाराज सूरसिंह थे। ये अपने युग के आदरणीय तथा प्रसिद्ध व्यक्तियों में थे। पृथ्वीराज राठौड़ जैसे प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति इनके मित्र थे। इनके सम्बन्ध में पृथ्वीराज का यह दोहा प्रसिद्ध है।

चूंडे चत्रभुज सेवियौ, ततफल लागौ तास।
चारण जीवौ चार जुग, मरौ न माधौ दास॥

माधौदास की मृत्यु सन् १६३३ ई० के लगभग, जब कि ये अपने पुत्र के साथ अपनी गौओं की रक्षा के निमित्त गये थे, मुसलमान चोरों के हाथ हुई थी।[2]

१—रा० हिं० ह० ग्रं० खो० भा० १ पृ० १२० तथा १७३।
२—रा० भा० सा० पृ० १४३।

इनकी रचनायें 'भाषा दसमस्कन्ध,' रामरासो[1] तथा 'गजमोष'[2] हैं जिनमें प्रथम की कोई प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। शेष दो की हस्त-लिखित प्रतियाँ अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर में वर्तमान हैं। इन ग्रंथों के द्वारा माधौदास दधवाड़िया के भगवद्भक्त होने का सम्यक् परिचय मिलता है।

२६—सांया झूला[3] का जन्म सन् १५७५ ई० में ईडर राज्य के लीलछा नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता चारणवंशोत्पन्न स्वामिदास झूला थे। ये ईडर के अधिपति राव कल्याणमल के आश्रय में रहते थे। राव जी इनका समुचित सम्मान करते थे। सांया जी की योग्यता से प्रभावित होकर उन्होंने इनको लाख पसाव तथा कुवाबा ग्राम पुरस्कार स्वरूप प्रदान कर गौरवान्वित किया था।

भगवान श्रीकृष्ण सांया झूला के इष्टदेव थे। उन्हीं की लीलाओं से प्रेरित होकर सांया जी ने 'रुक्मिणी हरण' एवम् 'नागदमण' ग्रंथों की सृष्टि की जो कि उनकी ईश्वर भक्ति के सजीव और प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उनकी प्रथम रचना तो इतनी जन मन रंजन कारिणी हुई कि उसकी उत्कृष्टता विषयक एक मन गढन्त प्रवाद भी प्रचलित हो गया कि रुक्मिणी हरण पृथ्वीराज कृत 'वेलि क्रिसन रुक्मणी री' से भी श्रेष्ठतर है[4]।

सांया जी ने सन् १६३२ ई० में अपने नश्वर कलेवर का परित्याग किया था।

३०—कल्याणदास लाखणोत भाट[5] का संक्षिप्त परिचय इनके स्वरचित दोहे द्वारा मिलता है जो इस प्रकार है :—

बास समैले बाघ तण, लाखणौत कलियाण।
गायौ श्री गोविंद गुण, पाए भगत प्रमाण॥

अर्थात् कल्याणदास लाखणोत सगैला ग्राम वासी बाघ जी के पुत्र थे और भक्ति के प्रमाण-स्वरूप श्री गोविन्द का गुण गान किया अथवा 'गुण गोविंद' ग्रंथ का निर्माण किया :—

ग्रंथ का रचनाकाल सन् १६४३ ई० है जिसका उल्लेख निम्नलिखित दोहे में किया गया है :—

१—सी० आर० एम० पृ० ३।

२—वही पृ० ३६।

३—मु० नै० ख्या० भा० १ पृ० ८३। द० ख्या० भाग २ पृ० १०५-१२४। रा० हि० ह० ग्रं० खो० भा० १ पृ० ४७, १७७। रा० दू० (प्र०) पृ० ४५।

४—मोतीलाल मेनरिया कृत रा० भा० सा० पृ० १३२-१३३।

५—रा० हि० ह० ग्रं० खो० भाग १ पृ० २६, १६५। रा० भा० सा० पृ० १५६।

सतरा सै सँवताँ बरीष, पहिले मैं बखाणाँ।
मास चैत सुदी दसमी, पुन्य रविवार प्रमाणाँ॥

ग्रंथ में राम तथा कृष्ण के लौकिक क्रिया कलाप वर्णित हैं। इसकी एक प्रतिलिपि उदयपुर के राजकीय ग्रन्थालय, सरस्वती भवन, में विद्यमान है।

(४) शृंगारिक काव्य

३१—प्रेम का भाव सार्वकालिक, सार्वजनीन तथा सार्वभौमिक है। हृदय में अनुराग जनित वीचियों का तरंगित होना स्वाभाविक है। मनुष्य की यही रागात्मक प्रवृत्ति आदिकाल से लेकर अद्यावधि संसार में शृंगारात्मक साहित्य के रूप में प्रतिबिम्बित होकर अपने सर्व व्यापकत्व की घोषणा करती रही है। किन्तु जहाँ अन्य भाषाओं में शृंगारिक साहित्य का प्रधान्य है वहाँ डिंगल में इस कोटि का साहित्य अत्यल्प है। वास्तव में इस दृष्टि से डिंगल के शृंगारिक साहित्य को एक अपवाद समझना चाहिये।

इस विशिष्ट अवस्था के तीन कारण है। **१—राजस्थान में डिंगल तथा** पिंगल (व्रजभाषा का दूसरा नाम) दोनों भाषाओं में साहित्य सृजन का कार्य हो रहा था। डिंगल की अपेक्षा पिंगल अधिक माधुर्य तथा प्रसाद गुण सम्पन्न थी। अतः शृंगार रस सम्बन्धी रचना के लिये राजस्थान के अधिकांश कवियों ने पिंगल को अपनाया। २—राज्याश्रय में निवास करने वाले कवियों को सदैव युद्ध की आशंका लगी रहती थी जिससे कि उन्हें शृंगार प्रधान ग्रंथ रचने के अनुकूल अवकाश अथवा वातावरण नहीं मिलता था। और ३—समय-समय पर राज-दरबारों में जो स्फुट शृंगार रस की रचनायें की जाती थी वे अस्थायी एवम् परिवर्त्तनशील परि-स्थितियों में या तो काल का ग्रास बन गई अथवा जो शेष बचीं उनसे कवि के नाम जीवन वृत्त और रचना काल पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

उपलब्ध शृंगार साहित्य के आधार पर शृंगारिक कवियों का परिचय यहाँ दिया जाता है। इस काल के शृंगार रस सम्बन्धी रचनाकारों में कल्लोल (रचना काल सन् १४७३ ई०), आशानन्द (सन् १५०६...१६०३ ई०), पृथ्वीराज राठौड़[1] (सन् १५४६...१६०० ई०) एवम् सांया झूला[2] है।

३२—कल्लोल—'ढोला मारू रा दूहा' ग्रंथ का सम्पादन रामकर्ण आसोपा, सूर्यकरण पारीक तथा नरोत्तम दास स्वामी ने चार रूपान्तरों के आधार पर किया था। द्वितीय रूपान्तर (जिसमें कि कुशललाभ वाचक की चौपाइयाँ भी सम्मिलित

१—अ० २२।
२—अ० ४६।

थीं) के धुर-सम्बन्ध या प्रस्तावना के चतुर्थ छन्द की निम्नलिखित पंक्तियों में कवि का नामोल्लेख मिला है।

गाहा गूढ़ा गीत गुण, कवित कथा कल्लोल।
चतुर तणा चित रंजवण, कहियइ कवि कल्लोल॥[१]

कवि के नाम के सम्बन्ध में सम्पादकों का कथन है कि 'एकाध महानुभावों ने कल्पना की है कि काव्य का निर्माता कल्लोल नामक कवि होगा' किन्तु प्रमाणों के अभाव में उन्होंने इस नाम को स्वीकार करना उचित नहीं समझा।[२] इसके विपरीत मोतीलाल मेनारिया ने कल्लोल नाम को निर्विवाद अंगीकार कर लिया है[३]।

यह सच है कि कल्लोल कवि का अन्यत्र उल्लेख न होने के कारण इस नाम की प्रामाणिकता सन्देहरहित नहीं है किन्तु 'कहियइ कवि कल्लोल' में कल्लोल नामक कवि के न होने की स्पष्ट व्यञ्जना है। अतएव मेरे विचार से जब तक कि ग्रंथ रचयिता का अन्य कोई नाम प्रकाश में नहीं आता, उस समय तक ढोला मारू रा दूहा, के कर्त्ता के रूप में कल्लोल कवि को मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं करना चाहिये।

कल्लोल कवि का जीवन वृत्त अज्ञात है। निम्नलिखित दोहे द्वारा कवि का रचना काल सन् १४७३ ई० ठहरता है—

पनरह से तीसे बरस, कथा कही गुण जाण।
वदि वैसाषै वार गुरु, तीज जाण सुभ थाण॥[४]

३३—आशानन्द बारहठ[५] का जन्म काल सन् १५०६ ई० के लगभग है। ये जोधपुर के भाद्रेस ग्राम में उत्पन्न हुये। ये गीधा जी बारहठ के कनिष्ठ पुत्र तथा ईसर दास बारहठ के चाचा थे। किंवदन्ती है कि आशानन्द ने अपना विवाह नहीं किया था। जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य की कठिन साधना में संलग्न रहे। किन्तु तात्विक दृष्टि से यह कथन निर्मूल प्रतीत होता है क्योंकि अपने नाम के साथ 'आशावत' जोड़कर अपने को आशानन्द का वंशज घोषित करने वाले चारण अब

१—ढो० मा० दू० (प्र०), पृ० २८ तथा (प० २) पृ० २७७, ३१६, ३४०, ३६०।

२—ढो० मा० दू० (प्र०) पृ० २८।

३—रा० भा० सा० पृ० १०१। प्र० हि० सा० स० (कार्य विवरण) दूसरा भाग पृ० ८२।

४—मेनारिया—रा० भा० सा० पृ० १०१।

५—हा० झा० कु० पृ० २ (भू०) अथवा किशोर सिंह बार्हस्पत्य संपादित 'हरिरस' की भूमिका।

भी वर्तमान हैं। ये जोधपुराधिपति महाराज मालदेव के प्रश्रय में निवास करते थे। मालदेव इनका समुचित सम्मान करते थे। इनकी मृत्यु तिथि निश्चय पूर्वक ज्ञात नहीं है परन्तु अनुमानतः सन् १६०३ ई० के निकट इनका प्राणान्त हुआ था।

उमादे भटियाणी (अथवा सती) रा कवित्त और बाघरा दूहा शृंगार रस प्रधान रचनाओं के अतिरिक्त आशानन्द कृत लक्ष्मणायण, निरंजन प्राण, गोगाजी री पेड़ी तथा फुटकर गीत हैं जो कि इनकी विशिष्ट काव्य प्रतिभा के परिचायक हैं।

(५) इतर काव्य

३४—प्रतिकूल एवम् विषय सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थिति और वातावरण के उपस्थित होने पर भी कुछ ऐसे स्वतन्त्र प्रकृति के कवि हुये जिन्होंने अपनी प्रतिभा एवम् व्यक्तित्व के बल पर विभिन्न विषयों पर स्फुट रचनाएँ की। ऐसी रचनाओं का उद्‌गम शासकवर्ग की प्रेरणा अथवा प्रोत्साहन पर नहीं आधारित था। यह जन समूह की निर्बन्ध प्रवृत्ति का स्वच्छन्द प्रवाह था जिसका प्रवर्त्तन काल द्वारा प्रेरित था। यह ऐसी कविता पद्धति का उन्नयन था जो यश या पुरस्कार के लोभ अथवा किसी प्रकार के भय की सीमा से मुक्त था। अस्तु, यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि विपरीत और जटिल परिस्थितियों ने भी कुछ अंशों में कविता का भंडार भरने में सहायता प्रदान की। युद्ध वर्णन, गुण कथन, नीति, दर्शन आदि अनेक विषयों को लेकर काव्य के उन्मुक्त विस्तृत क्षेत्र में विपुल मात्रा में रचनायें हुईं।

दोहों और गीतों में फुटकल कविता करने वाले इस प्रकार के कवि बहुत बड़ी संख्या में हुये। अगणित रचनाओं के निर्माता अपनी कृतियों के साथ सदा के लिये काल के विकराल वदन में तिरोहित हो गये। शेष कुछ के नाम ये हैं :—
गाडण पसाइत[1] (र० का० सन् १४३३ ई०,) खिड़िया चानण[2] (र० का०

१—रा० सा० रू० (प०) पृ० २२२। रा० भा० सा० पृ० १४४। हिं० सा० आ० इ० पृ० २६५। रा० दू० (प्र०) पृ० ४५।

सूचना—राजस्थानी गीतों, दोहों और छप्पयों आदि का एक वृहद संकलन राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर, द्वारा किया गया गया है जिसके प्रकाशित होने पर स्फुट रचना करने वाले कवियों तथा डिंगल रचनाओं की जानकारी की संभावना है।

२—द० ख्या० भाग २ पृ० २२, २६। मु० नै० ख्या० भाग १ पृ० २४ रा० भा० सा० पृ० १४४। सिंढायच साँवलदास नामक कवि का एक गीत अ० स० पु० बीकानेर की १२६ अनुक्रमांक की पोथी में प्राप्य है।

सन् १४८३ ई०,) वीठू सांवल[1] (र० का० सन् १५०३,) हरसूर बारहठ[2] (सन् १५०६-१६०३ ई० के आसपास), शंकर या सांकर बारहठ[3] (र० का० सन् १५८८ ई०), सिंढाइच गैपो[4] र० का० सन् १५६६ ई०), नेतो गाडण[5] (र० का० सन् १६०५ ई०) हरपो बारहठ[6] (र० का० सन् १६०८ ई०), वीठू देदो[7] (र० का० सन् १६२३ ई०), और अल्लू जी चारण[8] (जन्म काल सन् १६४३ ई०) के लगभग ये कवि दो श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं (क) वे कवि जिनकी रचना विषयक थोड़ी बहुत जानकारी है और (ख) वे कवि जिनकी रचना संबंधी सूचना का लगभग अभाव है। प्रथम श्रेणी में गाडण पसाइत कृत 'रावरिणमल रो रूपक' 'राव रिणमल रा कावत' तथा 'गुण जोधायण', शंकर बारहठ रचित 'सूर दातार रो संवाद' और अल्लू चारण निर्मित 'राव मालदे रा कवित्त' उल्लेखनीय है।[9] द्वितीय श्रेणी में शेष कवि आते हैं जिनके लिखे स्फुट गीत तथा दोहे मिलते हैं।

१—द० ख्या० भाग २ पृ० २६। रा० भा० सा० पृ० १४४।

२—रा० भा० सा० पृ० १४४। रा० द० (प्र०) पृ० ४५।

३—द० ख्या० भा० २ पृ० १२६, १२७, १३१। प्र० हिं० सा० स० (कार्य विवरण) दूसरा भाग पृ० ८२। रा० भा० सा० पृ० १४४।

४—वही पृ० १०५, १२३। रा० भा० सा० पृ० १४४।

५—वही।

६—वही।

७—वही।

८—वही पृ० १७, १२०। रा० दू० (क० ना०) पृ० १५।

९—ये रचनायें अ० स० पु० बी० में सुरक्षित हैं।

२—मध्यकाल

(लगभग १६५० से १८५० ई० तक)

३५—सन् १६५८ ई० में मुगल सम्राट औरंगजेब दिल्ली के राज सिंहासन पर आसीन हुआ था। इस समय तक राजपूत दिल्लीश्वर को अपना अधिपति अंगीकार कर चुके थे। किन्तु युद्ध राजपूतों का प्रिय व्यसन बना रहा। यही कारण था कि सन १६७८ ई० में जोधपुर के महाराज जसवन्त सिंह की मृत्यु के उपरान्त उनके उत्तराधिकारी बालक अजीतसिंह का राज्य जब औरंगजेब ने हड़पना चाहा तो वीरवर राठौड़ दुर्गादास ने अन्याय के प्रति तलवार उठाकर दो दो हाथ किये थे। सन् १७६१ ई० में पानीपत के तृतीय युद्ध के अनन्तर मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही राजपूत जाति के ऐश्वर्य और मर्यादा का भी ह्रास-सा हो गया और सन् १८५७ ई० के विप्लव के पूर्व तक उनके पुनरोत्थान के कोई लक्षण दृष्टिगत नहीं हुये।

इस युग में डिंगल काव्य उन्नति के शिखर पर पहुंच गया था। डिंगल साहित्य के प्रमुख लक्षण ग्रन्थ हरि पिंगल प्रबन्ध, लखपत पिंगल, रघुवर जस प्रकास तथा रघुनाथ रूपक गीतांरो इसी समय लिखे गये। इन ग्रन्थों में रस, अलंकार, छन्द काव्यदोष आदि का विशद विवेचन किया गया। रीतिकाल के कवियों की भांति इन लक्षण ग्रन्थ निर्माताओं ने भी एक दोहे में रस अथवा अलंकार का लक्षण देकर बाद में उनके उदाहरण प्रस्तुत किये। इस प्रकार कवि तथा आचार्य के संश्लिष्ट व्यक्तित्व के दर्शन हमें इन ग्रन्थकारों में मिलते हैं।

डिंगल कविता में कुछ मौलिक सामग्री भी अवतरित हुई है जिसके द्वारा इन आचार्य कवियों की अपूर्व एवम् अनूठी उद्भावनाओं का आभास मिलता है। डिंगल के कवियों ने यद्यपि दृश्य काव्य नहीं रचे किन्तु इनकी कृतियों में श्रव्य के साथ-साथ दृश्य काव्य का भी आनन्द प्राप्त होता है। इन कवियों के प्रिय छन्द दोहा और गीत रहे हैं। प्रशंसा प्रधान तथा वीर रस प्रधान काव्य का ही निर्माण इन कवियों ने अधिक मात्रा में किया है जिसका प्रमुख कारण आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की रुचि थी जिनके जीवन के विशिष्ट उपादेय कर्मण्यता और वीरता थे।

मध्ययुगीय सम्पूर्ण डिंगल कविता को दृष्टि में रखकर विषयानुसार निम्नांकित वर्गीकरण किया जा सकता है :—

(१) प्रशंसात्मक अथवा सर काव्य
(२) वीर रसात्मक काव्य

(३) भक्ति प्रधान अथवा शान्तरसात्मक काव्य
(४) शृंगार प्रधान काव्य
(५) रीति काव्य
(६) इतर विषयक काव्य

(१) प्रशंसात्मक अथवा सर काव्य

३६—प्राचीन काल की भांति ही इस युग में भी प्रशंसा प्रधान कविता का प्राधान्य रहा। प्रशंसात्मक कविता की प्रमुख विशेषतायें लगभग अपरिवर्त्तित रहीं[२]। अन्तर केवल यह हुआ कि मध्ययुग में राजा महाराजाओं की प्रशंसा में ग्रंथ स्फुट कविताओं की तुलना में अधिक लिखे गये। इस परिणति का मुख्य कारण राजनैतिक परिस्थिति थी। चारणों एवम् भाटों को प्रश्रय देने वाले राजपूत राजा महाराजा मुसलमानों से सन्धि कर अपने राज्य की स्वाधीनता के निमित्त लगभग निश्चिंत हो चुके थे।

डिंगल में सर काव्य की सर्जना करने वाले कवियों में राव किशोरदास भाट (रचना काल सन १६६२ ई०), गिरधर आशिया (रचना काल सन १६६३ ई०), पृथ्वीराज सांदू (रचना काल १७२४...२६ ई०), करणीदान कविया (रचना काल सन् १७४३ ई०), गोपीनाथ गाडण (रचना काल सन् १७५३ ई०), जीवाजी भादा (समय सन् १७६०-१७७२ ई० के आसपास), रामदान लालस (सन् १७६१-१८२५ ई०), बांकी दास आशिया (सन् १७७१-१८३३ ई०), किशन जी आढ़ा (रचना काल सन् १८२२-२४ ई०) और वीठू भोभो (रचना काल सन् १८२३ ई०) उल्लेखनीय हैं।

३७—राव किशोरदास भाट[३] के जीवन से संबंधित कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। ये उदयपुर (मेवाड़) के महाराणा राजसिंह (बड़े)[४] के शासनकाल (सन् १६५२...१६८० ई०) में जीवित थे। महाराणा राजसिंह के आश्रित होने के कारण इन्होंने उनके राज्य प्रबन्ध, ऐश्वर्य, शौर्य, औदार्य आदि का वर्णन अपने 'राज-प्रकाश' नामक ग्रन्थ में किया था। इस ग्रन्थ के निर्माण का समय सन् १६६२ ई० था।

१—रचनायें वी० अ० सं० पु० में सुरक्षित है।

२—अ० १४।

३—रा० हिं० ह० ग्रं० खो० भाग १ पृ० ११६ व १६५।

४—म० य० प्र० पृ० १५८-१७६। विशेष सूचना—पृ० ८६८-६६ हर कम्मा नामक नाई कवि विरचित एक गीत भी उद्धृत किया गया है जो डिंगल कविता का एक सुन्दर उदाहरण है।

३८—गिरधर आशिया[1] के जीवन वृत्त विषयक किसी भी प्रकार की सूचना का नितान्त अभाव है। इनका रचा हुआ केवल एक ग्रंथ 'सगत सिंघ रासो' प्राप्य है जिसके सृजन का समय सन् १६६३ ई० ठहरता है। जैसा कि नाम से ही प्रकट होता है, यह ग्रन्थ शक्तिसिंह की प्रशंसा में लिखा गया था जो कि इतिहास प्रसिद्ध मेवाड़ के महाराणा प्रताप के अनुज थे।

३६—पृथ्वीराज सांदू[2] का जीवनीपक्ष अज्ञात है। ये जोधपुर नरेश महाराज अभयसिंह के प्रश्रय में निवास करते थे जिनका राज्यकाल सन् १७२४-४६ ई० पर्यन्त था। कवि ने अपने आश्रयदाता का यश वर्णन 'अभयविलास' नामक ग्रंथ में किया था। प्रेम नारायण टन्डन ने 'राजस्थानी गद्य' नामक निबन्ध में लिखा है कि ग्रंथ का रचना काल संवत् १८०० वि० (अर्थात् सन् १७४३ ई०) के आस-पास होना चाहिये।[3]

४०—कविराजा करणीदान कविया[4] की जन्म एवम् मृत्यु तिथि और पारिवारिक जीवन का विवरण विदित नहीं है। इनका जन्म मेवाड़ राज्य के सूलवाड़ा ग्राम में हुआ था।[5] ये कुछ समय तक मेवाड़ के महाराणा संग्राम सिंह (द्वितीय) (शासन काल सन् १७१०-१७३३) के आश्रय में थे।[6] तदनन्तर जोधपुर के महाराज श्री अभय सिंह और विजय सिंह के कृपा-पात्र होकर रहे। ये अपने समय के विशेष प्रतिभा-सम्पन्न तथा लब्ध-प्रतिष्ठ कवि थे।

करणीदान को उदयपुर के महाराणा संग्राम सिंह, शाहपुरा के राजा उम्मेद सिंह, डूंगरपुर के राव शिव सिंह ने लाख पसाव प्रदान किया था और जोधपुर दरबार ने तो इन्हें कविराजा की उपाधि, जागीर तथा लाख पसाव देकर अयाचक ही बना दिया था। आलावास ग्राम की जागीर तो अद्य-पर्यन्त इनके वंशजों के अधिकार में है।[7]

१—मु० नै० ख्या० भाग १ पृ० ५४। रा० भा० सा० पृ० १६०।

२—रा० हि० ह० ग्रं० खो० भाग १ पृ० ११६। रा० भा० सा० पृ० १११।

३—हिंदुस्तानी वाल्यूम १३, सन् १६४३ ई० पृ० ६८।

४—डि० वी० र० (यू०) पृ० ४५। उ० रा० इ० भाग २ पृ० ६२१। वीर विनोद भा० २ पृ० १६६। रा० सा० रू० पृ० ११८-१२०। रा० हि० ह० ग्रं० खो० भाग १ पृ० ७२, १५६, १७१। रा० दू० (क० ना०) पृ० १५ (प्र०) ४४।

५—वीर विनोद पृ० ८४६।

६—म० य० प्र० पृ० १८१-१८६।

७—ना० प्र० स० का० की अमुद्रित रिसर्च रिपोर्ट के अनुसार करणीदान की वंश परम्परा में कविराजा गजदान आलावास में है।

कविराजा करणीदान में 'सूरज प्रकाश', 'विरद शिणगार' (सूरज प्रकाश का संक्षिप्त रूपान्तर), 'अभयभूषण', 'जतीरासा', 'ठाकुर लाल सिंह का यश' तथा एक बड़ी संख्या में स्फुट कविताओं की रचना किया था। 'सूरज प्रकाश' कविराजा ने महाराजा अभयसिंह की प्रशंसा में लिखा था। अवकाश के अभाव में महाराज ने इस वृहत् रचना को सुनने में असमर्थता प्रकट की। फलस्वरूप योग्य कवि ने 'विरद शिणगार' के रूप में उसका सूक्ष्म कलेवर उपस्थित किया जिसका अन्य नाम 'भैरव विनोद' भी है।[1] 'जतीरासा' नामक रचना यतियों के दुराचरण सम्बन्धी अनुभव का परिणाम थी जिसे कविराजा ने किसी विद्वान शुद्धाचरण यति के कहने पर अग्नि देव को भेंट कर दी थी।

करणीदान अत्यन्त निर्भीक एवम् स्पष्टभाषी थे। एक बार जयपुर और जोधपुर के महाराजाओं ने पुष्कर में पदार्पण किया। महाराज जयसिंह ने अपने तथा जोधपुर के महाराज के सम्बन्ध में कुछ सुनने की इच्छा प्रकट की उस समय करणीदान ने नीचे अवतरित दोहा पढ़ा—

जैपुर औ जोधांण पत, दोनों थाप उथाप।
कूरम मार्‌यौ डीकरौ, कमधज मार्‌यौ बाप ॥

उक्त दोहे में जयपुर के महाराजकुमार शिवसिंह तथा जोधपुर के महाराज अजीतसिंह की मृत्यु के सम्बन्ध में भर्त्सना की गई है।

यह कटु सत्य दोनों महाराजाओं के लिए लज्जास्पद था किन्तु उसे सुनकर भी महाराजाओं ने करणीदान को तनिक भी अपमानित नहीं किया वरन् सदैव उनका सम्मान करते रहे। महाराज अभयसिंह द्वारा आदरित होने के विषय में नीचे उद्धृत दोहा प्रसिद्ध है—

अस चढीयो राजो अभो, कवि चाढे गजराज।
प्होर एक जलेब में, म्होर बुहे महराज ॥[2]

अर्थात् कविराजा करणीदान को हाथी पर आसीन करा कर महाराज अभयसिंह स्वयं अश्वारोही हुए तथा एक प्रहर तक वे उनके अंग रक्षक रहे।

अपनी उत्कृष्ट रचनाओं के कारण कविराजा करणीदान आज भी अमर हैं तथा साहित्य एवम् इतिहास के विद्वानों ने उन्हें सदा सम्मान की दृष्टि से देखा है।

१—पोकरण शम द्वारा संपादित 'विरद शृंगार ग्रन्थ' की प्रति।

२—रा० भा० सा० पृ० १७६, सीताराम लालस द्वारा संपादित विरद सिणगार की भूमिका पृ० ३, तथा ना० प्र० स० काशी का अप्रकाशित खोज विवरण।

४१—गोपीनाथ गाडण[1] का जीवन वृत्त विदित नहीं है। इनका लिखा हुआ 'ग्रंथराज' नामक ग्रंथ मिलता है जिसमें कि बीकानेर के अधिपति महाराज गजसिंह का यश वर्णित है। अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर की प्रति के अनुसार ग्रंथ सन् १७५३ ई० के लगभग लिखा गया था। इस रचना पर कवि को लाख पसाव पुरस्कार-स्वरूप प्राप्त हुआ। अतएव बहुत सम्भव है कि कवि महाराज गजसिंह का आश्रित अथवा अनुग्रह-पात्र रहा होगा।

४२—जीवा जी भादा[2] की जीवन सम्बन्धी सामग्री प्राप्य नहीं है। इनके लिखे हुए कुछ स्फुट गीत मिलते हैं। इनकी कविता का विषय उदयपुर के महाराणा अरिसिंह का यश वर्णन है। अतएव अनुमान किया जाता है कि ये उनके राज्य-काल (सन् १७६०-७२ ई०) के आसपास विद्यमान रहे होंगे।[3]

४३—रामदान लालस[4] की जन्म एवम् मृत्यु की तिथियाँ क्रमशः सन् १७६१ तथा १८२५ ई० हैं। ये फतहदान लालस के पुत्र थे। इनका निवास स्थान जोधपुर था। इनका लिखा हुआ ग्रंथ 'भीम प्रकाश' मिलता है जिसका प्रधान विषय मेवाड़ (उदयपुर) के महाराणा भीमसिंह (शासन काल सन् १७७७-१८३८ ई०)[5] का ऐश्वर्य वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने अपने जीवन का कुछ अंश महाराणा भीमसिंह के अनुकम्पा-पात्र के रूप में अवश्य व्यतीत किया था। मोती लाल मेनारिया ने लिखा है कि 'सम्वत् १८६५ में महाराजा मानसिंह ने रामदान को तोलेसर नामक एक गाँव दिया था' जिससे निष्कर्ष यह निकलता है कि इन्होंने जोधपुर नरेश महाराजा मानसिंह (सन् १७८२-१८४३ ई०) को निश्चय ही उनका यश गान कर अपनी काव्य प्रतिमा द्वारा प्रसन्न तथा प्रभावित किया होगा।

४४—कविराजा बांकीदास[6] आसिया के वंशजों के उपलब्ध वृत्त[7] के अनुसार इनके आदि पुरुष मालोजी थे। मालोजी की आठवीं पीढ़ी में फतेसिंह हुए

१—डिं० वी० र० (भू०) पृ० ४६। वी० रा० उ० पृ० ३५६। रा० सा० रू० (प०) पृ० २३७। रा० भा० सा० पृ० २११।

२—भ० य० प्र० पृ० १८७-१६०। रा० दू० पृ० ४३, ४४।

३—भ० य० प्र० पृ० १८६-१६०।

४—रा० भा० सा० पृ० २०६।

५—भ० य० प्र० पृ० १६०।

६—मुं० नै० ख्या० भाग २ पृ० १८०। वी० स० इ० पृ० ८७। रा० सा० रू० पृ० १३०-१३३। सदू० (क० ना०) पृ० १६। पृ० ६ आदि।

७—वा० ग्र० प्र० भाग की भू० पृ० ६।

थे जिनके पुत्र बांकीदास थे। इनका जन्म सन् १७८१ ई० में जोधपुर राज्यान्तर्गत पंचभदरा परगना में स्थित भाड़ियावास ग्राम में हुआ था। शैशवावस्था से ही विद्याध्ययन में इनकी विशेष रुचि थी जिसके परिणामस्वरूप इन्होंने संस्कृत, फारसी, डिंगल तथा पिंगल (ब्रज भाषा) भाषाओं का समुचित ज्ञानार्जन किया। इन्होंने अनेक गुरुओं से शिक्षा ग्रहण की थी जिसकी पुष्टि इनकी निम्नलिखित उक्ति द्वारा होती है—

'बंक इयेतक गुरु किए, जिय तक सिर पर केस'।

उक्त भाषाओं के सुज्ञाता होने के साथ ही बांकीदास आशुकवि तथा इतिहास के विद्वान् थे। इनकी ऐतिहासिक विद्वता से सम्बन्धित एक मनोरंजक घटना का उल्लेख मिलता है जिससे कि इनकी इतिहास की जानकारी पर सम्यक प्रकाश पड़ता है[1]। इनकी अनेकमुखी प्रतिभा एवम् व्यक्तित्व से प्रभावित होकर तत्कालीन जोधपुराधिपति महाराजा मानसिंह ने इन्हें अपना काव्य-गुरु स्वीकार किया था। कहा जाता है कि ये महाराज के निकटतम प्रीतिभाजनों में थे और ये जोधपुर नरेश को महाराजा न समझकर केवल राजपुत्र मानते थे। महाराजा मानसिंह ने भीं इन्हें 'कविराजा' की उपाधि, 'ताजीम', 'बांह पसाव' तथा 'पाँव में सोना' प्रदान कर सम्मानित किया था। इतना ही नहीं, इन्हें मोहर रखने का विशेष अधिकार प्राप्त था जिस पर कि नीचे अवतरित पंक्तियाँ अंकित थी।

श्रीमन् मान धरणि पति बहुगुन रास।
जिन भाषा गुरु कीनौ, बांकीदास॥

कविराजा बांकीदास की मृत्यु सन १८३३ ई० में हुई थी। इस अवसर पर महाराजा मानसिंह स्वयं इनके निवास स्थान पर गये थे तथा नीचे लिखित शोक सूचक छन्द कहे थे :—

सद् विद्या बहु साज, बाँकी थी बांका बसु।
कर सूधी कवराज, आज कठीगो आसिया॥१॥
विद्याकुल विख्यात, राज काज हर रहसरी।
बाँका तो विण वात, किण आगल मनरी कहाँ[2]॥२॥

२—बां० ग्रं० प्र० भाग की भू० पृ० ११ तथा मे० रा० भा० सा० पृ० १६६।

२—हे बांकी दास! वसुन्धरा में सद्विद्या अनेक अलंकरणों से चमत्कृत थी। उसका निरालापन लेकर, ऐ कविराज आसिया, तुम कहाँ प्रयाण कर गये। विद्या वंश में प्रख्यात बांकीदास, तुम्हारी अनुपस्थिति में राज्य-कार्य संबंधी प्रत्येक रहस्ययी हृदय की बातें मैं किसके समक्ष प्रकट करूँ।

बांकीदास की रचनाओं के नाम नीचे दिये जाते हैं :—

(१) सूर छत्तीसी (२) सिंह छत्तीसी (३) वीर विनोद (४) धवल पच्चीसी (५) दातार बावनी (६) नीति मंजरी (७) सुपह छत्तीसी (८) वैसक वार्ता (९) मावड़िया मिजाज (१०) कृपण दर्पण (११) मोह मर्दन (१२) चुगल मुख चपेटिका (१३) वैस वार्ता (१४) कुकवि बत्तीसी (१५) विदुर बत्तीसी (१६) भुरजाल भूषण (१७) गंगा लहरी (१८) जेहल जस जड़ाव (१९) कायर बावनी (२०) भक्तमाल नखशिख (२१) सुजस छत्तीसी (२२) संतोष बावनी (२३) सिद्धराय छत्तीसी (२४) वचन विवेक पच्चीसी (२५) कृपण पच्चीसी (२६) हमरोट छत्तीसी (२७) स्फुट संग्रह (२८) कृष्ण चन्द्रिका (२९) विरह चन्द्रिका (३०) चमत्कार चन्द्रिका (३१) मानयशोमंडन (३२) चन्द्रदूषण दर्पण (३३) वैशाख वार्ता संग्रह (३४) श्री दरबार री कविता (३५) रस तथा अलंकार का ग्रन्थ (३६) वृत्त रत्नाकर भाषा व व्याख्या (३७) महाभारत छन्दोनुवाद (३८) गीत व छन्दों का संग्रह (३९) ऐतिहासिक वार्ता संग्रह तथा (४०) अन्तर्लापिका।

उपरिलिखित १-७, ८-१७, तथा १८-२७ संख्या वाले ग्रंथ बांकीदास ग्रन्थावली के प्रथम, द्वितीय एवम तृतीय भागों में क्रमशः प्रकाशित हो चुके हैं। शेष ग्रन्थों की सूचना सीताराम लालस ने पुरोहित हरिनारायण को दी थी जिसका विवरण पुरोहित जी ने तृतीय भाग की भूमिका में प्रस्तुत किया है। प्रकाशित ग्रंथों में भुरजाल भूषण, जेहलजस जड़ाव और सिद्धराय छत्तीसी प्रशंसा प्रधान कृतियों के अन्तर्गत आते हैं। इन तीनों ग्रन्थों में यथा क्रम जयमल और पत्ता, कच्छ भुज के राजा जेहल तथा अन्हिल बाड़ा के राजा राव सिद्धराज जयसिंह की कीर्ति वर्णित है।

४५—किशन जी आढ़ा[1] कृत प्रसिद्ध लक्षण ग्रन्थ रघुवर जस प्रकाश में उल्लिखित छप्पय के अनुसार कवि का परिचय इस प्रकार मिलता है—

दुरसा घर किसनेस; किसन घर सुकवि महेसर।
सुत महेस खुंमाण, खान साहिब सुत जिण घर॥
साहिब घर पनसाह, पनासुत दूलह सुकव पुण।
दूल्ह घरे षट पुत्र, दान १ जस २ किसन ३ बुधो मण ४॥
सारूप ५ चमन ६ मुरधर ऊतन, घणट नगर पाँचेटियो।
चारण जात आढा विगत, किसन सुकवि पिंगल कियो॥

१—रा० सा० रू० पृ० १३३-१३५। रा० हि० ह० ग्रं० खो० भाग १ पृ० ९८, १०३, १६५। आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० १८६, २२९, २४१, २४६। उ० रा० इ० पृ० १२०-१२१। रा० दू० (प्र०) पृ० ३६, ४५।

सारांश यह है कि किशन जी आढ़ा राजस्थान के सुप्रसिद्ध कवि दुरसा जी आढ़ा[1] की आठवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुये थे तथा दूल्ह (दूलह) कवि के तृतीय पुत्र थे। इनका जन्म स्थान मरुधर प्रदेश का विख्यात नगर पांचेटिया था।

किशन जी के जन्म तथा मृत्यु के समय का पता नहीं है किन्तु यह निश्चित है कि ये मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह के राज्यकाल[2] में जीवित थे तथा उनके आश्रय पात्र भी थे अतएव सन् १७७७-१८३८ ई० के आस पास इनका वर्तमान होना निस्संदिग्ध है। कर्नल टाड को राजस्थान यात्रा करते समय इन्होंने प्रचुर मात्रा में ऐतिहासिक सामग्री प्रदान कर अमूल्य सहायता की थी। यह इनके इतिहास प्रेमी होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। किशन जी आढ़ा संस्कृत व हिन्दी के रीति साहित्य से पूर्णतया परिचित थे। 'रघुवर जस प्रकास' रीति ग्रन्थ के अतिरिक्त 'भीम विलास' और सैकड़ों की संख्या में प्राप्त स्फुट कवितायें इनकी काव्य प्रतिभा की सजीव साक्ष्य हैं। भीम विलास का सृजन कवि ने महाराणा की इच्छापूर्ति के निमित्त किया था अतः उसमें महाराणा भीमसिंह की जीवनी तथा शासन प्रबन्ध का वर्णन है।

४६—बीठू भोमा रामदान[3] के जीवन चरित्र का अंश अप्राप्य है। इनके प्रश्रय-दाता बीकानेर के अधिपति महाराज रतनसिंह थे। महाराज की प्रशंसा में इन्होंने 'महाराज रतनसिंह जी रो रूपग' 'रतन विलास', तथा 'महाराज रतनसिंह जी रो गीत साणोर' रचनायें निर्मित किया था। इनके अलावा 'कुंवर सिरदार सिंह जीरो वींदोटो', 'राठोडाँ री पीढियां रा गीत' ग्रंथ तथा महाराज गण पति सिंह, महाराजा लिखमीनिंह, महाराज सूर सिंह तथा राजस्थान की पूज्या देवी करणी जी प्रभृति से सम्बन्धित अनेक स्फुट कवितायें रची थीं। ये समस्त रचनायें अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर[4] में उपलब्ध हैं।

बीठू भीमा रामदान का रचना काल सन् १८२३ ई० के आस पास है।

(२) वीररसात्मक काव्य

४७—इस युग में लगभग एक सौ वर्ष पर्यन्त वीर रस प्रधान कविताओं की रचना अक्षुण्ण रूप से चलती रही। इस परम्परा के विश्रंखलित होने के कारणों

१—अ० १६।

२—म० य० प्र० पृ० १६२।

३—रा० सा० रू० (प०) पृ० २४५। रा० भा० सा० पृ० २०६, २०६, २७५। रा० दू० (प्र०) पृ० ४५।

४—सी० आर० एम० पृ० २१-२४। डि० वी० र० (भू०) पृ० ४६।

पर ध्यान देने के पूर्व इस काल की प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं का पर्यवेक्षण अनापेक्षित न होगा। ये घटनायें समय क्रम के अनुसार इस प्रकार हैं—

(१) मुगल साम्राज्य के प्रति राजपूतों का विद्रोह (लगभग सन् १६५०-१७१० ई० तक),

(२) मुगल साम्राज्य का अधः पतन (सन् १७१०-१७५१ ई०,)

(३) राजपूत मरहठा संघर्ष (सन् १७५१-१७९२ ई०) तथा

(४) अंग्रेजी राज्य की स्थापना और राजपूतों का सहयोग (सन् १७९२-१८५० ई० के लगभग तक)।

ऊपर उल्लेख की हुई घटनाओं पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि मुगल राज्य के छिन्न-भिन्न होने के साथ ही वीर रसात्मक काव्य लेखन की परिपाटी एकदम उठ सी गई। इसके निम्नलिखित कारण थे—

(१) दिल्ली तथा पास पड़ोस के प्रदेशों से सम्बन्ध विच्छेद हो जाने के कारण कवियों विशेषतया चारणों और भाटों के दृष्टिकोण में संकीर्णता आ गई थी।

(२) ऐश्वर्य, विलास एवम् वासनात्मकता की अधिकता के परिणाम-स्वरूप, डा० रघुवीर सिंह के शब्दों में, 'साहित्य साधना राजस्थान से अन्तर्हित हो गई थी। कविता राज दरबार के मनोविनोद एवम् सन्तों के विचार प्रदर्शन की ही वस्तु रह गई थी।[1]

(३) जन्मजात राजपूत योद्धा पूर्णतया पतित एवम् क्षात्र-धर्म विस्मृत कर अपनी कर्त्तव्य प्रेरक बुद्धि से हाथ धो चुके थे।

ऐसे अनुपयुक्त वातावरण तथा अप्राकृतिक परिस्थितियों में पड़ने पर वीर रस के स्रोत का राजस्थान के बालुका रेणु सदृश जर्जरित हृदयों में तरंगित होने की अपेक्षा विलीन हो जाना स्वाभाविक ही हुआ। इस विषय के इस युग के अन्तिम कवि सूर्यमल मिश्रण हुए थे। डा० रघुवीर सिंह ने कहा है कि राजस्थान के इस घोर पतन को देखकर उसकी आत्मा रोती थी, एवं वह राग रंग में डूबा हुआ विगत कालीन गौरव के स्मरण में ही आत्म तुष्टि का अनुभव करता था।[2] इन शब्दों द्वारा तत्कालीन अवस्था का वास्तविक संकेत मिलता है।

वीरत्व विषयक इस काल के काव्य रचयिता जग्गा खिड़िया (र० का० सन् १६५८ ई० के लगभग), कुंभकर्ण सांदू (र० का० सन् १६७५ ई०), वृन्द (सन् १६८३-१७२३ ई०), बादर ढाढ़ी (र० का० १६९३ ई० के लगभग), जोगीदास

१—पूर्व आधुनिक राजस्थान (प्रथम संस्करण) पृ० २१९।

२—वही, पृ० २८३।

(र० का० १७१२ ई० के आस-पास), वीरभांण रत्नू (र० का० सन् १७३०-३३ के लगभग) करणीदान[1] (र० का० सन् १७४३ ई० के लगभग) कविराजा बांकीदास आसिया[2] (सन् १७७१-१८३३ ई० पर्यन्त) और सूर्यमल मिश्रण (सन् १८१५-१८६३ ई० तक) हैं।

४८—जग्गा खिड़िया[3] का वास्तविक नाम जगमल खिड़िया है जिसका एक अन्य संक्षिप्त रूप जगो भी है। इनकी जन्म तिथि, स्थान एवम् मृत्यु काल आदि जीवन सम्बन्धी उल्लेखों का प्रायः अभाव सा है। मारवाड़ राज्य के अन्तर्गत स्थित विलासो के निकटस्थ रामासनी निवासी भाट राव द्वारा डा० टेसीटरी को जगो खिड़िया का एक वंश वृक्ष प्राप्त हुआ था जिसके अनुसार इनके आदि पुरुष लूण चन्द्र थे। उनकी चतुर्थ पीढ़ी में रतनो हुए थे जिनके जगो तथा देवो नाम के दो पुत्र थे।[4] मोती लाल मेनारिया के कथनानुसार 'इनके वंशज आज कल सामल खेड़ा गांव में रहते हैं जो सीता मऊ राज्य के अन्तर्गत है'।[5]

जग्गा खिड़िया विरचित ग्रन्थ का नाम 'वचनिका[6] राठौड़ रतनसिंहजी री महेश दासोतरी' है, जिसके आधार पर इनका रचना काल सन् १६५८ ई० के लगभग निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त इनके रचे गीत[7] तथा छप्पय[8] भी मिलते हैं।

४९—कुंभकर्ण सांदू[9] के जीवन का इतिवृत्त पूर्णतया अन्धकार में है। मिश्र बन्धुओं ने इन्हें मारवाड़ का निवासी बताया है[10]। इनका रचा हुआ ग्रन्थ रतन रासो मिलता है जिसका रचना काल सन १६७५ ई के लगभग है। अतएव उस समय के आस पास इनका वर्तमान होना निश्चित सा है।

१—अ० ४०।

२—अ० ४४।

३—डि० वी० र० (भू०) पृ० ४३। रा० सा० रू० (प०) पृ० २२८। रा० हि० द० ग्रं० २ पो० पृ० १२७।

४—व० रा० र० म० भू० पृ० २।

५—रा० गा० सा० पृ० १५८।

६—तुकान्त वाक्यमय गद्य तथा पद्य मिश्रित रचना को वचनिका कहते हैं। साहित्यशास्त्रियों के अनुसार इसे मिश्रकाव्य अथवा चम्पू काव्य कहते हैं।

७—सी० आर० एम० पृ० २।

८—रा० भा० सा० पृ० १५६।

९—मि० वि० भाग २, पृ० ५५२। रा० भा० सा० पृ० २१०।

१०—मि० वि० भाग २ पृ० ५५२।

५०—वृंद[१]—हिन्दी साहित्य के सुपरिचित सूक्तिकार[२] बृन्द जी की जन्मतिथि जन्मभूमि, जाति प्रभृति जीवन सम्बन्धी समस्यायें बहुत समय से विवाद का विषय रही हैं। विद्वानों ने यथा सम्भव सामग्री संकलन कर अपनी अपनी सम्मतियाँ प्रदान किया है। इस दिशा में मोती लाल मेनारिया द्वारा प्रस्तुत तथ्य, जो कि उन्हें बृन्द-रत्नावली तथा अन्य कवियों के हस्तलिखित ग्रन्थों में प्राप्त हुये हैं, महत्वपूर्ण, वैज्ञानिक और सत्य के निकट हैं। अतएव उनके द्वारा उल्लिखित वृन्द जी की ज़ीवनी[३] का सारांश यहाँ उद्धृत किया जाता है।

बृन्द का पूर्ण नाम बृन्दावन दास था। इनका जन्म सन् १६४३ ई० में जोधपुर राज्य में स्थित मेड़ता नामक स्थान में हुआ था। इनके पिता का नाम रूप जी तथा माता का नाम कौशल्या था। ये सेवक अथवा भोजक जाति के थे। काशी-वासी तारा पंडित इनके गुरु थे। इनकी पत्नी का नाम नवरंग दे था। बल्लभ जी इनके पुत्र थे। अपनी प्रतिभा के प्रभाव से अपने जीवन में ही इन्होंने समुचित प्रतिष्ठा तथा प्रसिद्धि प्राप्त कर लिया था। मुगल सम्राट औरंगजेब, जोधपुर नरेश महाराज जसवंत सिंह एवम् किशनगढ़ के महाराजा मानसिंह और राजसिंह ने इन्हें सम्मानित किया था। इनकी मृत्यु लगभग ८० वर्ष की आयु में किशनगढ़ में हुई थी।

बृन्द के ब्रजभाषा में लिखित एकादश ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त डिंगल भाषा में कुछ स्फुट रचनायें भी मिलती हैं।

५१—जोगीदास[४] के जीवन से सम्बद्ध लगभग कोई सूचना प्राप्त नहीं है। इनके लिखे दो ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। प्रथम 'वरसलपुरगढ़ विजय' है जिसका अन्य नाम 'सुजाणसिंह रो रासो' है तथा द्वितीय 'राधा किसन जी रा दूहा' है जिसका इतर नाम है 'जोगी दास रा दूहा'[५]।

जोगीदास नामक एक कवि का उल्लेख और भी मिलता है[६]। ये प्रतापगढ़

१—रा० सा० रू० पृ० ६६-१०६। रा० भा० सा० पृ० १४५, १६३-१७०, २११। र० रू० गी० (भू०) आदि।

२—रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३३० संवत् २००३ वि० का० संस्करण।

३—रा० पि० सा० पृ० ६७-१०५।

४—वी० रा० इ० पृ० २६६। रा० हि० ह० ग्रं० खो० भाग १ पृ० १६२, १६८।

५—सी० आर० एम० पृ० ४८, ५८ तथा १३५।

६—रा० हि० ह० ग्रं० खो० भाग १ पृ० १६८, १६६ तथा रा० भा० सा० पृ० १६०।

राज्य के शासक महारावत हरिसिंह के आश्रय में रहते थे। इन्होंने सन् १६६४ ई० में हरिसिंह की आज्ञानुसार 'हरि पिंगल प्रबन्ध' नाम के पिंगल शास्त्र विषयक ग्रन्थ का प्रणयन किया था[1]।

'राधा किसन रा दूहा' रचना के अन्त में प्रतिलिपिकाल के अतिरिक्त अन्य अस्पष्ट तिथि सं० १७१० वि० अथवा दूसरे शब्दों में सन् १६५३ ई० अंकित है जो कि बहुत संभव है ग्रंथ की रचना तिथि हो। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से इस रचना तथा हरि पिंगल प्रबन्ध के लेखन काल में केवल ग्यारह वर्षों का अंतर पड़ता है जो कि किसी साहित्यकार के जीवन में सर्वथा संभव है। अतः असंभव नहीं कि ये, दो न होकर, एक ही व्यक्ति रहे हों।

५२—वीरभाण रत्नू—इस कवि के जीवन से संबंधित अधिक विस्तार के ज्ञान का अभाव है। केवल इतना पता है कि वीरभाण रत्नू घड़ोई ग्राम के निवासी थे जो कि जोधपुर राज्य के अंतर्गत है। मोती लाल मेनारिया ने इनका जन्म काल संवत् १७४५ वि० अर्थात् सन् १६६२ ई० और मरणकाल सं० १७६२ वि० अर्थात् १७३५ ई० लिखा है[2] किन्तु इस सूचना के आधार के संबंध में वे मौन हैं।

वीरभाण रत्नू विरचित डिंगल साहित्य का एक प्रसिद्ध ग्रंथ, राजरूपक है जिसका प्रकाशन भी काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हो चुका है। इस ग्रंथ के अवलोकन से यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि इसमें आँखों देखी घटनाओं का वर्णन किया गया है जिसका तात्पर्य यह है कि चारण कवि वीरभाण जोधपुर नरेश अभयसिंह के साथ अहमदाबाद के युद्ध में अवश्य था। इन दोनों बातों की ओर स्वर्गीय पं० रामकर्ण आसोपा तथा मोतीलाल मेनारिया ने भी संकेत स्पष्टतया किया है[3]।

कहा जाता है कि रचना को समाप्त करने के उपरांत वीरभाण ने उसे महाराजा के समक्ष उपस्थित किया। ग्रंथ कलेवर में बड़ा था। युद्धादि से व्यस्त जीवन होने के कारण, महाराजा ने ग्रंथ का संक्षिप्त रूपांतर कर सुनाने को कहा। इस पर स्वच्छंद प्रकृति वीरभाण ने निवेदन किया कि मैंने ऐसा ग्रंथ नहीं रचा है जिसका सारांश लेकर छोटा ग्रंथ बन सके। कहीं गागर का जल कुलिया में आ सकता है[4]। फलतः, ग्रंथ अपुरस्कृत रह गया। तदनंतर, अभयसिंह की पंचम

१—संवत सतर इक बीस में, कातिक सुभ पख चंद।
हरिपिंगल हरिश्चंद जस, बणियौ खीर समंद॥
और प्र० रा० इ० पृ० १७५।

२—रा० भा० सा० पृ० १७८।

३—रा० रू० की भू० पृ० ३ तथा रा० भा० सा० पृ० १७८।

४—रा० रू० भू० पृ० ४।

पीढ़ी में महाराजा मानसिंह ने इस ग्रंथरत्न को देखकर कवि के वंशज को 'घड़ोई' नामक ग्राम भेंट दिया जो कि अद्यावधि उसके वंशजों के अधिकार में है[१]।

वीरभाण की एक ही रचना उपलब्ध है किन्तु उसके काव्य कौशल को देखते हुये सहज अनुमान किया जा सकता है कि उसने अन्य रचनायें अवश्य की रही होंगी।

५३—सूर्यमल मिश्रण का जन्म सन १८१५ ई० (कार्तिक बदी १, सं० १८७२ वि०) में बूंदी में हुआ था[२]। इसके वंश के आदि पुरुष ईश्वर कवि थे[३]। ईश्वर कवि की नवम् पीढ़ी में चंडीदान तथा उनकी पत्नी भगवान बाई,[४] जो कि कुम्हारिया (जयपुर) के ठाकुर जोरावर सिंह की पुत्री थी, के संसर्ग से सूर्यमल मिश्रण का जन्म हुआ। इसके अनुज का नाम जयलाल था जो कि कवि और वैयाकरण था। इसका उल्लेख कवि ने 'वंश भास्कर' में किया है :—

प्राता कवि रविमल्ल को, लघु सोदर जयलाल।
पाणिनीय बुध धर्म पढु विद्या विनय विसाल ॥

सूर्यमल ने लब्ध प्रतिष्ठ दादूपंथी साधु स्वरूपदास, आशानंद तथा मुहम्मद-शाह नामक मुसलमान आदि विद्वानों से अनेक विषयों की शिक्षा ग्रहण किया था[५]। कवि ने ६ विवाह किये थे। उसी के शब्दों में पत्नियों के नाम निम्नलिखित हैं :—

दोला १ सुरजा२ विजयिका३ जसा४ रु पुष्पा५ नाम।
पुनि गोविंदा६ षट प्रिया अर्कमल्ल कवि वाम ॥

संतान के अभाव में सूर्यमल ने मुरारिदान को दत्तक पुत्र के रूप में अंगीकार किया। इनके एकादश प्रसिद्ध शिष्यों में राजस्थान के प्रसिद्ध ग्रन्थ वीर विनोद के रचयिता गणेश पुरी भी थे[६]। सूर्यमल के जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनायें तथा किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं जिनमें से बहुतों का उल्लेख वीर सतसई के सम्पादकों ने पुस्तक की भूमिका में किया है[७]।

१—वही, पृ० ५।

२—मुंशी देवी प्रसाद, कविरत्न माला पृ० ११४, मोतीलाल मेनारिया, डिं० वी० र० पृ० ५० तथा ६८, रा० सा० रू० पृ० १४४, रा० भा० सा० पृ० २३८, रा० पि० सा० पृ० २१६, वी० स० की भू पृ० १२, मि० व० वि० पृ० ६३४।

३—वी० स० की भू० पृ० ११।

४—वही।

५—वंश भास्कर प्रथम मयूख पृ० १३, १५ तथा १६।

६—वी० स० भू० पृ० २३, २४, रा० भा० सा० पृ० २४६, २५० तथा रा० पि० सा० पृ० २०३, २२५।

७—वी० स० भू० पृ० २४, ३४।

सूर्यमल मिश्रण एक महान इतिहासकार, उच्चकोटि के कवि तथा असाधारण प्रतिभा सम्पन्न षडभाषाभिज्ञ विद्वान् थे। इनकी विद्वत्ता के विषय में इनके सुयोग्य दत्तक पुत्र कविराजा मुरारिदान ने लिखा है—

> देखो चंडीदान रा सुतरो सुजस सुजाण।
> दोहा मुर माहे दुरस वढ़ियौ अबै वखाण॥
> चउदह विद्या चातुरी, चौसठ कला चबात।
> मीमांसा माम्मट वले, पातंजल हि पढ़ात॥
> न्याय उदधि खेवट निरख, वैयाकरण विशेष।
> पालकाप्य नाकुल प्रमख, साकुन शास्त्र असेस॥[1]

इनके उत्कृष्ट गुणों की प्रशंसा अलवर के कवि रामनाथ कविया, कोटा के कविराजा साहब भवानीदान महियारिया, रतलाम के उमराव श्रवण के ठाकुर जोरावरसिंह, राव गुलाब जी, सीतामऊ के स्वरूप दास महाराज तथा महाराज कुमार रत्नसिंह, रतलाम नरेश[2] तथा वंश भास्कर के टीकाकार कृष्ण सिंह प्रभृति व्यक्तियों ने किया है। इसके अतिरिक्त सूर्यमल मिश्रण की स्वयं की उक्तियाँ उनकी स्वतंत्र प्रकृति एवम् स्वाभिमानी व्यक्तित्व का यथेष्ट परिचय देती हैं। इन्होंने अपने जीवन का अधिक अंश बूंदी के राव राजा रामसिंह के प्रश्रय में व्यतीत किया था। इनकी मृत्यु सन् १८६८ ई० में हुई थी[3]।

(३) भक्ति प्रधान अथवा शान्त रसात्मक काव्य

५४—इस युग में भक्ति प्रधान अथवा शान्त रसात्मक काव्य के प्रणेता राजस्थान में एक बड़ी संख्या में हुये किन्तु अधिकांश कवियों ने अपनी रचनाओं का प्रकाशन पिंगल भाषा[4] के माध्यम से किया। अन्य कारणों के साथ यह भी एक प्रमुख कारण था जिससे कि प्राचीन काल के भक्ति साहित्य की भांति मध्ययुग में भी इस प्रकार के काव्य का सृजन डिंगल में अल्प मात्रा में हुआ। इस युग में भी सगुणोपासक कवियों का प्रतिनिधित्व अपरिवर्त्तित रहा। प्राचीन युगीय काव्य नायक कृष्ण की प्रमुखता लुप्त प्राय हो गई। वस्तुतः इस युग में किसी भी अवतारी रूप को विशेष प्रधानता काव्य क्षेत्र में प्राप्त नहीं हो सकी।

१—डिंगल कोष पृ० ६।

२—वी० स० पृ० ५७, ६४।

३—मुंशी देवी प्रसाद कृत कविरत्नमाला पृ० ११४, वी० स० भू० पृ० १२, १५, तथा रा० पि० सा० पृ० २१६।

४—राजस्थान में ब्रजभाषा की व्यञ्जना पिंगल से होती रही है।

मध्यकाल के भक्ति प्रधान अथवा शान्त रसात्मक काव्य रचयिताओं में सोढ़ी नाथी (रचना काल सन् १६७७ ई०), खेतसी सांदू (रचना काल सन् १७३३ ई०), ओसवाल उत्तम चन्द भंडारी रचनाकाल सन् १८०३ ई०) कविराजा बांकी दास आशिया[1] (सन् १७७१-१८३३ ई०) ओपाजी आढ़ा (रचना काल सन् १८०३-१८३३ ई०) के नाम उपलब्ध हैं।

५५—सोढ़ीनाथी का जीवन गत विवरण संदिग्ध है। उनके सम्बन्ध में केवल इतना ज्ञात है कि वे भोजराज की पुत्री थीं। यदि यह निश्चित हो कि यह उमरकोट के राणा भोजराज थे तो सोढ़ीनाथी का व्यक्तित्व निःसंदिग्ध और महत्वपूर्ण हो जाता है। राणा भोजराज चन्द्र सेन के पुत्र थे। इनका शासन काल लगभग १६ वीं शती द्वितीयार्ध के पश्चात् से १७ वीं शती ई० द्वितीयार्ध पर्यन्त था। मुहणोत नैणसी के अनुसार भोजराज का उत्तराधिकारी और पुत्र ईशरदास रावल सबलसिंह द्वारा सन् १६५३ ई० (संवत् १७१० वि०) में गद्दी से उतारे गये थे। अतएव नाथी उनकी बहिन हो सकती हैं। संभवतः इनका विवाह देरावर में हुआ था। कुछ समय के उपरांत वे वैष्णव धर्म की भक्तिमय दीक्षार्थी (Fervent proselyte) हो गई थीं और धार्मिक कृतियों की रचना करने लगी थीं।[2]

इनका रचना काल सन् १६७३-७४ है।[3] इनकी रचनाओं के नाम १—भगत भावरा चन्द्रायण २—गूढारथ ३—साख्याँ ४—हरि लीला ५—नाम लीला ६—बाल चरित और ७—कंस लीला है। ये सभी भक्ति-भाव से ओत-प्रोत हैं।

५६—खेतसी सांदू[4] का जीवन सम्बन्धी विस्तार अतीत की ओट हो चुका है। ये जोधपुर के अधीश्वर महाराजा अभयसिंह के अनुकम्पा-पात्र थे। ये प्रतिभाशाली कवि तथा उत्कृष्ट विद्वान् थे। इनका उपनाम 'सीह' था।[5] इनका लिखा हुआ भाषा भारथ नामक एक बृहत् ग्रन्थ मिलता है जो कि महाभारत के १८ पर्वों का संक्षिप्तानुवाद है। इनका रचना काल सन् १७३३ ई० है।[6]

५७—ओसवाल उत्तम भंडारी[7] की जीवन विषयक घटनाओं पर समय का

१—अ० ४४।

२—डी० सी० एम० से० २ बी० पी० पा० १ पृ० १२, १३, हिं० सा० आ० इ० पृ० २६०।

३—वही और सी० आर० एम० पृ० ५१।

४—रा० भा० सा० पृ० १८०।

५—हिंदुस्तानी वाल्यूम १३ सन् १९४३ ई०, पृ० ६७।

६—रा० भा० सा० पृ० १८०।

७—रा० सा० रू० (प०) पृ० २४१।

विशाल आवरण पड़ गया है। ये जोधपुर के नृपति महाराजा मानसिंह के समय में वर्तमान थे। इनके रचित दो ग्रन्थ. भ्रम विहंडन और नाथ चन्द्रिका, प्रसिद्ध हैं। इनका रचनाकाल सन् १८०३ के लगभग है।

५८—ओपा जी आढ़ा[1]—ये सिरोही राज्य में स्थित पेशवा ग्राम में उत्पन्न हुए थे। पुस्तक के रूप में इनकी कोई रचना अद्यावधि प्राप्त नहीं हुई है। केवल स्फुट गीत ही उपलब्ध होते हैं। ये गीत ही इनकी जन प्रियता एवम् प्रसिद्धि के उपादान हैं। मोती लाल मेनारिया ने इनका लेखन काल सन् १८०३-१८३३ ई० पर्यन्त बताया है।[2]

(४) रीति काव्य

५६—डिंगल में रीति ग्रन्थों का निर्माण पूर्ण प्रौढ़ता का परिचायक है। सन् १६६४ ई० का जोगी दास कृत हरि पिंगल प्रबन्ध प्रथम लक्षण ग्रन्थ मिलता है। गौरी शङ्कर हरिचन्द्र ओझा कृत प्रतापगढ़ राज्य का इतिहास में लिखा है कि 'उसने भाषा साहित्य के प्रायः अनेक ग्रंथों का मज्जन कर उक्त ग्रंथ की रचना की थी'।[3] यह कथन हरि हिंगल प्रबन्ध के पूर्व रचे गये ग्रंथों का सांकेतिक माना जा सकता है किन्तु वस्तुतः इसके पूर्व का कोई भी लक्षण ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। जोगी दास के उपरान्त कुछ अन्य कवि आचार्यों ने रीति ग्रन्थों का प्रणयन किया परन्तु उनके द्वारा काव्यांगों का विशिष्ट विवेचन, आलोचन-प्रत्यालोचन तथा नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं हुआ। इन लक्षण ग्रंथों के निर्माताओं में कवित्व तत्व की ही प्रधानता थी अतएव इनके द्वारा किसी वाद—अलंकार, रस, रीति, ध्वनि, की प्रतिष्ठापना नहीं हुई। इसमें संदेह नहीं कि ये सहृदय, भावुक तथा काव्य रचना के मर्मज्ञ कवि थे। फलतः इन्होंने अपने काव्य कौशल का प्रदर्शन करते हुए वर्ण, मात्रा, गण, दग्धाक्षर, दुगण, फलाफल, अक्षर त्याग, वयणसगाई, काव्य दोष, रस, छन्द एवम् गीतों के भेद, लक्षण एवम् उदाहरण प्रस्तुत किये।

इस युग के और डिंगल साहित्य के रीति ग्रंथकारों में जोगी दास[4] (रचना काल १६६४ ई० के आस पास), हम्मीर रत्नू (रचना काल सन् १७३६ ई०), किशन जी आढा[5] (रचना काल सन् १८८२-१८२४ ई० के आस-पास) तथा मनसाराम 'मंछ' (सन् १७७७-१८३५ ई०) के नाम प्राप्य हैं।

१—कल्याण पृ० २।

२—रा० भा० सा० पृ० १६८।

३—प्र० रा० इ० पृ० १७५ (पाद-टिप्पणी)।

४—अ० ५१।

५—अ० ४५।

६०—हम्मीर रत्नू का जन्म स्थान जोधपुर राज्यान्तर्गत स्थित घड़ोई ग्राम था[1]। मिश्रबन्धु विनोद में भी हम्मीर दान चारण का नाम मिलता है। मिश्र बन्धुओं ने इनका जन्म काल सन् १७१६ ई० माना है[2]। अनुमानतः दोनों एक ही व्यक्ति थे। ये कच्छभुज नरेश महाराव देशल (प्रथम) के महाराजकुमार लखपत के प्रश्रयावलम्बी थे[3]। मिश्रबन्धुओं ने इनका रचना काल सन् १७४३ ई० स्थिर किया है।[4] इनका लक्षण ग्रन्थ लखपत पिंगल मिलता है जिसका रचना काल निम्नलिखित छप्पय के अनुसार सन् १७३६ ई० निश्चित होता है—

संवत सतर छिनुओ पणां तस वरसपटंतर।
तिथि उत्तिम सातिम्म बार उत्तिम गुरु वासर॥
माह मास व्रतमान अरक बैठो उतराइणि।
सुक्ल पष्य रिति सिसिर महासुभ जोग सिरोमणि॥
विसतार गाह मात्रा वरण सुजि पसाउ सरसत्ती रो।
कहियो हमीर चित चोजिकरि पिंगल गुण लखपत्ति रो॥

लखपत पिंगल के अतिरिक्त हम्मीर रत्नू ने गुण पिंगल प्रकाश, हम्मीर नाम माला, भागवत दर्पण, ब्रह्माण्ड पुराण, जोतिष जड़ाव प्रभृति इक्कीस ग्रन्थ रचे थे[5]।

६१—मनसाराम सेवक 'मंछ'[6] की जन्मतिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। पुरोहित हरिनारायण के मतानुसार इनका जन्म सन् १७७० ई० में हुआ था[7]। मोतीलाल मेनारिया ने इनका जन्म काल सन् १७७३ ई० माना है।[8] इन तिथियों में प्रथम के अधिक शुद्ध तिथि होने की सम्भावना है क्योंकि यह तिथि पुरोहित हरि नारायण को मनसाराम के कुलोत्पन्न कवि भाईमल द्वारा ज्ञात हुई थी। मनसाराम का जन्मस्थान जोधपुर राज्यान्तर्गत स्थित गूँदी था—

१—रा० भा० सा० पृ० १६१।

२—मि० वि० भा० २ पृ१।

३—रा० भा० सा० पृ० १६१।

४—मि० वि० भा० २ पृ० ७५८, प्रथम संस्करण, सं० १७६० वि०, कवि संख्या ७६८।

५—रा० भा० सा० पृ० १६१।

६—मनसाराम का काव्योपनाम। डि० वी० र० (भू०) पृ० ४६-७। रा० सा० रू० पृ० १२८।

७—रा० दू० (प्र०) पृ० ४५। र० रू० गी० भ० पृ० १०।

८—रा० भा० सा० पृ० २०४।

जोधनगर जग जाण वास गूंदी विसतारा।

इनके पिता का नाम बगसीराम (बख्शीराम) और माता का नाम रुक्मिणी था। प्रारम्भिक शिक्षा इन्होंने अपने चाचा हाथीराम से ग्रहण किया था। तदुपरान्त, जोधपुर राज्य के तत्कालीन सचिव अमरसिंह भंडारी के पुत्र किशोरदास भंडारी ने इनके अध्यापन का कार्य किया था। अपने गुरु की बन्दना इन्होंने नीचे उद्धृत छप्पय में की है—

बंद वीर बजरंग कीसवर मंगलकारी।
समरमात सरसती विमल कविता विसतारी॥
सदगुर प्रणाम किशोर सचिव अमरेश सवाई।
करे पिता जिमि कृपा तिकण गुण समझ बताई॥
मो मत प्रणाम कवि मंछ कह, सुकवि वांण ग्र'थांण सुण।
रस-गाथ-गीत पिंगल रचे, गहर कहूँ रघुनाथ गुण॥[1]

'मंछ' कवि का व्याह सन् १७८८ ई० में हुआ था। इनकी पत्नी का नाम राधा था जो कि जोधपुर के तेजकरण सेवक की कन्या थी।[2] विवाह के चार वर्ष पश्चात् इनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ था जिसका नाम रामनाथ था।[3]

ये जोधपुराधीश महाराजा मानसिंह के विशिष्ट कृपा-पात्रों में थे। इनकी काव्य शक्ति से प्रभावित होकर महाराज ने इन्हें पुरस्कृत एवम् प्रतिष्ठित किया था। इनकी प्रतिभा असाधारण तथा अनेकमुखी थी। ये कवि और आचार्य होने के साथ ही एक उच्च श्रेणी के भक्त भी थे। इनका रचा हुआ केवल एक ही ग्रन्थ रघुनाथ रूपक गीताँ रो अभी तक मिला है जिसका रचना काल सन् १८०६ ई० है—

संवत ठारे सतक बरस तेसठो वखाणौ।
सुकल भादवी दसम बार ससि हर बरताणौ॥
मत अनुसारे में कह्यो सुघ कर लियौ सुजाण।
रूपक यह रघुनाथरो पिंगल गीत प्रमाण॥[4]

जोधपुर दरबार के एक प्रधान एवम् मंछ कवि के समसामयिक पिंगल शास्त्र के विद्वान उत्तम चन्द भंडारी ने निम्न अवतरित शब्दों में रघुनाथ रूपक गीतांरों की श्लाघ्य उत्कृष्टता की ओर इंगित किया है जिससे कि ग्रन्थ कर्ता कि कविता करने की क्षमता का सहज अनुमान लगाया जा सकता है—

१—र० रू० गी० पृ० ४, छन्द संख्या ७।
२—वही भू० पृ० १०।
३—वही पृ० १५।
४—र० रू० गी० पृ० २८२।

आछो कीध इसोह, रस ले साहित सिंधुरो।
जग सह पियण जिसोह, रूपक राम पयोधरुख ॥
मनसा राम प्रबंध मझ, राखे मनसाराम।
कियो भलो हिज काम कवि, कियो भलो हिज काम।[1]

अर्थात् साहित्य सिंधु का सार रस) लेकर ऐसे उत्कृष्ट रूपक (रघुनाथ रूपक) का सृजन किया है जिसका पान कर समस्त विश्व राम रूपी पयोधि की ओर उन्मुख होता है। मनसाराम ने प्रबन्ध (रघुनाथ रूपक) में मनसा (हृदय स्थित अथवा राम चरित मानस) के राम की प्रतिष्ठापना कर हृदय जन्य (हिज) श्रेष्ठ कवि कर्म तथा मानसजनित उत्कृष्ठ कार्य किया है।

(५) श्रृङ्गार प्रधान काव्य

६२—प्राचीन-युगीय श्रृङ्गारिक काव्य के सदृश इस काल में भी डिंगल भाषा में श्रृंगार प्रधान काव्य का अभाव रहा। केवल नाम मात्र के लिए कुछ इने-गिने कवियों ने इस प्रकार के साहित्य की ओर ध्यान दिया। इस उपेक्षा के परिणाम स्वरूप इस युग में रचित श्रृंङ्गार काव्य अत्यन्त साधारण श्रेणी का रहा। और जो कुछ भी इस कोटि की कवितायें उपलब्ध हैं, उनका अधिकांश स्फुट काव्य के रूप में है, ग्रंथों में नहीं।

इस समय के श्रृंङ्गार प्रधान काव्य निर्माताओं में जोगी दास[2] (रचनाकाल सन् १६५३-१६६४ के आस-पास), एक अज्ञात कवि (र० का० सन् १७३१ ई०), बाघमल (र० का० सन् १७८६ ई०) तथा कविराजा बांकी दास आसिया[3] और कविराव बख्तावर (सन् १८१३-१८२४ ई०) की रचनायें उपलब्ध हैं।

६३—अज्ञात कवि—एक अज्ञात कवि कृत प्रेमपत्री अथवा प्रेमपत्री रादूहा नामक रचना इस काल में अत्यधिक लोकप्रिय हुई। इसकी अनेक प्रतियाँ उपलब्ध हैं।[4] इसका रचना काल सन् १७३१ ई० के लगभग है जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट होता है—

'संवत १७८८ बि० रचीयै। आसु मास मझार।
सुदि तेरस पष उजलो। वाचंत हुवै जयकार ॥[5]

१—र० रू० गी० पृ० २८६।

२—अ० ४८-४६।

३—अ० ४२-४४।

४—सी० आर० एम० पृ० १४, ५२, ६७, ६८ तथा पुस्तक प्रकाश, जोधपुर काव्य गुटका न० २१ और ३०।

५—पु० प्र० जो० काव्य गुटका न० ३० (मिश्र)।

६४—बाघमल कवि के जीवनी का अंश तमावृत है। इनके लिखे हुए शृङ्गार के दूहे मिलते हैं जिनसे सम्बन्धित अधोलिखित सूचना विदित है—

'दूहा संपूरण लीषतं श्री बाघमल संवत १८४३' (अर्थात सन् १७८६ ई०) फागुण सुद ५ जालोर मध्ये।[1]

६५—कविराव बख्तावर का जन्म सन् १८१३ ई० के लगभग मेवाड़ राज्य के वसी ग्राम में हुआ था।[2] प्रारम्भ में इनका नाम मोडजी था। इनके पिता सुखराम थे। इनके एक भाई भी थे जिनका नाम गोपाल था। दोनों भाई शैशवावस्था में ही थे जब कि इनके पिता परलोकवासी हुये। किन्तु बसी के ठाकुर अर्जुन सिंह, जिनके निवासस्थल पर मोडजी का संसार-प्रवेश हुआ था, ने इनके पालन-पोषण का गुरु भार स्वयमेव अपने सिर पर उठा लिया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी योग्यता तथा विद्वत्ता द्वारा मोडजी को सुशिक्षित एवं व्यवहार-कुशल भी बना दिया।

मोडजी को सन् १८५२ ई० में अपने बरलिया नामक ग्राम से संबंधित झगड़े के कारण विवश होकर उदयपुर जाना पडा।[3] सन् १८५४ में महाराणा स्वरूप सिंह जिनसे कि कथित झगड़े के कारण मोडजी पूर्व परिचित हो चुके थे, ने इनके कविता और वाक्-चातुर्य की ख्याति सुनकर अपने दरबार में एक स्थान दे दिया। यह महाराणा स्वरूप सिंह की ही अनुकंपा का प्रतिफल था जिससे कि मोड जी का पुनर्नामकरण संस्कार हुआ और ये बख्तावर के नाम से प्रसिद्ध हुये। महाराणा ने समय-समय पर कवि राव बख्तावर को हाथी, सिरोपाव, मिहारी और डांगरी ग्राम हवेली, पैर में सोना इत्यादि प्रदान किये। महाराणा स्वरूप सिंह के दिवंगत होने के अनंतर भी तीन पीढ़ियों तक, महाराणा सज्जन सिंह, महाराणा शम्भु सिह और महाराणा बखत सिंह के शासन कालों में, इनकी प्रतिष्ठा ज्यों की त्यों स्थिर रही। इनकी ऐहिक लीला का अंत सन् १८९४ ई० में लगभग ८१ वर्ष की अवस्था में हुआ।[4] इनका स्मारक राजकीय दग्धस्थान महासमितियों में महाराणा अमर सिंह प्रथम के सामने है।

वैसे तो इनके रचे एकादश ग्रंथ हैं किन्तु डिंगल साहित्य के अंतर्गत रखने योग्य 'केहर प्रकाश' है जो कि प्रकाशित भी हो चुका है।

१—वही काव्य गुटका न० २१ (मिश्र)।

२—के० प्र०, ग्रंथकर्त्ता की जीवनी, पृ० १, रा० भा० सा० पृ० २४७। रा० पि० सा० पृ० २२७।

३—के० प्र०, ग्रंथकर्त्ता की जीवनी, पृ० १।

४—वही पृ० ३, रा० भा० सा० पृ० २४७, रा० पि० सा० पृ० २२१।

(६) इतर विषयक काव्य

६६—प्राचीन काल के समान इस युग में भी इतर विषयक काव्य का प्रणयन पर्याप्त मात्रा में हुआ। इस प्रकार की कविताओं के अंतर्गत नीति प्रधान एवम् उपदेशात्मक रचनाओं की प्रधानता रही। नीति तथा उपदेश सम्बन्धी कविता करने वालों ने जन समाज की वास्तविक अवस्था का गहन और सूक्ष्म निरीक्षण किया। उन्होंने देखा कि जन-साधारण की नैतिकता पतनोन्मुख है। तदनुसार, उन्होंने कुपथगामियों को सन्मार्ग पर लाने के सदुद्देश्य से दुराचारियों के नग्न एवम् वीभत्स और सदाचारियों के भव्य तथा कल्याणकारी, परस्पर विरोधी, स्वरूपों का यथार्थ चित्रण किया। साथ ही उन्होंने अपने इस क्रियात्मक प्रयोग द्वारा अपनी स्पष्ट-वादिता, निर्भीकता और सद्वृत्ति का भी परिचय दिया।

मध्ययुगीय इतर विषयक काव्य का निर्माण करने वाले कवियों में हुक्मी चंद (र० का० सन् १७६३ ई०), कविराजा बांकीदास आसिया[1] (सन् १७७१-१८३३ ई०,) जोधपुर नरेशमहा राजा मानसिंह (सन् १७८२, १८४३ ई०), कृपाराम खिड़िया (र० का० सन् १८०८ ई०), तथा उम्मेदराम पाल्हावत (र० का० सन् १८२१ ई०) और खींवरा (र० का० सन् १७८६ ई०) एवम् किसनिया (र० का० सन् १८३३ ई०) से सम्बन्धित दोहे और सोरठे उपलब्ध हैं।

राजस्थान के विद्वानों का मत है कि खींवरा, राजिया तथा किसनिया के नामों से प्रचलित दोहे तथा सोरठे कवियों के नामों से प्रसिद्ध न होकर काव्य नायकों के नामों से प्रख्यात हुये। समृद्ध तथा सम्पन्न कवियों ने अपने चाकरों की सेवा से प्रसन्न होकर उन्हें अपनी वाणी द्वारा अमर कर किया। यदि विद्वानों का मत सार्थक और सारयुक्त है, तो निस्संदेह ये रचनायें एक विभिन्न प्रकार की मौलिक काव्य परम्परा की प्रतीक कही जा सकती है। इस समय की नीति और उपदेश विषयक रचनायें अत्यन्त जन-प्रिय सिद्ध हुईं तथा वर्तमान समय में भी ये लोकोक्तियों के रूप में प्रयुक्त होती हैं।

नीचे इतर विषयक काव्यकारों का परिचय दिया जाता है—

६७—हुक्मी चन्द खिड़िया के जन्म एवम् मृत्यु आदि का विवरण अज्ञात है। मिश्रबन्धुओं के अनुसार ये जयपुर नरेश महाराज माधो सिंह के यहाँ रहते थे।[2] मोती लाल मेनारिया ने लिखा है कि जयपुर के महाराज प्रताप सिंह उपनाम ब्रजनिधि के दरबार में इनकी प्रतिष्ठा थी।[3] यहाँ यह संकेत कर देना अप्रासंगिक

१—अ० ४४।

२—मि० वि०, भा० २, पृ० ८३४, प्रथम संस्करण सं० १९९० वि०, कवि संख्या ६२७।

३—रा० सा० रू० (प०) पृ० २३७ तथा डिं० गी० (भू०) पृ० ४६।

न होगा कि प्रताप सिंह माधो सिंह के द्वितीय पुत्र थे जिनका शासन काल सन् १७७६ से १८०३ ई० तक था ।[1] हुक्मी चन्द विरचित वीररसात्मक एवम् इतर विषयक स्फुट कवितायें मिलती हैं जिनके कारण ये राजस्थान में अद्यावधि विख्यात हैं। इनका कविता काल सन् १७६३ ई० के आस पास माना जाता है ।[2]

६८—किसी अज्ञात कवि कृत 'रवींवरा के दोहे' मिलते हैं। राजस्थान के विद्वानों का मत है कि कवि ने अपने चाकर, रवींवरा, से प्रसन्न होकर अपने काव्य द्वारा उसे अमर कर दिया।[3] इन दोहों का निर्माण काल सन् १७८६ ई० के लगभग है।

६९—जोधपुर राज्याधिपति महाराजा मानसिंह का जन्म १३ फरवरी सन् १७८३ ई० को हुआ था ।[4] महाराजा विजय सिंह तथा महाराजा गुमान सिंह क्रमशः इनके पितामह और पिता थे। २१ वर्ष की अवस्था में सिंहासनारूढ़ होकर महाराजा मानसिंह ने यावज्जीवन अत्यन्त सुचारु रूप से राज्य कार्य किया एवम् ४ सितम्बर सन् १८४३ ई० को पार्थिव शरीर का परित्याग किया ।[5]

इन्होंने अपने जीवन काल में एक संग्रह भवन की स्थापना की थी जो कि "पुस्तक प्रकाश' के नाम से प्रख्यात है। इसमें प्राचीन हस्तलिखित पोथियाँ तथा चित्र संकलित है। यह संग्रह भवन महाराजा मानसिंह के साहित्य तथा संगीत प्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। निम्न लिखित दोहा इनकी विविध प्रकार की विशिष्टताओं का परिचायक है—

जोध बसाई जोधपुर वृज कीनी विजपाल।
लखनेऊ काशी दिल्ली मान करी नेपाल॥

अर्थात् राव जोधाजी ने जोधपुर नगर की प्रतिष्ठापना किया। विजय सिंह ने कृष्णोपासकों को एकत्र कर वहाँ बृजमंडल का सा वातावरण प्रदान किया। और

१—रा पि० सा० पृ० १४९-५० ।

२—मि० वि० भा० २ पृ० ८३४ कवि संख्या ६२७ । रा० सा० रू० (प०) पृ० २३७ । डि० वी० पृ० ४६ ।

३—पु० प्र० जो० ।

४—जो० रा० इ० भा० २, पृ० ७७५ । भा० इ०, द्वितीय भाग, पृ० ४०१ तथा कृष्ण विलास की भूमिका पृ० १, डि० वी० (भू०) पृ० ४७ । रा० सा० रू० पृ० १२८ ।

५—जो० रा० इ०, पृ० ८७१, भा० इ० द्वितीय भाग, पृ० ४३, कृ० वि० (भू०) पृ० २ ।

मानसिंह ने उसी जोधपुर को, संगीत शास्त्रियों, पंडितों और विद्वानों तथा नाथ पन्थियों के केन्द्र में परिणत कर लखनऊ, काशी, दिल्ली और नैपाल का सामूहिक स्वरूप दिया ।

महाराजा मानसिंह का साहित्यिक जीवन भी बहुत उन्नत था । ये अपने युग के अग्रगण्य साहित्यकारों में थे । इनके रचे हुये दो दर्जन ग्रंथ एवम् स्फुट रचनाएँ प्राप्य हैं[१] जिनमें से अधिकांश ब्रजभाषा साहित्य से सम्बन्धित है ।[२] डिंगल भाषा में इनका लिखित ग्रंथ 'भागवत की मारवाड़ी भाषा की टीका, तथा अन्य विषयक स्फुट कविताएँ हैं ।

७०—कृपाराम खिड़िया के जन्म तथा मृत्यु की तिथियाँ अज्ञात हैं । ये खराड़ी ग्रामवासी थे तथा जगराम खिड़िया के पुत्र थे[३] । ये जयपुर राज्य की सीकर रियासत के राव देवीसिंह तथा उनके पुत्र राव राजा लक्ष्मणसिंह के शासनकाल में जीवित थे, अतएव इनका रचना काल सन् १८०८ ई० के आस-पास होना निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है ।[४] ऐसा प्रसिद्ध है कि इन्होंने 'चालक-नेसी' नाटक, एक अलंकार ग्रंथ तथा अपने चाकर, राजिया, को संबोधित करके ३०० नीति एवम् उपदेश प्रधान सोरठों का प्रणयन किया था जिनमें अब केवल १५४ सोरठे उपलब्ध हैं ।[५] इनकी काव्य-कला से प्रसन्न होकर इनके आश्रयदाता लक्ष्मणसिंह ने इन्हें लछमनपुरा ग्राम प्रदान किया था जो कृपाराम की ढाणी (ठानी) के नाम से विख्यात है ।[६]

७१—उम्मेदराम पाल्हावत का जन्म सन् १७४३ ई० में जयपुर राज्य में स्थित हणूतिया ग्राम में हुआ था । इनके पितामह का नाम घासीराम और पिता का नाम सामंत जी था । अध्ययन कार्य समाप्त करके ये अलवर के राव राजा बख्तावर सिंह के यहाँ जीविकोपार्जनार्थ चले गये थे और आजीवन वहीं रहे । इन्होंने सन् १८२१ ई० में मर्त्यलोक का परित्याग किया था ।[७]

१—रा० भा० सा०, पृ० १९७ ।

२—रा० पि० सा०, पृ० १९७ ।

३—रा० भा० सा०, पृ० १९५ । डिं० वी० (भू०) पृ० ४९ । रा० दू० (क० ना०) पृ० १६ ।

४—उपरोक्त ग्रंथ तथा मिश्र बन्धु विनोद भाग ४, पृ० ७८ ।

५—रा० भा० सा०, पृ० १९५ ।

६—उपरोक्त ग्रंथ तथा मिश्र बन्धु विनोद, भाग ४, पृ० ७८ ।

७—रा० भा० सा० पृ० १८८ ।

इन्होंने डिंगल तथा ब्रज दो भाषाओं में रचनायें की हैं।

७२—एक अज्ञात नाम के कवि ने अपने किसनिया चाकर को सम्बोधन करके कुछ दोहे और सोरठे सन १८३३ ई० के लगभग रचे थे जो 'किसनिया के दोहे' नाम से प्रसिद्ध हैं।[1]

१—रा० सा० रू० पृ० २४४ तथा रा० दू० पृ० १६ और ६० (भू०)

३—आधुनिक काल

(सन् १६५० ई० से आज तक)

७३—इस युग का ऐतिहासिक विवेचन करने से ज्ञात होता है कि इस मध्यान्तर में ४ प्रमुख घटनायें संघटित हुईं। १—सन् १८५७ ई० का सैनिक विद्रोह, २—अंग्रेजी शासन का सुदृढ़ होना, ३—कांग्रेस की अध्यक्षता में कार्यान्वित असहयोग आन्दोलन और ४—सन् १६४७ ई० में भारत का स्वतन्त्र होना।

कहने की आवश्यकता नहीं कहीं कि इस काल के प्रारम्भ में होने वाले सन् १८५७ ई० के विद्रोह में राजपूत सैनिकों ने अत्यन्त महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया था किन्तु जहाँ तक राजस्थान के शासक-वर्ग का सम्बन्ध है वह अपनी स्वतन्त्रता सम्बन्धी चेतना खो चुका था। उसने उस समय जब कि उसकी मातृभूमि को उसकी सहायता की अपेक्षा थी, अपनी धमनियों में प्रवाहित होने वाले अपने पूर्वजों के रक्त का तनिक भी ध्यान न करके, अपने देश को पराधीनता की शृंखला में आबद्ध होने के हेतु विदेशियों की मदद की।

परिवर्तनशील राजनैतिक परिस्थितियों के वात्याचक्र में पड़ कर चारणों और भाटों का वह वर्ग जो कि प्रधानतया शासकों की छत्र-छाया में रहकर डिंगल भाषा में साहित्य सृजन किया करता था, लुप्त-प्राय सा हो गया। फलतः डिंगल काव्य सरस्वती का जीवन राजस्थान के विशाल मरुस्थल में लगभग निःशेष सा हो रहा है। केवल कुछ गिने चुने कवियों ने, जिन्हें अपनी मातृ भाषा के प्रति स्नेह रहा, डिंगल भाषा में काव्य निर्माण किया और कर रहे हैं। दोहा और सोरठा इस काल के कवियों के सर्वप्रिय छन्द रहे हैं, यद्यपि इनके अतिरिक्त गीत, कवित्त, सवैया आदि छन्दों का प्रयोग भी कवियों द्वारा हुआ है। आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ तथा डिंगल साहित्य के एक प्रमुख कवि सूर्यमल मिश्रण हो गये हैं। इन्होंने आलोक-स्तम्भ बनकर अपने बाद के होने वाले कवियों के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य किया है।

इस युग की कविता को विषय की दृष्टि से स्थूल रूप में दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१—वीर रस प्रधान काव्य

और २—विभिन्न विषयक काव्य।

(१) वीर रस प्रधान काव्य

७४—इस काल की वीर रस प्रधान कविता में हमें एक नवीन दृष्टिकोण का दर्शन होता है। वह दृष्टिकोण है विगत कालीन राजपूतों की वीरता के पुनः स्मरण

कराने की चेष्टा। इस विशेष प्रेरणा के द्वारा राजस्थान के कुछ कवियों ने न केवल राजपूत जाति को वरन् एक प्रकार से सम्पूर्ण देशवासियों को नव स्फूर्ति, चेतनता, जागृति एवम् उत्साह की भावना से आप्लावित कर उन्हें कर्त्तव्य के प्रति जागरूक करने का प्रयास किया। इस समय के सर्वोत्कृष्ट कवि सूर्यमल मिश्रण हुए हैं जिनके विषय में विद्वानों की सम्मतियों का उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा। रघुवीर सिंह के शब्दों में 'साहित्य के क्षेत्र में महाकवि सूर्यमल का एक-छत्र शासन था।'[1] मोती लाल मेनारिया के मतानुसार 'परिवर्तन काल में सब से बड़े कवि बूंदी के सूरजमल हुए जिनको चारण लोग अपनी जाति का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं। निःसंदेह सूरजमल एक प्रतिभावान कवि थे। अपने युग के कवियों पर उनका इतना ही गहरा प्रभाव था जितना बंगाल के कवियों पर स्वर्गीय रवीन्द्र नाथ ठाकुर का उनके समय में रहा। रवीन्द्र नाथ की तरह सूरजमल की प्रखर प्रतिभा ने भी राजस्थान के तत्कालीन कवियों की मौलिकता नष्ट कर दी और उन्हें पनपने न दिया। छोटे-मोटे सैकड़ों कवियों की मौलिक प्रतिभा इनकी काव्य धारा के प्रचण्ड प्रवाह में बह गई।[2] डा० सुनीति कुमार चटर्जी के कथनानुसार 'सूर्यमल' अपने काव्य और कविता को Lay of the last Minstrel बना गये और वे स्वयं बने last of the Giants।'[3] वास्तविक स्थिति यह थी कि सन् १८५७ ई० की सैनिक विद्रोह कालीन राजनैतिक परिस्थिति का कवि पर अत्यन्त सक्रिय प्रभाव पड़ा। अतएव कवि ने रहस्यात्मक ढंग से कविता की व्यञ्जना शक्ति द्वारा विकीर्ण राजपूत शक्ति को एक सूत्र में संगुफित कर स्वन्त्रता संग्राम में विदेशियों के विरुद्ध आमन्त्रित किया किन्तु पारस्परिक वैर, वैमनस्य, ईर्ष्या और अनैक्य के कारण कवि का उद्देश्य सफल न हो सका।

सूर्यमल मिश्रण[4] (सन् १८१५-१८६३ ई०) के अतिरिक्त मोड़जी म्हैयारिया (रचना काल १९वीं शती ई०) तथा नाथूदान म्हैयारिया (जन्म काल सन् १८६१ ई०) इस युग के वीर रस सम्बन्धी काव्यकार हैं। इनका परिचय आगे दिया जाता है।

७५—मोड़जी म्हैयारिया के जीवन वृत्त से सम्बन्धित सूचना उपलब्ध नहीं हो सकी है। ये डिंगल के एक उत्कृष्ट कवि थे। इन्होंने वीर सतसई नामक ग्रंथ का निर्माण किया है।[5] इनका रचना काल अनुमानतः १९ वीं शती ईसवी है।

१—पूर्व आधुनिक राजस्थान पृ० २८३।

२—रा० भा० सा० पृ० २३७ या रा० पि० सा० पृ० २१८।

३—वी० स० का प्राक्कथन पृ० ६।

४—अ० ५३।

५—रा० भा० ना० पृ० २७२।

७६—नाथूदान म्हैयारिया का जन्म सन् १८६१ ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम केसरी सिंह था। ये उदयपुर नगर निवासी हैं। ये वयोवृद्ध हो चले हैं तथापि इन्हें मृगया से विशेष प्रेम है। ये एक भावुक एवम् सिद्धहस्त कवि हैं। इन्होंने वीर सतसई नामक एक ग्रन्थ तथा स्फुट रचनायें की हैं एवम् आज भी साहित्य-सृजन कर रहे हैं।[1]

(२) विभिन्न विषयक काव्य

७७—इस युग के विभिन्न विषयक कवि रूढ़िवादी काव्य परम्परा से प्रायः मुक्त रहे हैं। इन काव्यकारों ने समय की गति एवम् अपनी इच्छा तथा रुचि के अनुकूल रचना के विषयों का निर्वाचन किया है। अतएव काव्य-लेखकों की रचना समय, वातावरण और उनकी मनोवृत्तियों का अनुगमन करती सी प्रतीत होती हैं। इनके रचना के विषय शृंङ्गार, हास्य, सामाजिक-पतन, देश-प्रेम, और राजनीति प्रभृति हैं।

इस प्रकार के कवियों में राजकुमार रतनसिंह 'नटनागर' (सन् १८०८-१८६ ई०), कमजी दधिवाड़िया (रचना काल सन् १८४२-१८६१ ई०) मुरारि दान (सन् १८३८-१६०७ ई०), ऊमरदान लालस (सन् १८५२-१६०३ ई०) बारहठ वाला बख्श पालावत (सन् १८५५-१६३१ ई०), उदयराज उज्जवल (सन् १८८५ ई० वर्तमान) और कवि राव मोहन सिंह (सन् १८६६-वर्तमान) उल्लेखनीय हैं। इनका परिचय यथाक्रम प्रस्तुत किया जाता है।

७८—राजकुमार रतनसिंह 'नटनागर' का जन्म सन् १८०८ ई० में हुआ था।[2] इनके पिता सीतामऊ राज्य के अधिपति महाराज राजसिंह थे। इनकी माता का नाम श्री १०८ श्री चावड़ी जी श्री राजकुंवरि जी था। इनके एक ज्येष्ठ भ्राता भी थे जिनका नाम राजकुमार अभयसिंह था। तत्कालीन स्वरूपदास (भूपदास) इनके गुरु थे जिनको 'नटनागर' ईश्वरावतार मानते थे। इनके संग्रह ग्रंथ 'नटनागर विनोद' के प्रारम्भ में भगवान के स्थान पर स्वरूप दास की ही वन्दना मिलती है।

नटनागर को चित्र, संगीत और काव्य कलाओं से विशेष प्रेम था। इनका सांस्कृतिक जीवन अत्यन्त उन्नत था। ये डिंगल के अतिरिक्त ब्रज भाषा, अवधी, और अन्य अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे तथा उनमें भी इनकी कवितायें मिलती हैं।

इनका देहावसान ५५ वर्ष की अवस्था में सन् १६२० ई० में महाराजा राज सिंह के जीवन-काल में ही हो गया था[3]।

१—वही पृ० २६३, ६४ तथा लेखक का कवि से व्यक्तिगत सम्पर्क।

२—कृष्ण बिहारी मिश्र द्वारा संपादित नटनागर विनोद की भूमिका पृ० ६।

३—वही पृ० १६।

७६—कमजी दधिवाड़िया का जीवन विवरण अज्ञात है। ये उदयपुर के महाराजा स्वरूप सिंह के शासन काल (सन् १८४२ १८६१ ई०) में वर्तमान थे[1] तथा उनकी प्रशंसा में रची हुई रचनायें भी उपलब्ध हैं।

८०—मुरारिदान[2] का जन्म सन् १८३८ ई० में हुआ था।[3] इनके निजी माता पिता का नाम ज्ञात नहीं है। ये बूंदी के सूर्यमल मिश्रण के दत्तक पुत्र के रूप में विशेष विख्यात हैं। ये एक उच्च श्रेणी के विद्वान तथा कवि थे। डिंगल भाषा में इनकी रची स्फुट कवितायें तथा डिंगल कोष प्राप्य हैं। अपने पिता, सूर्यमल मिश्रण, विरचित अपूर्ण 'वंशभास्कर' ग्रंथ के शेष अंश की पूर्ति भी इन्होंने की थी।

इनके जीवन का अन्त सन् १९०७ ई० में हुआ था[4]।

८१—बारहठ ऊमरदान लालस का जन्म सन् १८५२ ई० में मारवाड़ राज्य में स्थित कलोपी परगना के ढाढरवाड़ा ग्राम में हुआ था[5]। इनके दादा (पितामह) का नाम बारहठ मेघराज लालस तथा पिता का नाम बारहठ बख्शी राम लालस था। नवलदान इनके ज्येष्ठ तथा शोभा दान कनिष्ठ भ्राता थे। इनके पुत्र बारहठ मीठालाल लालस अभी जीवित हैं। एक साधारण परिवार में जन्म लेकर अपनी काव्य प्रतिभा के द्वारा ऊमरदान अपने को अमर कर गये। इनका देहावसान ११ मार्च सन् १९०३ ई० को जोधपुर में हुआ था[6]।

इनकी कविताओं का एक संग्रह 'ऊमर काव्य' नाम से प्रकाशित हो चुका है जिसमें इनकी अन्य रचनाओं के साथ डिंगल की विभिन्न विषयक स्फुट कवितायें भी संकलित हैं।

८२—बाला बख्श पालावत[7] का जन्म सन् १८५५ ई० में हुआ था[8]। ये जयपुर राज्य के अंतर्गत स्थित हर्णूतिया ग्राम के निवासी थे। इनके पितामह जसराज

१—म० य० प्र० पृ० १९५, १९६।

२—डि० वी० र० (भू०) पृ० ५१। रा० सा० रू० पृ० १९७।

३—रा० पि० सा० पृ० २२६ या रा० भा० सा० पृ० २५२।

४—वही।

५—जगदीश सिंह गहलौत द्वारा संपादित ऊमर काव्य, तृतीय संस्करण की भूमिका पृ० २६। डि० वी० र० (भू०) पृ० ५२। रा० भा० सा० पृ० २५५, २५६। रा० दू० (क० ना०) पृ० १५। रा० सा० रू० पृ० १६४-५।

६—वही।

७—पुरोहित हरिनारायण कृत स्वर्गीय बारहठ बालाबख्श पालावत पृ० ६। डि० वी० र० (भू०) पृ० ५२। रा० भा० सा० पृ० २६०। म० य० प्र० पृ० १३४।

८—पुरोहित हरिनारायण कृत स्वर्गीय बारहठ बालाबख्श पालावत पृ० ६

पालावत तथा पिता निरसंघदास पालावत थे। इनके तीन अन्य छोटे भाई थे जिनके नाम क्रमशः शिवबख्श, डालजी और सालजी थे। अपनी योग्यता और गुणों के कारण इन्हें पर्याप्त मात्रा में धरा और धन भी पुरस्कार स्वरूप प्राप्त हुआ था। इन्होंने सन् १६३१ ई० में अपने जन्म स्थान हणूंतिया में ही प्राण विसर्जन भी किया था[1]।

ये अपने समय के एक सम्मानित साहित्यकार तथा इतिहासज्ञ थे। इन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा, काशी को ७००० रु० दानस्वरूप भेंट किये थे जिसके व्याज से 'राजपूत चारण पुस्तक माला का प्रकाशन होता है।

इनके रचे अनेक ग्रंथ तथा फुटकर गीत और कवित्त उपलब्ध हैं जिनमें कुछ डिंगल में भी हैं।

८३—उदयराज उज्ज्वल का जन्म सन् १८८५ ई० में जोधपुर राज्य की फलोदी तहसील में स्थित ऊजलां ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम लक्ष्मीदान तथा पितामह का नाम नाथूराम था। इनकी शिक्षा बी० ए० तक हुई थी। सन् १६४५ ई० से ये अवकाश-प्राप्त व्यक्ति के रूप में रह रहे हैं। इनकी छोटी-बड़ी सब मिलाकर ३५ के लगभग रचनायें डिंगल में हैं[2]।

८४—कवि राव मोहनसिंह का जन्म सन् १८६६ ई० में मेवाड़ राज्यान्तर्गत स्थित दसी ग्राम में हुआ था[3]। ये राजस्थान के प्रसिद्ध कविराज बख्तावर के प्रपौत्र हैं। आजकल ये उदयपुर नगर में निवास कर रहे हैं। सूर के पदों, बिहारी के दोहों तथा रसखान के कवित्त और सवैयों के इन्होंने डिंगल में सुन्दर भावानुवाद किये हैं। इनके अतिरिक्त डिंगल में इन्होंने स्वतंत्र कवितायें भी की है[4]।

८५—ऊपर जिन कवियों का संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है, उनके अतिरिक्त भी अनेक काव्यकारों के नाम मिलते हैं। इनके संबंध में कठिनाई यह है कि इनके जीवन-विवरण, रचनाकाल और कृतियों का लगभग कोई भी विवरण अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सका है। इनके नाम इस प्रकार हैं—(१) गिरवरदान (२) रामनाथ कविया (३) बारहठ दूदो (४) रत्नू भामो (५) बारहठ आसो (६) गोपाल चरड़ावत मीसण (मिश्रण) (७) भोजग सोहिल (८) बारहठ महेस (६) वोगसा ठाकुरसी

१—पुरोहित हरिनारायण कृत स्वर्गीय बारहठ बालाबख्श पालावत पृ० १८।

२—उदयराज उज्ज्वल के सौजन्य से। रा० भा० पृ० १६, २८२।

३—रा० पि० सा० पृ० २४१। रा० भा० सा० पृ० २६६। रा० सा० रू० प० २५७।

४—वही तथा लेखक का व्यक्तिगत सम्पर्क।

(१०) सांदू मालौ (११) सांढाइच आसो (१२) सामोर ठाकुर सी जगनाथौत (१३) लालस रूप सी (१४) सांदू कल्याणदास (१५) गाडण माधोदास (१६) बारहठ रतन सी (१७) महियारिया पूरौ या पूरणदास (१८) खेतसी लालस (१९) बारहठ चतुरौ (२०) उपाध्याय धर्मवर्धन (२१) गाडण गोरधन (२२) सांदू अनूपसिंह (२३) खिड़िया तीकमदास (२४) व्यास लिखमीदास (२५) आसियो रामौ (२६) बीरमियो मूलौ (२७) सांदू जागौ (२८) कल्याणदास जाड़ावत (२९) बारहठ दूदौ (३०) बारहठ दौलतसिंह (३१) महाराजा कर्णसिंह (३२) भोजग मनोहर (३३) वीठू दूदौ (३४) आसियौ भोपत (३५) गाडण ऊगो (३६) बारहठ अपौ (३७) वीठू मेहो (३८) सांदू भालौ (३९) चारणी पद्मा (४०) रत्नू ईसर (४१) जेठवा (४२) नागड़ा (४३) वीझै सीणी या सोहणी (४४) वीरदास खिड़िया (४५) वाघरा (४६) पदमण कृत बारौ मासा रा दूहा (४७) सेवादास कृत पिसण श्रृंगार (४८) पंडित केसर कीर्ति कृत पेट कवित्त।

इन कवियों ने गीत और दोहों का ही अधिकतर उपयोग किया है जिनके विषय वीर, श्रृंगार, भक्ति, नीति और हास्य हैं।

८६—इसी प्रकार कुछ छोटी बड़ी कवितायें भी मिलती हैं। इनके कर्त्ता तथा रचना तिथि ज्ञात नहीं है। यहाँ कुछ के शीर्षक उद्धृत किये जाते हैं। (१) महाराजा गजसिंह जी रा निर्वाण कवित्त, (२) सूरज जी रो सिलोको (३) पनरह तिथि रा दूहा (४) सातवार रा दूहा (५) राणो रतन सी भूलणा (६) मयण भट्ट रा दूहा (७) हियालियाँ (८) छुटंक रा दूहा (९) सूरिया रा दूहा (१०) बारै मासा रा दूहा परिहां लिख्यते (११) बारै मासा रा दूहा (१२) राम स्तुति (१३) आन बत्तीसी (१४) उदारा दूहा (१५) सुहीव रा दूहा (१६) उदयराज रा दूहा (१७) नाथिया रा दूहा (१८) सोरठ रा दूहा।

घ—डिंगल का हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत स्थान

८७—कदाचित् कहने की अपेक्षा न होगी कि हिन्दी नाम की कोई एक भाषा नहीं है। हिन्दी के अन्तर्गत अनेक उपभाषाओं अथवा बोलियों की गणना की जाती है जिनमें राजस्थानी, ब्रज, बुन्देली, पहाड़ी, खड़ीबोली, अवधी, छत्तीसगढ़ी, भोज-पुरी, मैथिली, प्रभृति हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी[1] अनेक बोलियों का सामूहिक नाम है। डिंगल राजस्थान की मौलिक साहित्यिक भाषा है। इस भाषा के सम्बन्ध में जो कुछ भी विचार प्रकट किये गये हैं वे डिंगल के नाम से न होकर राजस्थानी भाषा के नाम से हैं। हिन्दी के समान ही राजस्थानी नाम भी

१—आजकल हिन्दी शब्द का प्रयोग नागरी लिपि में लिखित खड़ी बोली के लिये होने लगा है।

भ्रामक है, विशेषतया उन व्यक्तियों के लिये जो कि राजस्थानी साहित्य से अपरिचित है। राजस्थानी के अन्तर्गत मारवाड़ी, ढूंढाड़ी, मालवी, मेवाती और बागड़ी बोलियाँ हैं। डिंगल राजस्थानी का आदर्श स्वरुप है जिसका मूल ढांचा मारवाड़ी के अधिक सन्निकट है। इसे मरु-भाषा तथा पश्चिमी राजस्थानी नामों से भी सम्बोधन किया गया है।

८८—विचारणीय प्रश्न यह है कि डिंगल और हिन्दी का वास्तविक संबंध क्या है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है विद्वानों ने डिंगल नहीं वरन् राजस्थानी के नाम से राजस्थान की भाषा पर मतोल्लेख किये हैं। राजस्थानी और हिन्दी के सम्बन्ध पर विचार करने वाले दो दलों में विभक्त हैं। इनमें सबल दल डा० जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, डा० श्याम सुन्दरदास, डा० सुनीति कुमार चैटर्जी तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा जैसे चोटी के भाषा-विज्ञान के पंडितों का है जिन्होंने राजस्थानी को हिन्दी से पृथक् हिन्दी की विभाषा अथवा स्वतन्त्र भाषा के रूप में अंगीकार किया है।[१] अतएव हम यहाँ पर इस विषय पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे कि ये विद्वान इस सम्बन्ध में कहाँ तक न्याय कर सके हैं।

८९—सर्वप्रथम भाषा के इतिहास को लीजिये। प्रायः समस्त भाषा-वैज्ञानिक एक मत हैं कि लगभग १२वीं शती ईसवी पर्यन्त एक ऐसी सार्वजनिक अपभ्रंश का उपयोग होता था जो कि पंजाब, राजस्थान, गुजरात, अन्तर्वेद और सम्भवतः सिंध में भी साहित्यिक भाषा के पद पर प्रतिष्ठित थी। इस साहित्यिक भाषा को पश्चिमी अथवा शौरसेनी अपभ्रंश की संज्ञा प्रदान की गई है। यह एक विभिन्न समस्या है कि किस प्रकार अपभ्रंश से आधुनिक आर्य-भाषायें अंकुरित एवम् विकसित हुई किन्तु इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतैक्य है कि अपभ्रंश से ही वर्तमान आर्य-भाषायें निःसृत हुई हैं और जिन भिन्न-भिन्न प्रादेशिक या प्रान्तिक अपभ्रंशों से इनका स्फुरण हुआ है उनमें केवल मिश्रित शौरसेनी अपभ्रंश का साहित्य उपलब्ध है।

९०—शौरसेनी अपभ्रंश से पूर्वी राजस्थानी का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध था और पश्चिमी राजस्थानी पर व्यापक प्रभाव था। डा० टेसीटरी के मतानुसार प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी की उत्पत्ति १३ वीं शती ईसवी में मारवाड़ और गुजरात

१—लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया वाल्यूम १, पार्ट १, पृ० १७०, भाषा रहस्य पृ० २०१, भाषा और साहित्य पृ० ६६, ओरिजिन ऐंड डेवेलपमेंट आव् बंगाली लैंग्वेज, वाल्यूम १ पृ० ९, हिन्दी भाषा का इतिहास पृ० ५६ और ग्रामीण हिन्दी।

में प्रचलित मौखिक अपभ्रंश से हुई थी।[1] डा० सुनीति कुमार चैटर्जी के शब्दों में यह शौरसेनी से निकट सम्बद्ध होती हुई भी उससे स्वतन्त्र अपभ्रंश थी ऐसा अनुमित होता है। इसे हम सौराष्ट्र अपभ्रंश कह सकते हैं।[2] डा० एल० पी० टेसीटरी ने मारवाड़ी और गुजराती के ध्वनि तथा रूप-तत्वों का वैज्ञानिक ढंग से ऐतिहासिक एवम् तुलनात्मक अध्ययन करके यह प्रमाणित किया है कि गुजरात तथा मारवाड़ अथवा पश्चिमी राजस्थान् की भाषा १६वीं शती ईसवी तक एक थी।[3] यहाँ पर यह संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा कि डा० टेसीटरी द्वारा निर्धारित अवधि में राजस्थान् की डिंगल और पिंगल भाषायें, आगामी शतियों के लिए अपना साहित्यिक स्वरुप निर्धारित कर रही थीं। १६वीं से १६वीं शती ईसवी के द्वितीयार्द्ध तक डिंगल तथा पिंगल राजस्थान की प्रमुख साहित्यिक भाषायें थीं। तदनन्तर से डिंगल की और १६ वीं शती ई० के पश्चात् से पिंगल की धाराएँ शुष्क सी होती जा रही हैं। और अब तो हिन्दी की खड़ी बोली राजस्थानी की राजभाषा का स्थान ग्रहण कर चुकी है।

६१—यहाँ भाषागत प्रभावों को थोड़ा अधिक स्पष्ट रूप से समझना होगा। राजस्थानी भाषा के अभ्युदय के पूर्व ही राजपूताना तथा मालवा की भाषाओं पर द्रविड़ तथा निषाद भाषाओं का प्रभाव पड़ चुका था[3]। इसी समय के आस पास से हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रारम्भिक काल की परिकल्पना की गई है जिसका अन्त ईसा की १४ वीं शती का द्वितीयार्द्ध माना गया है। इस युग के कवियों में ८४ सिद्ध, हेमचन्द्र, सोमप्रभसूरि, मेरुतुंग, शाङ्र्गधर, दलपति विजय, नरपति नाल्ह, चन्द बरदायी, भट्ट केदार, मधुकर, जगनिक श्रीधर प्रभृति हैं। इन काव्यकारों की भाषा का मूल ढाँचा या तो अपभ्रंश का है अथवा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का। राजस्थानी अथवा डिंगल का प्रादुर्भाव इन्हीं के द्वारा समझा जाना चाहिये। अतएव राजस्थानी अथवा डिंगल को हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत स्थान न देना तर्कपूर्ण नहीं प्रतीत होता। वास्तव में राजस्थानी को हिन्दी के अन्तर्गत स्थान न देने का अर्थ हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल के अस्तित्व को अस्वीकार करना होगा जो कि कदाचित् संभव न होगा।

६२—राजस्थान के प्राचीन इतिहास का सम्बन्ध पंजाब, सिन्ध और गुजरात से विशेष प्रकार से था। किन्तु मुगल सम्राट् बाबर के दिल्लीश्वर होने के उपरान्त, अर्थात् सन् १५२६ ई० के पश्चात् से इन प्रदेशों से राजस्थान का सम्पर्क ऐतिहासिक

१—जर्नल आव् एसियाटिक सोसायटी आव् बंगाल, वाल्यूम १०, सं० १० पृ० ३७५-७७।

२—रा० भा० पृ० ६५।

३—डा० सुनीति कुमार चैटर्जी कृत राजस्थानी भाषा पृ० ३६।

तथा राजनैतिक दृष्टि से निःशेष सा हो गया था। राजस्थान का यह सम्पर्क अब दिल्ली और आगरा से हुआ जो कि हिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेश थे। ये हिन्दी प्रदेश वस्तुतः भक्तिमार्गी कवियों एवम् दार्शनिकों के प्रमुख केन्द्र थे जिसके कारण राजस्थान का सांस्कृतिक संयोग ब्रजभाषा से हुआ। दूसरे शब्दों में मुगलों के समय से संस्कृति, इतिहास और भाषा इत्यादि की दृष्टियों से राजस्थान हिन्दी भाषी प्रदेश से विशेषतया संयुक्त हो गया। विगत शतियों में हिन्दी-भाषी प्रदेश तथा राजस्थान का घनिष्ठ सम्बन्ध हिन्दी, ब्रजभाषा तथा राजस्थानी के अन्योन्य अवश्यम्भावी प्रभावों को परिलक्षित करता है। मोतीलाल मेनारिया ने व्याकरण की दृष्टि से इन प्रभावों को तुलित कर डिंगल एवम् ब्रजभाषा अथवा पिंगल के पारस्परिक सम्बन्ध पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है[1]। इन भाषाओं के ध्वनि तत्व, रूप तत्व, शब्द निरुक्ति एवम् वाक्य रचना के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा और भी समानतायें आँकी जा सकती है।

हिन्दी और राजस्थानी अथवा डिंगल में व्याकरण की दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण साम्य ध्यान देने योग्य हैं जो कि दोनों के घनिष्ठ सम्बन्ध के सांकेतिक हैं।

(१) दोनों में स्वर-सान्निध्य बहुत अधिक है। इनके अपवाद स्वरूप घोषमहाप्राण ध्वनियाँ, ह कार, ण और मराठी ल है।

(२) दोनों में ही तिर्यक् अर्थात् सुप् प्रत्ययग्राही प्रातिपादिक शब्दों के रूप उपलब्ध होते हैं, उदाहरणार्थ राजस्थानी घोड़ो-घोड़ा और हिन्दी घोड़ा-घोड़े।

(३) दोनों में ही लिंग भेद की समस्या जटिल और समान रूप से है।

(४) दोनों में ही सुप् प्रत्यय के द्वारा बहुवचन के रूप निर्मित होते हैं यथा हिन्दी में घोड़ा-घोड़े और राजस्थानी में घोड़ो-घोड़ा।

(५) दोनों में ही क्रिया के कर्तरि, कर्मणि और भावे रूपों का प्रयोग किया जाता है।

६३—राजस्थानी एवम् हिन्दी के उभयनिष्ठ सम्बन्ध के प्रदर्शनार्थ डा० सुनीति कुमार चैटर्ज्जी ने कुछ महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं जो कि उन्हीं के शब्दों में नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

'मैथिली के समक्ष हिन्दी और राजस्थानी मानो एक ही गुलदस्ते के या एक ही शाखा के दो फूल हैं। ऐसे ही हिन्दी और लहन्दी में जो भिन्नता है, उससे बहुत ही कम हिन्दी और राजस्थानी में है। पूर्वी हिन्दी, कोसली, पछांही हिन्दी से बहुत मिलती है, पर पछांही हिन्दी और राजस्थानी इन दोनों में जो Family likeness (पारवारिक साम्य) एक गोष्ठी के होने के कारण जो सादृश्य विद्यमान है, वह पछांही हिन्दी और पूर्वी हिन्दी के बीच नहीं है, पूर्वी हिन्दी में तिर्यक् रूप का अभाव

१—राजस्थान का पिंगल साहित्य पृ० १५-२३।

स्त्रीलिंग के विषय में विशेष सहूलियत, तथा क्रिया में कर्मणि और भावे प्रयोगों का न रहना...इन कारणों से पछांही हिन्दी की गोष्ठी यह नहीं है, पर राजस्थानी, हिन्दी की ही सम गोष्ठीक है। व्याकरण गत अनुभव...जर्मन भाषा में जिसे sprachge-fuchl अर्थात् speech feeling कहते हैं, वह हिन्दी और राजस्थानी की बराबर ही है। इन सब कारणों से, व्याकरण का हिसाब यदि किया जाय, तो यह मानना ही पड़ेगा कि राजस्थानी और हिन्दी में पार्थक्य ऐसा लक्षणीय या असंयोजनीय नहीं है। खास करके यदि ब्रजभाषा पर तुलित किया जाय, तो हिन्दी और राजस्थानी और भी निकट सम्बद्ध मानी जांयगी[1]।

व्याकरण (भाषा की बनावट) जब तक बिलकुल दूसरी नहीं जँचती, तब तक किसी प्रतिष्ठापन्न भाषा की अधीनता से मुक्ति मिलना कठिन या तो असंभव होता है।[2]

६४—ऊपर जिन बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है, इनके अतिरिक्त वर्तमान समय में डिंगल एवम् हिन्दी की सम्बन्ध ग्रन्थि को अधिकाधिक दृढ़ करने के रचनात्मक प्रयोग विशेष द्रष्टव्य हैं। इस दिशा में प्रथम प्रयास हिन्दी प्रवेश के विश्वविद्यालयों में डिंगल की पुस्तकों का अध्ययन अध्यापन है। इसके विपरीत, राजस्थान में शिक्षा केन्द्रों में हिन्दी का प्रधान साहित्यिक भाषा के रूप में पठन-पाठन एवम् राजकीय भाषा घोषित होना है।

इस प्रकार सम्पूर्ण परिस्थिति का सहानुभूति पूर्ण पर्यवेक्षण करने पर डिंगल को हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत स्थान देना अनिवार्य सा हो जाता है।

ङ. हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत डिंगल साहित्य को रखने में हिन्दी साहित्य एवं उसके इतिहास पर प्रभाव

६५—हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत डिंगल साहित्य को स्थान देने पर हिन्दी साहित्य पर क्या प्रभाव होगा अथवा दूसरे शब्दों में हिन्दी साहित्य में क्या परिवर्तन और परिवर्द्धन करना होगा, यह विचारणीय है। इसे कार्यान्वित करने के दृष्टिकोण से सर्वप्रथम हम डिंगल साहित्य की उपलब्ध सामग्री का उल्लेख करेंगे।

डिंगल भाषा में रचा हुआ साहित्य विस्तृत है। यह पद्य एवम् गद्य दोनों में है। पद्य साहित्य प्रबन्ध और मुक्तक काव्य के रूप में है। विषय की दृष्टि से भक्ति तथा शृंगार की रचनाओं के अतिरिक्त डिंगल का रीति काव्य, वीर काव्य, प्रशंसात्मक काव्य, ऐतिहासिक गीत अथवा साख री कविता और दोहे महत्वपूर्ण एवम्

१—राजस्थानी भाषा पृ० ७५-७६।

२—वही पृ० ७६।

मौलिकता पूर्ण हैं। गद्य साहित्य के अन्तर्गत बात, ख्यात, विगत, पीढ़ी, वंशावली प्रभृति हैं जिनकी अपनी विशेषताएँ हैं। गद्य और पद्य की मिश्रित रचना अथवा चम्पू के रूप में वचनिका विशेष लक्षणीय है।

जिस सामग्री का संकेत संक्षेप में ऊपर किया गया है उसको हिन्दी साहित्य में समाविष्ट करने पर निम्नांकित विशेषतया उल्लेखनीय परिवर्तन, परिवर्द्धन अथवा संयोजन अपेक्षित होंगे—

१—भक्ति एवम् शृंगार विषयक उत्कृष्ट कवियों की कृतियों की संख्या में अभिवृद्धि होगी।

२—रीति ग्रन्थों के समावेश से नवीन अलंकार, छन्द तथा काव्य दोष आदि पर प्रकाश पड़ सकेगा।

३—वीर रस के श्रेष्ठ, सजीव एवम् मौलिक साहित्य का विस्तृत अध्ययन सम्भव होगा।

४—प्रशंसात्मक काव्य की परम्परागत धारावाहिक स्वरूप की स्थापना हो सकेगी।

५—ऐतिहासिक गीतों अथवा साखरी कविताओं में गीतों के नवीन प्रयोग दर्शनीय होंगे।

६—बिहारी तथा रहीम आदि के समान डिंगल में ज्ञात तथा अज्ञात नाम के दोहा और सोरठा छन्दों में रचना करने वाले कवि बहुत बड़ी संख्या में हो गये हैं। इन कवियों द्वारा निर्मित विशाल साहित्य को हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत स्थान देना होगा तथा इनका विशेष, विस्तृत एवम् गम्भीर अध्ययन हिन्दी साहित्य के इतिहास एवम् मध्ययुगीय भारतीय संस्कृति से सम्बद्ध महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करने में सहायक होगा।

७—बात, ख्यात, विगत, पीढ़ी तथा वंशावली के रूप में संचित गद्य साहित्य के समाविष्ट हो जाने से हिन्दी गद्य साहित्य के उद्भव तथा विकास की शृंखला संयुक्त हो सकेगी जिससे कि उसके प्राचीन मौलिक और सहज स्वरुप का निदर्शन संभवनीय हो सकेगा।

८—वचनिका के रूप में उपलब्ध चम्पू काव्य मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के लिये उपहार होकर एक अपूर्ण साहित्यांग की रूप रेखा प्रदान कर सकेगा।

६—सम्पूर्ण डिंगल साहित्य को हिन्दी साहित्य का एक अंग मान लेने पर या तो हिन्दी साहित्य के इतिहास का पुनर संगठन करना होगा अथवा परिशिष्ठ के रूप में एक सुविस्तृत अध्याय का संयोजन अपेक्षित होगा।

१०—हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों के अनुसार वीरगाथा काल लगभग १००० ईसवी से प्रारम्भ होकर १३५० ईसवी तक समाप्त हो जाता है। इसके

विपरीत, वास्तविकता यह है कि वीररस सम्बन्धी काव्य ऊपर संकेत की गई तिथि के आस पास से आरम्भ होकर १६-१७ वीं शती में पूर्णोत्कर्ष को प्राप्त होता है। अतएव डिंगल के वीर रस सम्बन्धी साहित्य के समावेश से इस भ्रान्ति का शोधन सम्भव हो सकेगा।

ऊपर जिन प्रभावों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है इनमें से कुछ की ओर डिंगल साहित्य से परिचित विद्वानों ने परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप में यत्र-तत्र संकेत किया है। डा० एल० पी० टेसीटरी के कथनानुसार राजस्थानी ऐतिहासिक इतिवृत्तों के प्रकाशन द्वारा राजपूतों के साथ किये गये अन्याय का परिष्कार हो सकेगा।[1] डा० सुनीति कुमार चैटर्जी के शब्दों में इस साहित्य के प्रकाशन से भारतीय साहित्य के इतिहास में एक अवलुप्त अध्याय का उद्धार होगा, जिससे भारत भारती का मुख और भी उज्वल होगा।[2] सच तो यह है कि डिंगल साहित्य के अध्ययन से हिन्दी साहित्य के इतिहास के लिये पर्याप्त नवीन जानकारी प्राप्त होगी।

डिंगल साहित्य वस्तुतः संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य से प्रभावित होते हुये भी बहुत कुछ मौलिकता लिये हुये हैं। यह मौलिकता डिंगल के साहित्यकारों की अपनी देन है तथा उनकी रचनाशील प्रवृत्ति एवम् क्षमता की प्रत्यक्ष परिचायक है। डिंगल साहित्य के इन मौलिक और अन्य चमत्कृत एवम् अलंकृत अवयवों द्वारा हिन्दी साहित्य को कुछ नवीन सामग्री उपलब्ध होगी, उसके विभिन्न अंगों को दृढ़ता और शक्ति प्राप्त होगी तथा साथ ही उसके कलेवर में अभिवृद्धि होगी। दूसरी ओर डिंगल के अधिकांश अप्रकाशित अमूल्य साहित्य को, जिसमें कि मध्यकालीन भारतीय संस्कृति का स्वरूप उखड़ी-उखड़ी उच्छ्वासें ले रहा है, जिसे अध्यावधि उपेक्षणीय एवम् अस्पृश्य सा समझा गया है और जिससे सम्बन्धित अनेक भ्रान्तियों का अभी तक सम्यक् रूप से निराकरण नहीं हो सका है, पुनर्जीवन का वरदान प्राप्त हो सकेगा और हिन्दी की इतर उपभाषाओं के समान उसे अपना विशिष्ट अधिकार पूर्ण स्थान मिल सकेगा।

१—राजस्थानी साहित्य का महत्व पृ० ६६।

२—रा० भा० पृ० ८२।

डिंगल पद्य साहित्य का अध्ययन

अध्याय ६

कुछ प्रमुख रचनाओं का आलोचनात्मक विवेचन

६५—डिंगल पद्य साहित्य का परिचय प्रस्तुत करने और उसकी विशेषताओं के संकेत करने के दृष्टिकोण से यहाँ डिंगल काव्य संबंधी विभिन्न विषयक कुछ प्रमुख रचनाओं का साहित्यिक मूल्यांकन करते हुये आलोचनात्मक विवेचन उपस्थित किया जाता है।

ढोला मारूरा दूहा[1]

परिचय

६६—इस काव्य ग्रंथ का रचयिता कल्लोल नामक कवि है।[2] इसका र० का० सन् १४७३ ई० है।[3] ग्रंथ का नामकरण, कथा के नायक ढोला (अथवा इतर नाम साल्ह कुमार) और नायिका मारवणी, जिसका संक्षिप्त रूप मारू है, तथा उसमें प्राप्त प्रमुख छंद दोहा, पर आधारित है। जैसा कि रचना के नाम से ही प्रकट होता है, ढोला मारू रा दूहा एक चरित्र प्रधान काव्य है। ढोला मारू रा दूहा काव्य का कथानक अत्यन्त सरल एवं संक्षिप्त है। इस कथावस्तु को 'ढोला तथा मारवणी का संयोग' कहा जा सकता है।

कथा वस्तु का विश्लेषण

६७—ढोला अथवा साल्ह कुमार और मारू अथवा मारवणी का विवाह इनकी शैशवावस्था में, जब कि वे क्रमशः ३ और ११।२ वर्ष के रहते हैं, संपन्न हो जाता है। अल्पायु होने के कारण दोनों अपने माता पिता के संरक्षण में रहते हैं अस्तु यहाँ कथा को नायक और नायिका के यौवन में पदार्पण करने के समय पर्यन्त के लिये विराम दे दिया गया है।

मारवाणी के वयस्का होने का उल्लेख कर कवि अत्यन्त नाटकीय ढंग से कथा सूत्र को संयुक्त करता है। वह स्वप्न में साल्हकुमार का दर्शन करती है।[4] इस

१—इसके दो संस्करण ना० प्र० स० काशी द्वारा क्रमशः वि० सं० १९९१ और २०११ में प्रकाशित हो चुके हैं।

२—अ० ३२।

३—अ० ३२।

४—दो० मा० दू० छं० सं० १४।

स्वप्न दर्शन का कारण बाल्यावस्था और तरुण अवस्था के मध्यांतर में सन्निहित है। अब मारवणी पर विरह का विष व्यापी प्रभाव उदासी बनकर प्रतिबिम्बित होने लगता है। स्वप्न दर्शन तथा गुण श्रवण द्वारा उत्पन्न मारवणी की इस वियुक्तावस्था की भावनाओं का अत्यन्त सुन्दर, मर्मस्पर्शी और कहीं-कहीं मौलिक ढंग से प्रकाशन बावहिया (पपीहा), वर्षा, सारस, कूंझड़िया (कुररी) और चक्रवाक से संबंधित दोहों में हुआ है।[1]

मारवाणी के शुक्ल पक्ष के वर्द्धनशील शशि के सदृश् विकासोन्मुख विरह ताथ एवं कृष्ण पक्ष के क्षयी निशीथ के समान पतनोन्मुख गात्र को लक्षित कर सखियाँ उसकी दशा 'साल्ह कुंवर पासइ बिना पदमिणि कुंभलांणी, और 'साल्ह विरहतिल भइ, मारु करइ विलाप' शब्दों में रानी उमादेवी के सन्मुख निवेदन करती हैं। वह यह सूचना राजा पिंगल को देती है जिससे कि राजा ढोला को बुलाने के लिये सांढियों (सांढनी सवारों) को नखर भेजता है।[2] यह सब घटनाएँ सूचनात्मक और स्वाभाविक है।

अनंतर अप्रत्याशित एवं नाटकीय ढंग से कवि पिंगल के राज दरबार में एक घोड़े के व्यापारी का प्रवेश कराता है। व्यापारी ढोला द्वारा मालवणी के पाणि ग्रहण का सन्देश तथा मालवणी की चतुरता के कारण पिंगल के निमंत्रण के ढोला तक न पहुँचने के कारण को उद्घाटित करता है।[3] इस स्थल पर मारवणी के सौदागर के कथन को श्रवण करने के औत्सुक्य एवं उस लोभ के संवरण न कर सकने का मनोविज्ञान सम्मत चित्रण अत्यधिक सुन्दर बन पड़ा है।

घोड़े के व्यापारी की बात को सुनकर राजा पुरोहित को नरवर के गमनार्थ बुलाता है किन्तु उमा देवी के अनुरोध पर वह याचकों को भेजना निश्चित करता है। याचकों के नरवर गमन के पूर्व मारवणी भी उन्हें बुलाती है और उन्हें विशेष ढंग से ढोला के समक्ष अपना सन्देश निवेदन करने का निर्देश देती है। मारवणी का यह संदेश ढोला मारू रा दूहा काव्य के सुन्दरतम तथा सर्वोत्कृष्ट स्थलों में है। इस संदेश में निहित भावी की सुन्दरता, व्यञ्जनात्मकता, मौलिकता एवं मर्मस्पर्शिता प्रभृति विशिष्टताएँ विशेषतया लक्षणीय हैं।[4]

ढाढी चतुरतापूर्वक ढोला के महल के निकट पहुँचकर, रात्रि के समय, संगीत के माध्यम से अत्यन्त कलात्मक ढंग से मारवणी के संदेश को ढोला को सुनाते हैं।

१—वही ६२ और ७४ विशेषतया द्रष्टव्य हैं।

२—वही ८१।

३—वही ६४।

४—ढो० मा० दू० छं० सं० ११०-१८३, जिनमें कि छन्द सं० ११३, १२०, १३५, १४२, १४४, १५५, १५६, १५६, १६०, १६६ विशेषतया द्रष्टव्य हैं।

जिस कुशलता से वे ढोला के हृदय में मारवणी के प्रति मिलन की उत्सुकता जाग्रत करते हैं वह श्लाध्य है। उन्हें अपने कार्य में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त होती है। यहाँ तक कि मारवणी के भावनाओं की तीव्रता का अनुभव कर वह उस रात्रि को सोने से भी वंचित होता है। फलतः वह सूर्योदय के साथ ही ढाढियों से मिलता है। ढाढी उसे मारवणी के सौंदर्य, शील, सौजन्य और विरह वेदना का ज्ञान करा कर उससे मिलने के लिये प्रेरित करते हैं तथा पुरस्कृत होकर विदा लेते हैं।[1]

मारवणी के अपने प्रति प्रेम को जानकर पहले तो ढोला में एक नवीन उत्साह, उमंग और स्फूर्ति का संचार होता है किन्तु कुछ समय के उपरांत प्रभाव करने वाली चोट के समान वह अपने में एक दैहिक पीड़ा एवं आतुरता का अनुभव करने लगता है जो कि क्रमशः चिंता और उदासी की काली छायायें बन कर उसके मुख पर प्रतिबिम्बित हो जाती हैं। मालवणी की पैनी दृष्टि पति के मुख की इन आड़ी तिरछी रेखाओं को सहज ही आँक लेती है।[2] यह स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चित्रण वास्तव में दृष्टव्य है।

नरवर का राजकुमार पूगल बाहर जाना चाहता है किंतु वह स्वभावतः इस रहस्य का उद्घाटन मालवणी के सम्मुख करने में हिचकिचाता है। अतएव वह मालवणी को आभूषणों, घोड़ों, ऊँटों, मोतियों और चीरों आदि का प्रलोभन देकर बहलाना चाहता है। इतना ही नहीं, वह देश विदेश भ्रमण से लाभ उठाने के बहाने भी मालवणी से छुटकारा पाने का उद्यम करता है।[3] किन्तु वह ढोला की इन शिशु सुलभ बातों को समझाने के लिये अत्यन्त चतुर है। उसे ढोला के राग रोग से पीड़ित होने का आभास मिल जाता है जिससे कि उसका नारीत्व सजग हो जाता है तथा वह 'हम थी कुण छइ आगली, बसइ तुहारइ चीसि' प्रश्न कर बैठती है। इस प्रश्न द्वारा ढोला समझ जाता है कि मालवणी उसे किसी प्रकार न जाने देगी। अस्तु, वह शिशु सुलभ सारल्य एवं खिझलाहट के साथ 'मो मारू मिलिवा तणी, खरी विलग्गी खंसि' कह कर वास्तविकता प्रकट कर देता है।

पति पर एकाधिपत्य की कामना करने वाली नारी पर बज्राघात हो जाता है। इन शब्दों का विषाक्त प्रभाव अत्यन्त सजीवता और वास्तविकता के साथ 'ऊभी थी हड़बड़ पड़ी, जाणे उसी भुजंग' में अभिव्यंजित किया गया है। भारतीय नारी के पति-प्रेम, तन्मयता, और एक निष्ठा का ऐसा आदर्श तथा मनोवैज्ञानिक चित्रण साहित्य में कम ही मिलता है। इस स्थल पर ढोला की अवस्था 'आये थे हरि भजन

१—ढो० मा० दू० छन्द। ० १८८-२१०।

२—वही २१८-१६।

३—ढो० मा० दू० छन्द संख्या २११, २२४, २२६, २३०, २३२ और २३४।

को ओटन लगे कपास' द्वारा वर्णन की जा सकती है। कहाँ तो वह अपनी नव प्रेयसी से मिलने के स्वप्न देख रहा था। और कहाँ उसे मालवणी के उपचारार्थ जुटना पड़ता है। चेतनता लाभ करने पर मालवणी कातर होकर विलाप करने लगती है। अपने अत्याचार के प्रायश्चित तथा मालवणी के आसुओं का मूल्य चुकाने के लिये ढोला को एक वर्ष प्रतीक्षा करना पड़ता है यद्यपि इस मध्यांतर में वह अनेक बार मालवणी से पूगल जाने की अनुमति माँगता है। इस एक वर्ष की अवधि में कवि ने ऋतु वर्णन का समावेश किया है जिसमें कि ढोला और मालवणी के कथोपकथन में प्रसंगात् आये हुये वर्षा और शरद् ऋतुओं के वर्णन सुन्दर बन पड़े हैं।[1]

प्रतिक्षा करते करते ढोला के धैर्य का बाँध टूट जाता है। अत: वह जाने का दृढ़ निश्चय करता है। मालवणी भी पति के जाने के हठ को देखते-देखते शनैः-शनैः मानसिक दृढ़ता प्राप्त करती है। वह जानती है कि ढोला किसी दिन जायगा अवश्य, किन्तु जीवित मक्षिका निगलना संभवनीय नहीं होता। वह आशा, धैर्य, और साहस के साथ अपने लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त छल और बल का भी प्रयोग करती है। अपने हृदय के कारण वह विवश है। वह ढोला को चलने के लिये उद्यत देख 'झब झब झूंबइ पागहइ, डब डबनयण भरेह' तथा 'सूंता' पल्लाणेह की अनुमति दे देती है। नारी के इस दयनीय रूप को देखकर कौन सा हृदय होगा जो पसीज न जाये। मालवणी की स्वेच्छानुसार अभिनय करने वाले ऊँट को जब ढोला दंड का आदेश देता है तो वह उसके बदले में एक गधे को दगवा देती है जिसके कारण उसे अपनी सास चंपावती की भर्त्सना 'रे वाजरण छोहरी, कांइ खेलाड़इ घाति' चुपचाप सहन करना पड़ता है। तदनंतर, वह प्रकृति के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर अनवरत पंचदश दिवारात्रि जागरण कर साल्ह कुमार को रोकने का अंतिम प्रयत्न करती है।[2] यह साधना उसकी पति परायणता, सतीत्व एवं अनन्य प्रेम का उच्चतम बिंदु है। पति के लिये मालवणी का यह आत्मोत्सर्ग भारत की किसी भी अन्य आदर्श नारी से टक्कर लेने में समर्थ है।

१६ वीं रात को प्रकृति से संघर्ष करते-करते थक जाने पर निद्रा मालवणी को पराजित करने में समर्थ होती है। मालवणी के कुछ देर के लिये गंभीर निद्रा में निमग्न होते ही, उपर्युक्त अवसर की ताक में रहने वाला ढोला, बिना एक पल खोये प्रस्थान कर देता है।[3] फलतः मालवणी के जीवन में नितांत नवीन परन्तु अवश्यंभावी मोड़ का आगमन होता है। पति के प्रेम रस से अभिसिंचित मालवणी को अकस्मात प्रथम बार विरह की दारुण यातना भुगतना पड़ता है। उसके लिये

१—ढो० मा० दू० छं० सं० २४३-७६ तथा २७७-३०३।
२—ढो० मा० दू० छन्द संख्या ३४२।
३—वही ३४७।

महल श्मशान और शैया विषधर बन जाते हैं। वह काजल, तिलक एवम् तांबूल प्रभृति आलंकारिक उपकरणों को तिलांजलि दे देती है। उन्माद और उद्वेग की अवस्था में वह पागलों का सा प्रलाप भी करती है। किन्तु साथ ही मानसिक स्वास्थ्य लाभ करने पर वह पति के वापस लौटाने के लिये, शुक को अपने मरण के संदेश वाहक के रूप में उसके पास भेज कर, एक और निष्फल प्रयास करती है।[१] लेखक के व्यक्तिगत मत के अनुसार इस काव्य का सर्वोत्कृष्ट स्थल 'मालवणी का विलाप' है।[२] इसमें काव्य शास्त्रानुमोदित विरहिणी नायिका की समस्त काम दशायें[३] अभिलाषा (छं० सं० ३८६), चिंता (छं० सं० ३८५), स्मृति (छं० सं० ३५६) गुण कथन (छं० सं० ३७६), उद्वेग (छं० सं० ३६६), प्रलाप (छं० सं० ३६१) उन्माद (छं० सं० ३६६), व्याधि (छं० सं० ४०४, ३८२), जड़ता (छं० सं० ३४६), मूर्च्छा (छं० सं० ३३६) और मरण (छं० सं० ४०४) जो कि केवल निवेदन किया गया है, पूर्ण सफलता के साथ सङ्गठित हो सकी है। विप्रलंभ शृंगार के इस वर्णन में अंतिम तीन कामदशाओं के अतिरिक्त इतर अवस्थाओं के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। मालवणी विरह के इस प्रसंग की जितनी भी प्रशंसा की जाय अल्प है।

पूगल के मार्ग में ढोला को शुक के अतिरिक्त एक गड़रिया तथा ऊमर सूमरा नामक मारवणी के एक अन्य प्रेमी का चारण, मिलते हैं जो कि मारवणी के सम्बन्ध में उसे भ्रामक-सूचनाएँ प्रदान करते हैं।[४] ये प्रवाद तत्कालीन समाज की पतितावस्था के सांकेतिक समझे जा सकते हैं। जो कुछ भी हो, इन प्रवादों के प्रयोग द्वारा ढोला के मानसिक अंतर्द्वन्द्व के संकल्प विकल्पात्मक पक्ष का सुन्दर विवेचन हो सका है। आंतरिक संघर्ष के कारण ढोला के मन और मस्तिष्क में उद्वेलन होता रहता है। इस अवसर पर कवि नाटकीय ढंग से उसका साक्षात्कार मारवणी के चारण वीसू से करा देता है। यह अप्रत्याशित मिलन ढोरा और मारवणी के संयोग का पूर्वाभास है। वीसू चारण मारवणी के अन्तर एवम् वाह्य सौंदर्य का उल्लेख करता है।[५] रूप का यह वर्णन रीति कालीन नख शिख वर्णन से किसी अंश

१—ढो० मा० दू० छन्द संख्या ३६७-४०६।

२—वही ३४८-३६६ तथा ४१०-४२३।

३—अभिलाषश्चिन्तास्मृति गुणकथनोद्वेग सम्प्रलापाश्च।
उन्मादो थ व्याधिर्जड़तामृतिरिति दशात्र कामदशा।
साहित्य दर्पण अध्याय ३-२१४। वर्तमान समय में विद्वानों ने जड़ता और मृत्यु के मध्य 'मूर्च्छा' को स्थान देकर इनकी संख्या ११ कर दी है।

४—ढो० मा० दू० छन्द सं० ४३८ तथा ४४२-४३।

५—वही ४५१-४८८।

में उन्नीस नहीं है। रूप छटा के इस संगुंफन में प्राचीन तथा नवीन और मौलिक उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के प्रयोग दर्शनीय हैं।

ढोला के पूगल पहुँचने से पूर्व गत रात्रि को मारवाणी स्वप्न में उससे मिलती है।[1] और मिलन के दिन तो उसके नेत्र, नाभि, भुजाएँ और अधर इत्यादि शुभांग स्फुरित होते हैं।[2] वह आह्लादित और उल्लसित है किन्तु उसे सहसा विश्वास नहीं होता कि उसके प्रियतम इतना शीघ्र मिल सकेंगे। यहाँ कहना न होगा कि स्वप्न मिलन और शुभांगों का स्फुरण प्रियजनों के पारस्परिक आध्यात्मिक ऐक्य सम्बन्धी भारती विचारधारा के समर्थक हैं।

वीसू चारण ढोला के पदार्पण का समाचार देता है जिससे कि राजा पिंगल तथा अन्य सभी आनंदित होते हैं और निस्सीम प्रसन्नता के कारण मारवणी का 'हृदय हिमालय हो जाने के कारण शरीर रूपी पंजर में नहीं समाता'।[3] साल्ह कुमार का समुचित सम्मान किया जाता है तथा वह मारवणी से मिलता है। इस अवसर पर मारवणी के हर्षातिरेक को कवि ने 'थांभा नाचइ घर हँसइ खेलण लागी खाट' द्वारा व्यक्त किया है। तदुपरांत संयोग श्रृंगार का अपूर्व वर्णन है जिसमें परिचयात्मक प्रश्नोत्तर[4] के अतिरिक्त दम्पति विनोद,[5] प्रहेलिकाओं[6] तथा अष्टयाम[7] के वर्णन हैं। दंपत्ति विनोद में एकाध स्थलों पर अश्लीलता आ गई है[8] अन्यथा वह अत्यन्त मर्यादित है। प्रहेलिकायें सुन्दर, मनोरंजक तथा नवीन है जिनके हलों से मारवणी की कुशाग्र बुद्धि का परिचय मिलता है। अष्टयाम में नवदंपति के अष्ट प्रहरों के क्रिया कलापों का आकर्षक और हृदयग्राही चित्रांकन है।

पूगल में १५ दिन व्यतीत कर ढोला मारवणी का गमनोत्सव (गौना) करा कर आभूषणों, दास दासियों, हाथी घोड़ों तथा सोलह सौ सवारों के साथ विदा होता है।[9] पूगल से नरवर जाते समय ढोला पर दो बार आपत्तियों का आक्रमण होता

१—ढो० मा० दू० छन्द संख्या ५०१-१३।
२—वही ५१६-२०।
३—वही ५२६।
४—वही ५४६-५५०।
५—वही ५५१-५६६।
६—वही ५६७-५८०।
७—वही ५८२-६०
८—वही ५५४-५६६।
६—ढो० मा० दू० छन्द संख्या ५६४-५६७।

है। पहले, पीवणा पन्नग मारवणी को सुप्तावस्था में काट लेता है जिसे कि एक योगी अभिमंत्रित जल द्वारा चेतनता प्रदान करता है।[1] अनंतर, ऊमर सूमरा मारवणी को हस्तगत करने के लिये ढोला के साथ विश्वासघात करने का उद्योग करता है किन्तु यह षड्यन्त्र भी एक ढोलिन की सहानुभूति तथा मारवणी की सतर्कता से विफल होता है[2] और साल्ह कुमार अंत में सकुशल नरवर पहुँच जाता है। इस प्रकार साल्हकुमार मारवणी तथा मालवणी आनन्दपूर्वक रहने लगते हैं।

कथावस्तु के इस विवेचन तथा अंतिम परिणाम को देखने पर यह सुस्पष्ट हो जाता है कि ढोला मारू रा दूहा काव्य का अंत सुखमय और प्राचीन काव्य शास्त्र के नियमों पर आधारित है।

काव्य रूप निर्णय

६८—ढोला मारू रा दूहा काव्य के संपादकों ने इसे एक 'जनप्रिय लोक गीत' माना है, तथा लोक गीतों के निष्कर्ष पर उसके शुद्धता की परीक्षा करने का प्रयत्न भी किया है।[3] इस परीक्षण क्रिया में वे कहाँ तक सफल हो सके हैं यह संदेहास्पद, विवादपूर्ण एवम् चिंत्य विषय है। इस संबंध में यह भी संकेत कर देना अनपेक्षित न होगा कि उन्होंने इस रचना में प्रबंधात्मकता के दर्शन किये हैं तथा उसकी प्रेम कहानी का प्रेम मार्गी कवियों की कहानी से मिलती जुलती होना स्वीकार किया है।[4] इतना ही नहीं, उन्होंने जायसी की पद्मावती की कहानी से ढोला मारू की प्रेम गाथा को तुलित कर अनुचित व उसके काव्य गुणों का सविस्तार विश्लेषण भी किया है। अस्तु, यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि इस काव्य ग्रंथ को लोक की संज्ञा देते हुये वे संकोच की अनुभूति अवश्य करते रहे होंगे। वास्तविकता यह है, कि इस काव्य ग्रंथ में गीत जिसके अंतर्गत लोक गीतों का भी स्थान है, के प्रमुख गुण,[5] आंतरिक एवं वाह्य संगीतात्मकता, अविछिन्न, उन्मुक्त अथवा निर्बंध भावना, मनोवेगात्मकता, और भाषा का सारस्य सारल्य, सौकुमार्य तथा माधुर्य, संगठित नहीं हो पाते। लेखक के मतानुसार इस काव्य के वर्ण्य विषय, जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है, एवं इसकी प्रबंधात्मक रचना शैली

१—ढो० मा० दू० छं० सं० ६०१-२२।

२—वही ६२७-५१।

३—ढो० मा० दू० की मू० पृ० ४३-४८ (प्र० सं०) अथवा ३१-४४ (दि० सं०)।

४—वही पृ० ४४-४८ तथा ६३ (द्वि० सं०)।

५—पं० रादहिन मिश्र काव्य दर्पण पृ० ३३२-३४।

तथा अन्य विशेषताओं को देखते हुये इसे एक प्रेमरख्यानक खंड काव्य कहा जा सकता है ।

साहित्य दर्पण कार ने खंड काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

खंड काव्यं भवेत्काव्येक देशानुसारिच ।[1]

अर्थात् खंड काव्य एक देश या अंश का अनुसरण करता है । दूसरे शब्दों में खंड काव्य में काव्य के एक अंश अथवा जीवन के एक अंग, किसी कथा या स्वतः पूर्ण घटना का उल्लेख होता है । खंड काव्य महाकाव्य[2] के ही ढंग पर रचा गया होता है । महाकाव्य का सा तारतम्य होते हुये भी उसका क्षेत्र सीमित होता है । उसमें महाकाव्य के समान जीवन की अनेक रूपता नहीं होती । वास्तव में उसमें कहानी और एकांकी की भाँति एक ही प्रधान घटना के निमित्त सामग्री का संगठन किया जाता है । यहाँ ढोला मारू रा दूहा के खंड काव्यत्व को दृष्टिकोण में रखकर उसकी मीमांसा प्रस्तुत की जाती है ।

ढोला मारू रा दूहा में 'आशीर्नमास्क्रया' का अभाव है यद्यपि अन्य कई प्रतियों में यह उपलब्ध है ।[3] 'वस्तु निर्देश' का जहाँ तक सम्बन्ध है वह प्रारम्भ के

१—साहित्य दर्पण पृ० ६३७, श्लोक संख्या ३२६ षष्ठ परिच्छेदे ।

२—सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ॥१४॥
इतिहास कथोद्भूतमितरद्वा सहाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम् ॥१५॥
नगरार्णवशैलर्त्तु चन्द्रार्कोदय वर्णनैः ।
उद्यान सलिल क्रीड़ामधुपान रतोत्सवैः ॥१६॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः ।
मन्त्रदूत प्रयाण जिनायकाभ्युदयैरपि ॥१७॥
अलङ्० कृतमसङ्०क्षिप्तं रसाभावनिरन्तरम् ।
सर्गैरनति विस्तीर्णैः अव्यवृत्तैः सुसन्दिभिः ॥१८॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जकम् ।
काव्यं कल्पान्तरस्यायि जायेत सदलङ्० कृति ॥१९॥
(काव्यादर्शः पृ० १०)

३—ढोला मारू रा दूहा के परिशिष्ट की (थ), (क), (च), (छ), (झ), और (न) प्रतियाँ क्रमशः पृ० २२६, २७७, ३०४, ३१८, ३२६ तथा ३७६ के प्रथम दोहे ।

प्रथम दोहे में उपलब्ध है। नायक ऐतिहासिक कथा से उद्भूत व्यक्ति है तथा सदाश्रय से प्रेरित है। उसका चरित्र मानव सुलभ धर्म, अर्थ, काम, और परोक्ष रूप में मोक्ष 'चतुर्वर्ग' के प्राप्त करने की रूप रेखा उपस्थित करता है। ग्रंथ में साल्हकुमार धीर ललित नायक के रूप में चित्रित किया गया है। नगरों के वर्णन अनेक स्थलों पर मिलते हैं। पूगल अथवा मारवाड़ (छन्द संख्या २५०, २५१, ४६८, ५२३, ५२४, ६५४, ६६२ और ६६६, (६७०) नरवर (छन्द संख्या २२२, २२३ और ३८६) मालवा (छन्द संख्या ६५३-६५५), पुष्कर (छन्द संख्या ४२७-४३३ और ४३५) नगरों के वर्णन के अतिरिक्त इंडर (छन्द संख्या २२४ और २२५), मुलतान (छन्द संख्या २२६ और २२७), कच्छदेश (छन्द संख्या २२८ और २२६), सुमेर (छन्द संख्या २३० और २३१) तथा गुजरात की मुख्य प्रादेशिक विशेषताओं का उल्लेख है। अर्थात अर्णव (छन्द संख्या ५४, ६६, ७०, १२८, १६४, २१२, २१३, २५३, २६५, ४१६, ४३२-४३४, ४६८ और ५६८), शैल (छन्द संख्या ६६, ७०, ७२, ७३, १६४, २१२, २५३, ४२४, ४३६, ५७७, ५२६ और ६४८), चन्द्रोदय (छन्द संख्या १२६), अर्कोदय (छन्द संख्या १३०, १६४, ४७८, ५४६, ६०२, और ४६४) सलिलक्रीड़ा (छन्द संख्या ५१, ५२,५३, ६०-६७, ३६४ और ५५२), मधुपान (छन्द संख्या ४१८ और ६३१), रतोत्सव (छन्द संख्या ५४२-५६६, ५८१-५८३, ५६२ और ५६३), विप्रलम्भ (छन्द संख्या १४, ७८, ३४६, ३६६ और ४१०, ४२२), विनाह (छन्द संख्या ६, १०), मंत्र दूत प्रयाण और दूत कर्म (छन्द संख्या १०५-१०७, १६५-२०७, और ३६७, ४०६) के विविध प्रकार के अलंकरण ग्रंथ की सौन्दर्य वृद्धि करते हैं। अलंकारों का प्रयोग, रस और भाव की निरन्तर उपलब्धि, विभिन्न वृतांत और लोक रंजकता आदि अन्य विशेषताएँ इस काव्य को चमत्कृत करती हैं।

यहाँ यह बता देना अप्रांगिक न होगा कि महाकाव्य के लिये ही अपेक्षित होने वाले कुछ लक्षण, सर्गबन्धुत्व, असंक्षिप्ता, सर्गों का अनवय और संधियाँ ढोला मारू रा दूहा में नहीं आ सके हैं। जैसा कहा जा चुका है ढोला मारू रा दूहा एक खंड काव्य है अतएव महाकाव्य के समस्त लक्षणों का उसमें होना आवश्यक नहीं है।

चरित्र चित्रण

६६—कहा जा चुका है कि ढोला मारू रा दूहा एक चरित्र प्रधान शृंगार काव्य है, अतएव प्रधान पात्रों का संक्षिप्त परिचयात्मक उल्लेख किया जाता है।

(१) ढोला—इसका इतर नाम साल्ह कुमार भी है। यह कथा नायक है। शास्त्रानुसार उसे धीर ललित नायकों की श्रेणी में रक्खा जा सकता है। नरवार

का राजा नल उसका पिता और रानी व चम्पावती उसकी माता है। तीन वर्ष के शिशु साल्ह कुमार के सौन्दर्य को देखते ही पूगल के राजा पिंगल की रानी उमादेवी उस पर रीझ जाती है तथा अपनी डेढ़ वर्ष की पुत्री राजकुमारी मारवणी से उसका विवाह कर देती है। वयस्क होने पर प्रथम पत्नी मारवणी से अपरिचित साल्हकुमार का द्वितीय व्याह मालवा की राजकुमारी मालवणी से सम्पन्न करा दिया जाता है। और वह पूर्ण सुख तथा सन्तोषपूर्वक जीवन यापन करने लगता है।

कुछ काल के उपरान्त ढोला को पिंगल नरेश द्वारा प्रेषित ढाढियों के द्वारा प्रथम पत्नी मारवणी का संदेश प्राप्त होता है। संस्कार रूप में वपित शैशव का प्रेम बीज मारवणी के संदेश रूपी जल से सिंचित होकर अंकुरित एवम् संवर्द्धित होने लगता है। वह मारवणी से मिलने के लिए प्रयत्नशील होता है। अपने उद्देश्य के पूर्त्यार्थ मालवणी को अनेक मिथ्या प्रलोभन देकर भी जब वह सफल नहीं हो पाता तो वह निष्कपट भाव से मालवणी को वास्तविक कारण बता कर जाने की अनुमति मांगता है। मारवणी के कारण वह अपनी परिणीता मालवणी की उपेक्षा नहीं करता वरन् वह एक वर्ष और पन्द्रह दिन उसकी अनुमति की प्रतीक्षा करता है। और अन्त में मालवणी के कथनानुसार वह उसे सुप्तावस्था में छोड़कर पूगल के लिये मरुभूमि के यान ऊँट पर सवार होकर प्रस्थान करता है।

ढोला जब चन्देरी और बूँदी के मध्यस्थित सरोवर पर दातून करता रहता है उस समय मालवणी संदेशवाहक शुक आकर मालवणी का मरण निवेदन करता है। ढोला मालवणी के त्रिया चरित्र की गहनता का सहज ही अनुमना कर लेता है। और शुक को एक कटाक्षपूर्ण उत्तर के साथ वापस लौटा देता है। मार्ग में एक गड़रिया तथा मारवणी के प्रेमी ऊमर सूमरा का चारण मारवणी के सम्बन्ध में उसे भ्रामक सूचनाएँ प्रदान करते हैं जिनसे कि वह दुश्चिंता का शिकार होता है। किंतु उसके पथ का एक मात्र सहचर करहा तथा विशेषतया वीसू नामक मारवणी का चारण उसके विभ्रम जा निवारण करते हैं। वीसू चारण को पुरस्कृत कर वह राजा पिंगल के पास अपने आगमन की पूर्व सूचना प्रदान करने के निमित्त भेज कर वह द्विगुणित आशा विश्वास, और उत्साह के साथ उँट से वार्तालाप करते हुये और प्राकृतिक दृश्यों का निरीक्षण करते हुये पूगल जा पहुँचता है।

पूगल में ढोला एक पक्ष पर्यन्त मारवणी के साथ सुख भोग कर उसे विदा कराकर नरवर के लिये प्रस्थान करता है। मारवणी के सहवास के इस अल्प समय में वह उससे अत्यधिक प्रभावित होता है। मारवणी के सर्प दर्शन द्वारा मृत्यु होने पर उसके साथ चिता में जल कर भस्म होने को उद्यत हो जाता है। अनन्तर मार्ग में ऊमर सूमरा के विश्वासघातात्मक षड्यन्त्र को न समझ कर उसके साथ मद्यपान

करने बैठ जाता है। मारवणी द्वारा षड्यन्त्र के रहस्योद्घाटन पर वह सतर्कतापूर्वक विद्युत गति से उष्ट्रारोहण कर नरवर जा पहुँचता है। तदुपरांत वह अपनी उभय पत्नियों के साथ सुख और शान्तिमय जीवन व्यतीत करता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि साल्ह कुमार एक योग्य, सरल, निष्कपट चतुर, व्यवहार कुशल, कर्तव्यशील, कलाप्रिय, तथा रतिक्रीड़ा कुशल प्रेमी और पति है। इन गुणों के अतिरिक्त सौंदर्य, साहस, धैर्य, दानशीलता, गुणग्राहकता प्रभृति अन्य अनेक गुण उसके व्यक्तित्व की विशेषताएँ हैं।

(२) **मारवणी**—राजा पिंगल और रानी उमादेवी की कन्या राजकुमारी कारवणी का चरित्र चित्र एक पद्मनी एवम् मुग्धा नायिका के रूप में खचित किया गया है। डेढ़ वर्ष की आयु में ही उसका विवाह नरवर के राजकुमार से होता है। कौमडावस्था में जब उसे अपने विवाहित होने का ज्ञान होता है उसी समय से वह अपने आराध्य की काल्पनिक मूर्ति को हृदय 'मन्दिर में प्रतिष्ठापित कर उसके ध्यान में मग्न हो जाती है। पति के अतिरिक्त प्रत्येक पर पुरुष को वह भ्रातृ भावना से देखने लगती है। ढोला के गुण श्रवण एवम् स्वप्नदर्शन मात्र से वह विरहाकुलित हो जाती है। वह अपने प्रियतम के प्रेम में इतना तन्मय हो जाती है कि सपत्नी मालवणी 'का ज्ञान भी उसे विचलित नहीं कर पाता। ढाढियों के नरवर प्रस्थान करते समय वह मारू राग में अपने संदेश को ढालकर उसे नाटकीय ढंग से निवेदन करने का निर्देश देती है।

मारवणी अप्सरा के सदृश अपूर्व रूपसी है। उसके रूप की कीर्ति दूर-दूर तक प्रसारित है। वीसू चारण द्वारा उसके सौंदर्य का सजीव वर्णन हुआ है। उसका मूक सौंदर्य ही उसकी मुखर वाणी है जिसके प्रमाण से अधिक भी अस्पृश्य नहीं रह पाते। वह कुशाग्र धीमती है। ढोला को प्रदत्त उसके उत्तर उसकी बुद्धिमता के प्रमाण में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। पंचदेश दिवसों के संसर्ग में ही वह साल्हकुमार को पूर्णतया अपना लेती है। ऊमर सूमरा के प्रवंचनापूर्ण जाल से बाल-बाल बचकर निकल जाना उसी की तीव्रगतिशील बुद्धि का परिणाम है। मालवणी के उम्मुख मारवाण और मालव देश की प्रशंसा तथा निन्दा सम्बन्धी वाद-विवाद में जब उसका पक्ष हलका पड़ जाता है तो साल्ह कुमार को उसका पक्ष ग्रहण करना पड़ता है।

वीसू चारण के कथनानुसार मारवणी गति में गंगा, बुद्धि में सरस्वती और शील स्वभाव में सीता है। भावुकता, धैर्य, कोमलता, गम्भीर्य आदि उसके विशेष गुण हैं। संगीत, अभिनय, गाथा, पहेली, गुणोक्ति इत्यादि उसे अत्यन्त प्रिय है। इन समस्त गुणों के अतिरिक्त उसका पति में अनन्य प्रेम, श्रद्धा एवं विश्वास उसे भारत की अग्रगन्य नारियों में स्थान प्रदान करता है।

(३) मालवणी—कदाचित् मालवणी मालवदेश की राजकुमारी है[1]। वह ग्रंथ में मुग्धा एवं उपनायिका के रूप में चित्रित की गई है। उसका प्रथम उल्लेख दोहा १४ में मिलता है। अश्वों के व्यापारी के अनुसार वह इतनी चतुर है कि राजा पिंगल के दूतों को साल्ह कुमार के पास तक पहुँचने ही नहीं देती। वह मार्ग में ही उनकी हत्या करा देती है। वस्तुतः इस कथन का कथा में कोई सक्रिय प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। उसकी पैनी दृष्टि एक कुशल मनोवैज्ञानिक की सी है। वह अपने पति साल्ह कुमार के दुख-सुख का विशेष ध्यान रखती है। ढोला के मुख पर विषाद का प्रतिबिम्ब लक्ष्य कर वह कारण जानने की चेष्टा करती है। इतना ही नहीं वह उसके मुख से मन की आन्तरिक बात कहलवा लेती है। पति को अन्य सुन्दरी के प्रति आकृष्ट जान कर वह अपनी मन:स्थिति का सम्भार करने में अशक्त हो जाती है और मूर्छित हो जाती है जो कि उसकी पति प्रेम की पराकाष्ठा का परिचायक है। वह ढोला की प्रीति पात्र है। ढोला पर वह अत्यन्त अधिक प्रभाव रखती है। वह उसे एक वर्ष और १५ दिन तक रोक रखती है। ढोला के नरवर से प्रस्थान करने पर वह विरहिणी हो जाती है। किन्तु वह पूर्णतया किंकर्तव्य विमूढ़ नहीं होती वरन् शुक को स्वमरण निवेदन करने के लिये भेज कर ढोला को पुनः नरवर वापस लौटाने का अन्तिम असफल प्रयास करती है। काव्य में मालवणी के विरह की नरम अभिव्यक्ति संभवनीय हो सकी है।

ढोला के मारवणी को पूगल से विदा करा कर लौटने पर वह अत्याचार का शिकार होती है। ढोला मारवणी को और उसे क्रमशः दो और एक के अनुपात में निशा साहचर्य प्रदान करता है। इतना ही नहीं मालवदेश और मारवाड़ की प्रशंसा तथा निन्दा संबंधी वाक् युद्ध में वह अनावृत्त ढंग से मारवणी का पक्ष ग्रहण करता है। इस प्रकार मालवणी का चरित्र दयनीयता की सीमा का स्पर्श करता है। इसी कारण पाठक की सर्वाधिक सहानुभूति ढोला मारूरा दूहा में मालवणी को प्राप्त होती है।

पति द्वारा प्रवंचित और प्रताड़ित होने पर भी मालवणी का प्रेम हिमालय की भाँति वह अचल तथा सागर की भाँति गंभीर रहता है। उसे अपने पति में पूर्ण श्रद्धा है। वह अत्यन्त बुद्धिमती है। वह प्रत्येक परिस्थिति की गंभीरता को समझती है। वह चतुर, व्यवहार कुशल, सपत्नी से शान्तिमय द्वेष रखने वाली, कर्तव्यनिष्ठ, पति परायण दुख और सुख में धैर्य और सन्तोष से कार्य करने वाली नारी रत्न है। विरह और दुख से दग्ध होने के कारण मालवणी का चारित्रिक पक्ष मारवणी की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल और निर्मल हो सका है।

१—ढोला मारू दूहा की प्रस्तावना पृ० ३३।

(४) ऊमर सूमरा—इस काव्य ग्रन्थ में ऊमर सूमरा एक शठ नायक और जहाँ तक मारवणी का संबंध है ढोला के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में अंकित किया गया है। वह मारवणी पर आसक्त है। मारवणी को हस्तगत करना उसका लक्ष्य है। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त वह छल कपट और मिथ्यापवाद का आश्रय लेता है। साथ ही वह जल प्रयोग के लिये भी तत्पर होता है। किन्तु मारवणी की सतर्कता के फलस्वरूप उसके षड्यन्त्र का चक्रव्यूह छिन्न-भिन्न हो जाता है। सम्पूर्ण कथा में ऊमर सूमरा का आगमन केवल एक स्थल पर होता है। उसकी उपस्थिति द्वारा एक विशिष्ट कौतूहलजनक स्थिति का सृजन होता है।

गौण पात्र

९९—उपर्युक्त पात्रों के अतिरिक्त राजा नल, रानी चम्पावती, राजा पिंगल, रानी उमा देवी, अश्वों का सौदागर, वीसू चारण, ढाढ़ी, रेवारी, पुरोहित, सखियाँ, ऊँट और शुक इत्यादि पात्रों का स्थान चारित्रिक दृष्टि से अत्यन्त गौण है। उनका प्रयोग कथा को एक सूत्र में पिरोने के उद्देश्य से किया गया है।

उपसंहार

१००—ढोला मारू रा दूहा न केवल राजस्थानवासियों का वरन् गुजरात वालों का भी प्रिय काव्य ग्रंथ रहा है। इसका कारण यह है कि इसके रचना काल के लगभग (१४७३ ई०) राजस्थान और गुजरात की भाषायें एक दूसरे के सन्निकट थीं। गुजरात के प्रसिद्ध साहित्यकार कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने इसे वाचक कुशललाम, १६ वीं शती ईसवी के कवि, की रचना माना है[1] जो कि भ्रममूलक है। वास्तविकता, जैसा कि ढोला मारू रा दूहा के संपादकों का मत है, यह है कि जैनयति कवि कुशललाभ ने ढोला मारू रा दूहा में चौपाइयाँ जोड़कर उसे अधिक व्यापक, सुगठित और मनोरम बनाने का प्रयास किया था[2]। जो कुछ भी हो, अपनी उत्कृष्टता के कारण यह ग्रंथ जन प्रिय ही नहीं, विद्वानों के लिये भी सदैव आदर की वस्तु रहा है। इसके प्रशंसकों में संपादक त्रय रामसिंह, सूर्य करण पारीक तथा नरोत्तम दास स्वामी[3] के अतिरिक्त डा० गौरीशंकर ओझा[4], पुरोहित

१—गुजरात ऐंड इट्स लिटरेचर, पृ०१५६, सन् १९३५ ई० का संस्करण।
२—ढो० मा० दू० की प्र० पृ० ११-१२।
३—रा० दू० (प्र०) पृ० ४९।
४—ढो० मा० दू० प्रवचन पृ० ७९।

हरिनारायण शर्मा[1], घनश्याम दास बिड़ला[2], मोतीलाल मेनारिया[3], कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी[4], डा० रामकुमार वर्मा[5] और नामवर सिंह[6] के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

१—ढो० मा० दू० प्रवचन, पृ० ७...६।

२—वही ११...१५।

३—रा० सा० रू० पृ० २१६ तथा रा० मा० सा० पृ० १०१...५।

४—गुजरात ऐंड इट्स लिटरेचर पृ० १५६...५६, सन् १६३५ ई० का संस्करण।

५—हि० सा० आ० इ० पृ० २६१...६२।

६—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग पृ० ५२...५३ तथा १८३...८६।

बेलि क्रिसन रुक्मिणी री

परिचय

१०१—महाराज पृथ्वीराज राठौड़ द्वारा लिखित बेलि क्रिसन रुकमणी री नामक सन् १५८१ ई०[1] का खंडकाव्य न केवल डिंगल साहित्य की वरन् हिन्दी साहित्य की भी एक उत्कृष्टतम रचना है। डा० एल० पी० टेसीटरी के कथनानुसार 'पृथ्वीराज विरचित यह छोटा सा काव्य डिंगल साहित्य की सर्वाधिक पूर्ण रचना है, काव्य कला कौशल का आश्चर्य है जिसमें आगरा के ताज की भाँति कला के विस्तार की पूर्णता विचार की सरलता के साथ सम्मिलित है और भावों की उत्कृष्टता कला के वाह्यरूप की निष्कलंकता से यशमान है'।[2]

१०२—ग्रंथ का नामकरणः—'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री' साभिप्राय है। 'वेलि' शब्द की सार्थकता की व्याख्या कवि ने स्वयं की है। इस व्याख्या के अनुसार 'वेलि का बीज श्रीमद्भागवत है। बीज का वपन पृथ्वीराज के मुख रूपी स्थल में किया गया है। उसका मूलस्वर उसकी जड़ें हैं जो कि अर्थ के सुस्थिर मंडप पर सुखद छाया करने के निमित्त चढ़ी है। अक्षर समूह उसके पत्र हैं। दोहलों में कथित यश उसका परिमल है। उसके तंतुओं की वृद्धि दिवारात्रि उसके नवरस करते हैं। भक्ति उसकी मंजरी तथा रसिक उसके भ्रमर हैं और उसके उपभोग के ब्याज से प्राप्य मुक्ति फूल और फल है[3]। सारांश यह है कि कवि ने संपूर्ण ग्रंथ को एक वेलि के रूप में स्वीकार कर उसका रूपक घटित किया है। 'वेलि' का द्वितीय प्रयोजन ग्रंथ का 'वेलियों गीत' में रचित होना है। और श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी के नाम ग्रंथ के नायक और नायिका के नाम पर आधारित होने की घोषणा करते हैं।

वेलि क्रिसन रुक्मिणी री का कथानक श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध की 'रुक्मिणी अपहरण' नामक कथा द्वारा प्रेरित है जिसे कि पृथ्वीराज ने 'वल्ली तसु बीज भागवत' कह कर स्पष्टतया अंगीकार किया है। ग्रंथ में श्रीकृष्ण द्वारा रुक्मिणी हरण, उनके विवाह, उनकी रति क्रीड़ा और अन्त में प्रद्युम्न के जन्म का वर्णन है। यह कथानक अत्यन्त सरल, संक्षिप्त और भारतीय हिन्दू समाज के लिये सुपरिचित है।

१—रा० भा० सा० पृ० १२२-२४।

२—डा० टेसीटरी...वे क्रि० स० की भू० पृ० १।

३—वे क्रि० स० छं० सं० २६१-२६२।

वस्तुगत समीक्षा

(१०३) वेलि क्रिसन रुक्मणी री के प्रथम नौ छंदों में पृथ्वीराज ने मंगलाचरण, सगुणात्मक स्वरूप के गान का संकल्प, कवि सुलभ नम्रता, रचना की अपेक्षा, आरम्भ में स्त्री रूप वर्णन की परिपाटी तथा मातृत्व की महत्ता का दिग्दर्शन कराकर काव्य रूप नत आशीर्नमस्क्रिया, वस्तुनिर्देश और इतिहासकतोद्भूत सदाश्रय चतुर्वर्गफलदाता चतुर धीर ललित ग्रंथनायक का निर्देश कर शास्त्राभिहित नियमों का परिपालन किया है।

मुख्य कथा का प्रारम्भ दशम दोहले द्वारा होता है। लक्ष्मी की अवतार रुक्मिणी के भीष्मक राजा की कन्या होने का उल्लेख कर कवि उनकी शैशवावस्था के केवल तीन चित्रों को रचित करता है[1] जिनमें कि अलंकारिक चमत्कार है। इन चित्रों में राजकुमारी का 'दूलड़ी' (गुड़ियों) के साथ खेलना स्वाभाविक एवं आकर्षक है। अनंतर रुक्मिणी के यौवन के वसंत में पदार्पण करने का वर्णन है[2] जो कि कामस्थलों के संकेत के कारण ऐंद्रिक कहा जा सकता है। इसके पश्चात् रुक्मिणी का रूप सौंदर्य वर्णित है[3] जो कि नख शिख वर्णन के परंपरागत उपमानों से ओत प्रोत है। इसे कवि की आंतरिक सौंदर्य भावना का प्रकाश रूप समझा जा सकता है। यहाँ यह निर्देश कर देना अनुचित न होगा कि इन वर्णनों के कारण मूलकथा वस्तु का धारावाहिक प्रवाह तनिक बाधित सा प्रतीत होने लगता है। किन्तु चूँकि कवि इस वर्णन के परंपरागत होने की ओर पहले ही इंगित कर देता है अस्तु, इसे दोष की संज्ञा देना कवि के साथ अत्याचार करना होगा।

रूप सौंदर्य के वर्णन को समाप्त कर कवि मूल कथा सूत्र को पुनः ग्रहण करता है। कृष्ण के गुणानुवाद के पठन-पाठन से रुक्मिणी के हृदय में उनके प्रति राग भाव आविर्भूत होता है। उनके मन में कृष्ण को पति रूप में प्राप्त करने की भावना का अभ्युदय होता है। अपनी कामना की पूर्ति के निमित्त वह शंकर पार्वती की आराधना करती है।[4] इस वर्णन में किसी भी भारतीय अविवाहिता युवती के अपने हृदय में भावीपति के काल्पनिक मूर्त्ति के रेखा चित्र के निर्मित करने तथा उसे प्राप्त करने के हेतु पूजा पाठ और व्रत इत्यादि करने का सूक्ष्म और वास्तविक निदर्शन हुआ है। रुक्मिणी के माता-पिता उन्हें यौवन प्राप्त देख कृष्ण से उनका

१—वे० क्रि० स० छं० सं० १२-१४।

२—वही १५...१९।

३—वही २०...२७।

४—वे० क्रि० स० छं सं० २९।

ब्याह रचने को सोचते हैं किन्तु राजकुमार रुक्मि राजा शिशुपाल के साथ रुक्मिणी के परिणय करने का निर्णय करता है। इतना ही नहीं वह अपने निर्णय को कार्यान्वित करने के लिये पुरोहित को विवाह लग्न देकर चंदेरीपुरी भेज देता है।[१] यहीं से कथानक में कौतूहल का समावेश होता है तथा कार्य व्यापार में तीव्र गतिशीलता का आगम होता है।

शिशुपाल बारात सजाकर कुंदनपुर के लिये प्रस्थान करता है। इधर कुंदनपुर का अलंकरण होता है। स्त्रियाँ मंगलगान गाती हैं। उदास और चिंतातुर रुकमिणी अश्रुमिश्रित कज्जल की मसि और नख की लेखनी बनाकर पत्र लिखती हैं।[२] स्वाभाविक होते हुये भी कवि की मौलिक सूझ सराहनीय है। रुकिमणी के पत्रवाहक ब्राह्मण का कुंदनपुर की सीमा के निकट सोकर द्वारकापुरी में जागना एक अलौकिक घटना है,[३] अतएव इस घटना के विषय में मौन रहना ही श्रेयस्कर है। इस अलौकिक घटना के पश्चात् ब्राह्मण का भ्रमित और चक्रित होना अत्यन्त स्वाभाविक है।

भ्रम निवारण करने के पश्चात् ब्राह्मण कृष्ण से मिलने में समर्थ होता है। कृष्ण 'पत्र के आशय, अथवा स्पष्ट शब्दों में, मुख्य घटना के केंद्र विंदु...रुकिमणी हरण के षड्यंत्र को, समझकर अविलंब कुंदनपुर के लिये प्रस्थान कर देते हैं और नगर के निकट पहुँचते ही रुकिमणी के सांत्वनार्थ अग्रिम समाचार देने के लिये ब्राह्मण को भेज देते हैं।[४]

दूसरी ओर रुकिमणी को 'रहिया हिर सही जाणियो' का विश्वास सा होने लगता है। उनकी आतुरता और व्यथा प्रतिपल अधिकाधिक होती जाती है। ऐसे समय में शुभ सूचक छींक होती है तथा ब्राह्मण का पदार्पण होता है। सखियों और गुरुजनों के उपस्थित होने के कारण रुकिमणी ब्राह्मण से किसी भी प्रकार का प्रश्न करने में असमर्थ है। उनका मन अश्वत्थपर्ण की भाँति चंचल है। वह केवल ब्राह्मण की मुख मुद्रा का अध्ययन कर रही है।[५] इस प्रकार अत्यन्त कौतूहलपूर्ण एवं नाटकीय परिस्थिति का सृजन कर कवि ने अपने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक ज्ञान तथा कला कुशलता का प्रदर्शन किया है। इस जटिल एवं गम्भीर परिस्थिति को लक्ष्य कर ब्राह्मण परोक्षरूप में चतुरतापूर्वक 'कुससथली हंता कुन्दणपुरि किसन पधारयालोक

१—वही ३०...३६।

२—वही ४३।

३—वही।

४—वही ५२...६६

५—वे० क्रि० स० छं० सं० ७०-७१।

कहन्ति' कहकर कृष्ण के शमागमन की सूचना रुक्मिणी को प्रदान करता है।[१] कुंदनपुर गमन को जानकर बलराम भी युद्धात्त्ववाट सिद्ध सुभटों को साथ लेकर उनसे आ मिलते हैं।[२]

रुक्मिणी प्रत्यक्षतल अंबिकादेवी के दर्शन तथा परोक्षतः अपने प्रियतम मिलन के मिस अपूर्व श्रृंगार करती है।[३] रुक्मिणी की श्रृंगार क्रिया का यह वर्णन मनोरम होने के साथ ही कवि के नारी श्रृंगार ज्ञान का समर्थक है। वस्तुतः इस प्रकार के सौंदर्य स्थल 'वेलि' की कथात्मकता में सम्मिलित होकर मणि कांचन का सा संयोग उपस्थित करते हैं। अपरूप श्रृंगार कर रुक्मिणी चक्रदोला में उपविष्ट होकर, नीराजन की सामग्री से शोभायमान सहचरियों के साथ विशिष्ट सम्मान प्राप्त अंगरक्षकों से रक्षित होकर देवी के मंदिर को प्रस्थान करती है[४]। अंतरिक्ष के मार्ग से कृष्ण रुक्मिणी का अनुसरण करते हैं।[५] मंदिर में पहुँच कर रुक्मिणी देवी का पूजन करती हैं जिसके उपरांत उनमें दिव्य लावण्य मूर्त्तिमान हो जाता है। उनकी चितवन में आकर्षण, हास्य में वशीकरण, लास्य, में उन्मादन, गति में तापन एवम् संकुचन में शोषण के पंच काम वाण परिलक्षित होते हैं।[६] रुक्मिणी की उस मोहिनी छवि से अभिभूत होकर अंगरक्षक कुछ देर के लिये चेतना विहीन हो जाते हैं। उपयुक्त अवसर पाकर कृष्ण रंगस्थल पर उपस्थित होते हैं, रुक्मिणी को रथ पर बिठाते हैं और प्रतिपक्षियों को चुनौती देकर 'चोरी और सीना जोरी' की कहावत को चरितार्थ करते हैं।[७] इस चुनौती का प्राकृतिक प्रतिफल युद्ध होता है। युद्ध का वर्णन[८] काल्पनिक होते हुये भी वास्तविकता के निकट है। इस युद्ध में कृष्ण शिशुपाल और जरासिंधु को पराजित कर रुक्मिणी सहित द्वारिकापुरी लौटते हैं।[९]

रुक्मिणी और कृष्ण का विवाह होता है।[१०] इस विवाह का वर्णन अत्यन्त सूक्ष्म ढंग से किया गया है। इस दृष्टि से वर बधू का विवाह मंडप में पूर्व की ओर

१—वे० क्रि० सं० छं० सं० ७२।
२—वही।
३—वही ७९...१००।
४—वही १०२...१०५।
५—वही १०६।
६—वही १०९।
७—अ वे क्रि० स० छं सं० ११०...११६।
८—वही ११७...१३७।
९—वही १३८...१४८।
१०—वही १५३...१५८।

मुख और पश्चिम की ओर पृष्ठ कर बैठना, कृष्ण का वेदी की प्रथम तीन परिक्रमा रुक्मिणी के पीछे तथा चतुर्थ आगे होकर करना, सांगुष्ठ कर से रुक्मिणी का पाणि-ग्रहण करना, रुक्मिणी का कृष्ण के वामांग में उपविष्ट होना, पति पत्नी का सप्तपदी के वचन कहना और विवाह की समाप्ति पर ग्रंथि विद्ध श्रीकृष्ण और रुक्मिणी का शयनकक्ष की ओर क्रमशः आगे पीछे होकर जाना विशेषतया अविवाहितों के लिये सूचनात्मक और विवाहितों के लिये पुनर्स्मरणीय है। कवि द्वारा वर्णन की गई यह ब्याह प्रथा विशिष्टतया राजस्थान से संबंधित है जिसका स्पष्ट परिचय 'वंस आद्र' (हरा बाँस), 'वेह' (स्वर्ण, रजत अथवा मृत्तिका के निर्मित मंगल कलश), 'अरणी अगनि' (अग्नि निष्कासन के निमित्त विरचित काष्ठ पात्र) तथा 'चौरी' जैसे प्रादेशिक शब्दों में सन्निहित सूचना द्वारा मिलता है।

इस विवाह से संबंधित विशेष वस्तु रुक्मिणी का विवाह संस्कार पितृगृह में न होकर श्वसुरालय में होना है। श्रीकृष्ण रुक्मि और शिशुपाल अपने प्रतिपक्षियों को अधीनस्थ कर लेते हैं रुक्मिणी के माता-पिता उनके पक्ष में पहले से ही हैं। इन अनुकूल परिस्थितियों की उपस्थिति में भी रुक्मिणी परिणय की घटना का विदर्भ में न होकर द्वारिका में घटित होना, चिंत्य एवं आलोच्य है। वस्तुत, इस घटना से दैवी अंश को पृथक् कर देने पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि यह घटना विचित्र, कौतूहलपूर्ण और प्रचलित भारतीय परंपरा के विरुद्ध है।

विवाहोपरांत वर वधू के मधु विधु अथवा सौभाग्य रात्रि के मिलन की तैयारियाँ होती हैं।[1] रति भाव के उद्दीपन की सामग्री संचित की जाती है। मिलन के पूर्व के पृथ्वीराज अनेक मनोवैज्ञानिक और नाटकीय चित्र उपस्थित करते हैं। रतिवांछिता रुक्मिणी का संकुचित होना[2] और मिलनातुर कृष्ण का उत्कंठापूर्वक रात्रि की प्रतीक्षा करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विशेष लक्षणीय है। स्व० सूर्यकरण पारीक का कथन है कि यह 'नायका नायिका के प्रेम पूर्ण हृदयों में रति भावोदय का पृथक् पृथक् रागों से रंजित भाव चित्र है।[3] नाटकीय दृष्टि से हरि का 'सेज द्वार विचि' अटन तथा आहुटि श्रुति दे धरि समाश्रित' होना मनोमुग्धकर है।

केलि प्रकोष्ठ की देहली के अन्दर पदार्पण करते ही कृष्ण रुक्मिणी को अंक भर कर शैया पर विराजमान कराते हैं। ढो० मा० दू० के ढोला मारवणी मिलन के निम्नलिखित स्थल से उपरोक्त स्थल की समानता उल्लेखनीय है :

१—वे क्रि० रु० छं० सं० १५६...१६८।

२—वही १६२।

३—वे क्रि० रु० की भू० पृ० ६२।

ढोलउ मिलियउ मारवी दे आलिंगण चित्त
कर ग्रह आणी अंक मईं, सेज सुणेसी वत्त ॥२४४॥

दोनों में वैभिन्य यह है कि जिस स्थल पर कृष्ण शील और मर्यादा के बंधनों को विस्मृत कर सखियों के सम्मुख ही रुक्मिणी को अंक में भर कर अपनी उच्छृं-खलता एवं उदंडता का प्रदर्शन करते हैं, ठीक उसी परिस्थिति में ढोला मारवणी की सखियों के केलि कक्ष से बाहर हो जाने तक के समय के मध्यांतर में धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा कर आत्म संयम का परिचय देता है।

रुक्मिणी को शैया पर उपविष्ट कराकर कृष्ण उनके मुखचन्द्र को रंक के धन की भाँति अतृप्त नेत्रों से निहारते हैं। रुक्मिणी भी अवगुंठन की ओट से कृष्ण पर कटाक्ष कर दृष्टि विनिमय करती हैं। उभयपक्ष की सक्रिय आंगिक चेष्टाओं को लक्ष्य कर सखियाँ केलि गृह से बाहर हो जाती हैं और कवि एकांत में होने वाली रति क्रीड़ा की ओर इंगित कर मौन हो जाता है।[1] शृंगार का यह वर्णन अत्यन्त सफल बन पड़ा है। यदि इसे शृंगार काव्य का सर्वोत्कृष्ट स्थल कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। अनंतर सुरतांत रुक्मिणी के रूप का चित्र खचित किया गया है। यह चित्र यथार्थ है और रति क्रीड़ा के गोपनीय रहस्य को परोक्ष रूप में अनावृत करता है। रुक्मिणी का निश्चेष्ट और म्लान शैया पर पड़ा होना, ललाट पर प्रस्वेद कणों का उभर आना, मुख मंडल का विवर्ण होना, चित का अशांत होना, हृदय में सुरतांत संताप और कंप का होना, नेत्रों का लज्जानत होना, कंठावरोध होना, सखी का सहारा लेकर तिष्ठित होना, केश पाश का उन्मुक्त होना, मुक्तामाल का विश्रंखलित होना, कंचुकी के बंधन का निर्बंध होना, कटि मेखला का निमीलित होना और सबके ऊपर उनका लज्जित, भयातुर तथापि प्रीतिमग्न होना, कवि के सात्विक भावों[2] के परिज्ञान एवं प्रयोग का निर्देशक है।

निशा के क्षीण होने पर ब्रह्म मुहूर्त कुक्कुट के कलरव से उद्दीप्त वेदना में कृष्ण के प्रेमी हृदय की अनुभूति का संकेत है।[3] तत्पश्चात् क्रमशः प्रभात एवं अर्कोदय (छं० सं० १८२-८६) तथा ग्रीष्म (छं० सं० १८७-९३), वर्षा (छं० सं० १९४-२०५), शरद (छं० सं० २०६-१५), हेमंत (छं० सं० २१६-२५), शिशिर (छं० सं० २२६-२८), और वसंत (छं० सं० २२९-६८) ऋतुओं का वर्णन है।

१—वे क्रि० रु० छं० सं० १७०...७३।

२—स्तंभस्वेदो थ रोमांचः स्वरभंगो थ वेपथुः।
वैवर्न्यमश्रु...प्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः ॥
साहित्य दर्पण, श्लोक संख्या १३५-१३६ पृ० २१७, तृतीय परिच्छेद।

३—वे० क्रि० रु० छं० सं० १८१।

प्रभात और सूर्योदय के उल्लेख में संसार की गतिविधि पर प्रकाश डाला गया है। इस संबंध में कार्यरत एवं विरत होने वाले प्राणियों की परिगणना रोचक है। ग्रीष्म ऋतु के वर्णन में राजस्थान की कुछ प्रांतिक विशेषतायें समाविष्ट हैं। ग्रीष्म के अनंतर वर्षा ऋतु राजस्थानवासियों को नवजीवन तथा नवस्फूर्ति प्रदान करती है। कदाचित् इसी प्रेरणा के वशीभूत होने के कारण कवि वर्षा ऋतु का वर्णन करने में अधिक सफल हो सका है। यों तो समस्त ऋतुओं के वर्णन करने में मौलिक एवं चमत्कारपूर्ण उदभावनाओं एवं कल्पनाओं की अवतरणा संभवनीय हुई है किन्तु वसंत ऋतु और उसमें भी ऋतुराज की महफ़िल का रूपक बाँधने में कवि अत्यधिक कलात्मक, मौलिक तथा स्वाभाविकता के निकट हो सका है। ऋतुओं में वसंत के वर्णन को सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है। इन ऋतुओं के वर्णन में पृथ्वीराज ने कृष्ण और रुक्मिणी के ऐश्वर्य वैभव, आमोद प्रमोद तथा आदर्श दाम्पत्य प्रेम का हृदय ग्राही चित्रण किया है तथा षड्ऋतु वर्णन के माध्यम से एक वर्ग का समयांतर देकर कामदेवावतार प्रद्युम्न जन्म का उल्लेख किया है।

'वेलि' का शेषांश सूचनात्मक उपसंहारात्मक और कवि के ज्ञान का द्योतक है। इस अंतिमांश के विषय में डा० एल० पी० टेसीटरी लिखते हैं कि 'अंत में जो कि २८ छंदों का है किसी भी रचयिता की कृति के लिये सर्वाधिक साहसयुक्त संभवनीय आत्म प्रशंसा के रूप में टांकने के योग्य है'।[१] परन्तु सम्पूर्ण ग्रंथ के गुणों का पुनरावलोकन करने पर वे स्वयम् अपने आक्षेप का परिहार करते हुये कहते हैं कि पृथ्वीराज की रचना को वास्तव में दोष रहित देखते हुये हम उन्हें उनके आत्म विश्वासात्मक उद्गार के लिये क्षमा कर सकते हैं'।[२]

रस विश्लेषण

१०४—वेलि के रूपक का विवेचन करते हुये कवि ने 'नवरस तन्तु विधि अहोनिसि' कहकर उसमें नव रसों के विद्यमान होने का संकेत किया है।[३] कहना न होगा कि वेलि क्रिसन रुक्मिणी ही एक श्रृंगार रस प्रधान काव्य है। अतएव इसके श्रृंगार रस की सफल अवतारणा में किंचित मात्र संदेह के लिये स्थान नहीं है। संयोग एवम् वियोग के उभय पक्षों के उत्कृष्टतम चित्रण की दृष्टि से यह ग्रंथ विशेषतया अवलोकनीय है।[४] अन्य रसों में वीर, रौद्र तथा वीभत्स के चित्रण में कवि को

१—टेसीटरी...वे क्रि० रु० की भू० पृ० ११, प्रकाशक एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, सन् १९१९ ई०।

२—वही पृ० ११-१२।

३—बे० क्रि० रु० छं० सं० २९२।

४—वही ११२, १६३...८१, २२०-२१ तथा १७, २६, ८२, ९०, १००।

श्लाध्य सिद्धि प्राप्त हो सकी है।[१] यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि शृंगार रस प्रधान काव्य में वीभत्स रस का प्रयोग काव्य शास्त्र के नियम के विरुद्ध है जैसा कि ध्वन्यालोककार के मत 'शृंगार वीभत्सयोः विरोधः'[२] से प्रकट है।

'वेलि' में निम्नलिखित ६ स्थलों पर वीभत्स रस घटित हुआ है—

(अ) परनाले जल रुहिर पड़ै।
(आ) चोटियाली कूदै चौसठि चाचरि
अरूढ़लिये ऊकसै धड़।
(इ) रिणि अङि० गणि तेणि रुहिर रळतळिया
घणा हाथ हूँ पड़ै घणा।
ऊंचा पत्र बुदबुद जल आकृति
तरि चाले जोगणी तणा॥
(ई) भूटै कंध मूल जड़ भूटै।
(उ) घटि घटि घणा घाउ घाइ घाइ रत घणा
ऊंच छिछ घणी ऊछलै अति।
(ऊ) चारौ पद ग्रीवणी चिड़।

ऊपर जिस प्रकार के वर्णन आये हैं उन्हें शृंगार रस प्रधान काव्य के लिये साहित्यदर्पण कार ने भी त्याज्य बताया है:—

त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्य जुगुप्सा व्यभिचारिणः।[३]

इसी प्रकार कविराज जगन्नाथ ने 'रस विच्छेद हेतुत्वात् मरणं नैव वर्ण्यते'[४] कह कर शृंगार रस के वर्णन में मृत्योल्लेख को निषिद्ध बताया है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रानुसार 'वेलि' में वर्णित वीभत्स रस उसके मुख्य रस का अपकर्षक है। इस विषय का विस्तृत विवेचन स्व० सूर्यकरण पारीक ने भी किया है।[५] लेखक के

१—वही ११३...१३५।

२—ध्वन्यालोक पृ० १३०, ३ उद्योतः।

३—अ—साहित्य दर्पण पृ० २५६, तृतीय परिच्छेदे छं० सं० १८६।

४—कविराज विश्वनाथ साहित्य दर्पण पृ० २६३, तृतीय परिच्छेदे छं० सं० १६३।

५—वे क्रि० रू० की मू० पृ० ७६...८०, प्रयाग हिंदुस्तानी एकेडमी का प्रथम संस्करण।

नम्र मतानुसार 'वेलि' में प्रयुक्त बीभत्स रस के बाधक तत्व की आलोचना करते समय प्रथम पृथ्वीराज के नवरसों के वर्णन के संकल्प पर भी ध्यान रखना आवश्यक है और द्वितीय ३०५ छंदों में रचित 'वेलि' में वीभत्स रस का प्रयोग नगण्य सा है।

इनके अतिरिक्त हास्य (छं० सं० १३५, १७२, १७६), अद्भुत (छं० सं० ४७...५१ १३७), करुण (छं० सं० ४२, ४३, ७०) एवं भयानक (छं० सं० १२०) रसों को भी घटित करने का प्रयास पृथ्वीराज ने किया है। रस निष्पत्ति की दृष्टि से इनमें समस्त तत्व नहीं आ सके हैं। प्रत्येक में संचारी भाव, आलंबन या उद्दीपन विभाव अथवा अनुभाव, एक या एक से अधिक, तत्वों का अभाव है। और रसों की अनुचित प्रवृत्ति के अपूर्ण पारिपाक होने के कारण शास्त्रीय दृष्टि से ये रसाभास के अंतर्गत ही परिगणित किये जा सकते हैं। जहाँ तक शांत रस का संबंध है, ग्रंथ के भक्ति भावना से विरचित होने के कारण वह अतः सलिला सरस्वती की भाँति ग्रंथ में गुप्त रूप से सर्वत्र प्रवाहित है किन्तु प्रकट रूप में उसका संघटन नहीं हुआ है। अतः, यह निस्संकोच और निस्पक्ष होकर कहा जा सकता है कि रस के विचार से पृथ्वीराज काव्यशास्त्र के निष्कर्ष पर खरे नहीं उतरते।

उपसंहार

१०७—'वेलि' की आलोचना के अधिक विस्तार में न जाकर हम केवल यह कहकर संतोष करेगें कि यह एक शृंगार रस प्रधान खंड काव्य है। कारण, महाराज पृथ्वीराज राठौड़ तथा उनकी अमर कृति वेलि क्रिसन रुक्मिणी री के प्रशंसकों और आलोचकों की एक बड़ी संख्या है। इन विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से 'वेलि' की परीक्षा कर प्रशंसा किया है। ऐसे व्यक्तियों में अपने देश के ही नहीं, वरन् विदेश के महान् विद्वान भी सम्मिलित हैं। पृथ्वीराज के सम-सामयिक व्यक्तियों के अतिरिक्त कुछ विशेष उल्लेखनीय प्रशंसकों एवं आलोचकों में भक्त श्रेष्ठ नाभादास[1], कर्नल जेम्स टाड[2], डा० एल० पी० टेसीटरी[3], सूर्य

१—श्री भक्तमाल सटीक, वार्तिक प्रकाशयुत, श्री अयोध्या जी प्रमोदवन कुटिया निवासी सीताराम शरण भगवान प्रसाद विरचित, पृ० ७८१. ४, प्रथम वार सन् १९१३ ई०।

२—राजस्थान: Vol. I (Second Edition) 1873, p. 289.

३—टेसीटरी.. वे क्रि० रु० की भू०, रायल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल द्वारा प्रकाशित।

करण पारीक[1] राजवी अमर सिंह[2], ज्ञान गोपाल सेठिया[3], मोतीलाल मेनारिया[4], डा० रामकुमार वर्मा[5], डा० [विपिन] विहारी त्रिवेदी[6] और डा० सरनाम सिंह 'अरुण' है।[7]

१—वे० क्रि० रू० प्रयाग हिंदुस्तानी एकेडमी यू० पी० द्वारा प्रकाशित।

२—ना० प्र० प०, भाग १४, अंक १, वैशाख संवत् १९९०, पृ० २३७...५५ और सरस्वती, भाग ३३, खंड १, जनवरी सन् ३३ पृ० २४८...५७।

३—माधुरी, वर्ष ११, खंड १, सं० १९८९ वि०, 'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री लेख।'

४—डि० वी० र० भू० पृ० ४०, (मूल) पृ० ४२...४६, रा० सा० रू० पृ० ६१...६४, रा० भा० सा० पृ० १२१...१३२, और रा० पिं० सा० पृ० ७२-७३।

५—हिं० सा० आ० इ० पृ० २५६...२५९।

६—विशाल भारत, जुलाई सन् १९५० पृ० २४...३३।

७—हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव (१४००...१६००) पृ० ६०...६४।

हालां झालां रा कुंडलियां[1]

परिचय

१०८—हालां झालां रा कुंडलियां का र० का० सन् १५६३ ई० माना गया है।[2] इस रचना के रचयिता के रूप में दो नामों का उल्लेख मिलता है। स्व० ठाकुर किशोर सिंह बारहठ के अनुसार इस रचना के कर्ता का नाम आशानन्द है[3] तथा मोतीलाल मेनारिया के मतानुसार ईसरदास।[4] इस मतभेद की जटिलता में न पड़कर, यहाँ केवल इतना बता देना पर्याप्त होगा कि इस संबंध में मेनारिया जी का विचार अपेक्षाकृत अधिक समाधानपूर्ण, न्योयोचित तथा सत्य के निकट प्रतीत होता है।

ग्रंथ के आद्योपांत अध्ययन से यह पता लगता है कि इसकी कथात्मकता में कोई प्रवाहपूर्ण तारतम्य, अथवा एकसूत्रता नहीं है वरन् यह ५० छंदों का संग्रह है। मेनारिया जी ने भी इस ओर संकेत किया है।[5] अतएव यह संदेह होता है कि ग्रंथ का नामकरण कवि कृत नहीं है। कारण यह है कि यदि कवि ने स्वयं अपने छंदों का संकलन किया होता तो कम से कम इसे एक क्रम बद्ध रूप अवश्य दिया होता। अस्तु ऐसा अनुमान होता है कि किसी अन्य व्यक्ति ने इन पदों को संकलित कर हालां झालां रा कुंडलिया नाम दे दिया है। वैसे इस सम्बन्ध में, पुष्ट प्रमाणों के अभाव के कारण, कोई निश्चित मत देना समीचीन न होगा। मेनारिया जी के शब्दों में 'केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यह नाम है काफी प्राचीन। कम से कम ३०८ वर्ष (अब ३१३ वर्ष) का पुराना तो है ही। क्योंकि इस ग्रंथ की प्राचीनतम प्रति (सं० १६६८) में यह नाम मिलता है[6]। जो कुछ भी हो ग्रंथ का यह नाम उपयुक्त है कारण 'हालां झालां' ग्रंथ में वर्णित युद्ध के प्रतिद्वंदियों तथा 'कुंडलियां' इसके छंद विशेष में रचित होने का सांकेतिक है। ग्रंथ का एक अन्य

१—मेनारिया...हा० झा० कु०, प्रकाशक...हितैषी पुस्तक भंडार, उदयपुर सं० २००७ वि०।

२—मेनारिया...हा० झा० कु० की भू० पृ० ८ और १२।

३—ठाकुर किशोरसिंह वार्हस्पत्य (बारहठ)...हरि रस की प्रस्तावना पृ० १।

४—मेनारिया...हा० झा० कु० की भू० पृ० ८...१३।

५—वही, पृ० १३।

६—वही, पृ० १४।

नाम 'सूर सतसई' भी कहा जाता है[1] जो कि स्पष्टतया त्रुटिपूर्ण और भ्रमात्मक है क्योंकि इसके छंदों की संख्या ७०० न होकर केवल ५० है। इसके अतिरिक्त मेनारिया जी के कथनानुसार 'प्राचीन लिखित प्रतियों में यह कहीं दिखाई नहीं देती।[2]

हालां झालां रा कुंडलियां की कथा में कोई निश्चित क्रम नहीं है किन्तु फिर भी उसमें आदि से अंत तक विषय की दृष्टि से एक ही कथा का निरूपण मिलता है। यह वर्ण्य विषय हलवद (वर्तमान नाम ध्रांगध्रा) के अधिपति झाला रायसिंह और ध्रोल राज्य के ठाकुर हाला जसवंत सिंह (अन्य नाम जस राज और जसा जी), जो कि कदाचित् परस्पर निकट संबंधी भी थे, के बीच होने वाले युद्ध से संबंधित है। यह घटना सन् १५६३ ई० (अथवा वि० सं० १६२०) में हुई थी। इसमें जसा जी वीरतापूर्वक लड़ते हुये वीरगति को प्राप्त हुये थे। मेनारिया जी ने इस युद्ध से संबंधित एक किंवदती का उल्लेख हालां झालां रा कुंडलिया की भूमिका में किया है किन्तु साथ ही यह भी संकेत कर दिया है कि वस्तुतः इस युद्ध के कारण के छान-बीन की अपेक्षा है।[3] इस ग्रंथ का प्रमुख विषय संक्षेप में, वीर जसा जी के वीरता की प्रशंसा है।

१०६—सूक्ष्म दृष्टि से इस ग्रंथ की कुंडलियों का वर्गीकरण, वर्ण्य विषय को ध्यान में रखते हुये निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है :

क. वीर, वीरता अथवा वीरोचित कार्य का वर्णन और तत्संबंधी प्रशंसा: कुंडलियां संख्या: २, ७, ८, १०...१३, १६, १६, २३...२६, ३२, ३५, ३७...३६, ४२, ४५, ४६, ४८, और ४६।

ख. वीर स्वभाव वर्णन : कुंडलियां संख्या ६, १७, ३०, ३१, ३३, ३४, ३६ और ४०।

ग. वीर को प्रोत्साहन देना (कुंडलियां संख्या ३...५, २२, २४, और ४२।

घ. वीर का लड़कर वीर गति प्राप्त करना : कुंडलियां संख्या २७...२६, ३६, ४५ और ४८।

ङ. वीर की पहचान : कुंडलियां संख्या १५, १८, ३० और ४४।

च. विभिन्न विषयक : कुंडलियां संख्या १, ६, १४, २१, २५ और ५०।

१—किशोर सिंह बारहठ...हरि रस की प्रस्तावना पृ० १।

२—हा० झा० कु० की भू पृ० १५।

३—वही पृ० ७...६।

विभिन्न विषयक कुंडलियों में क्रमशः युद्ध का निर्देश और हालों की पराजय का संकेत, जसा जी के रणभूमि में जाने और युद्ध करने का वर्णन, वीर की गर्वोक्ति का उल्लेख, वीरों के साहचर्य की अपेक्षा का उल्लेख, जसा की पत्नी का अपने पति को व्याह के समय ही परख लेने का उल्लेख, और वीरों के लिये शिक्षा और संदेश का वर्णन किया गया है।

काव्य रूप

११०—जैसा कि संकेत किया जा चुका है हालां झाला रा कुंडलियां के छंदों में क्रमबद्धता का अभाव है। इससे तात्पर्य यह है कि इस रचना के पदों में असंबद्धता है और ये कुंडलियां स्फुट रूप में लिखित हैं। इन कुंडलियों के स्फुट रूप में अध्ययन करने से यह भी विदित होता है कि ये अपने में पूर्ण हैं तथा अधिकांश कुंडलियों में रसोद्रेक की सामर्थ्य है। इस कथन के तथ्य की पुष्टि के लिये ग्रंथ की एक कुंडलियां का विश्लेषण कर देना अप्रासंगिक न होगा। कुंडलिया निम्नलिखित है।

फेरा लेते फिर अफिर फेरी घड अणफेर।
सीह तणी हरधवलसुत गहमाती गहडेर॥
गहड घड़ कामणी करै पाणी ग्रहण।
करगि खग वाहतो जुवा जूसण कसण॥
कोपिये छाकियै चहर मड़ अहर करि।
फुरलतै पिसण घड़ फैरवी अफिर फिरि॥२३॥

कुंडलियां का भावार्थ इस प्रकार है—जसा जी की पत्नी अपने वीर पति को सम्बोधन करके कहती है कि 'ये युद्ध से मुख न मोड़ने वाले हरभोल के पुत्र! विवाह के समय की परिक्रमा से विरत होकर तुमने शत्रु (रायसिंह) की पीछे न फिरने वाली गर्वोन्मत्त एवं उद्धत सेना रूपी कामिनी को भगा दिया। उससे पाणि-ग्रहण कर तुमने अपने हाथ की तलवार से उसके कवच रूपी अंगिया के बंद काट दिये। तुमने क्रुद्ध होकर विपक्षियों के श्रेष्ठ वीरों को व्यर्थ कर दिया और शत्रुओं की दुर्जय सेना को भागने के लिये बाध्य कर दिया।

कदाचित् कहने की अपेक्षा नहीं रह जाती कि इस कुंडलियां को समझने के निमित्त किसी पूर्व प्रसंग अथवा किसी विशिष्ट वातावरण के परिकल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरे शब्दों में ये कुंडलिया अपने में पूर्ण है। इस स्वतः पूर्णता की दृष्टि से परीक्षा करने पर प्रत्येक कुंडलियां खरी उतरती है। रसोद्रेक की पूर्णता के विचार से इस कुंडलियां में वीर रस का स्थायी भाव उत्साह, व्यभिचारी अथवा संचारी भाव गर्व, उग्रता और उद्वेग, अलंबन विभाव प्रबल शत्रु की उप-

स्थिति, उद्दीपन, विभाव उसका सीमान्तर्गत प्रवेश, पराक्रम और प्रौढ सैन्यता आदि, तथा अनुभाव परोक्ष रूप में शत्रु का सीमान्तर्गत आकर चुनौती देना, स्थैर्य, शौर्य, आक्षेपोक्तियाँ प्रभृति हैं। रस निष्पत्ति के समस्त लक्षणों के होने के कारण कवि के अनुभूति की पूर्ण अभिव्यक्ति और पाठक के लिये व्यजंना द्वारा रसानुभूति पूर्णतया सम्भवनीय हो सकी है।

उपर्युक्त विश्लेषण द्वारा यह सुस्पष्ट हो जाता है कि कवि ने 'मुक्तकेषु हि प्रबन्धेवैष्वि रस बन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्ते' के अनुसार अपनी कुंडलियों में एक प्रबन्धकार की भाँति मुक्तक के लिये उपयुक्त रस स्थापन का पूर्ण संघटन किया है। अस्तु, मुक्तक के प्रधान लक्षणों की उपस्थिति में हालां झालां रा कुंडलियां को मुक्तक काव्य के अन्तर्गत स्थान देना समीचीन प्रतीत होता है।

१११—वीर रस की एक कुंडलियां का विवेचन ऊपर किया जा चुका है और साथ ही यह भी कहा जा चुका है कि कवि रसात्मकता के घटित करने में पूर्ण रूपेण सफल हो सका है। अस्तु, यहाँ रसात्मक तत्व के अधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप में रसों की व्याख्या कर देना पर्याप्त होगा।

ग्रंथ के अन्तर्गत विशेषतया दो वीरों का उल्लेख मिलता है जिनमें प्रमुख स्थान जसा जी को प्राप्त है। जसा जी तथा रायसिंह दोनों ही उत्तम प्रकृति के उत्साहपूर्ण वीर हैं। इनका चित्रण युद्धवीर के रूप में हुआ है यद्यपि अपवाद स्वरूप एक स्थल पर जसा जी की दानवीरता[1] को भी रूपक के रूप में घटित किया गया है। दोनों ही वीरों के उत्साह पूर्ण होने के कारण ग्रंथ के 'अन्तर्गत वीर रस का स्थायी भाव उत्साह सर्वत्र प्राप्य है। संचारी अथवा व्यभिचारी भाव के रूप में गर्व, धृति, हर्ष, मति, असूया, आवेग, और औत्सुक्य के प्रयोग मिलते हैं। आलंबन विभाव की दृष्टि से शत्रु की उपस्थिति प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप में सभी स्थलों में है। उद्दीपन विभाव के विचार से सिंधु-राग, वीरों का कोलाहल बादलों की सी गड़गड़ाहट, सिर पर ढोल का बजना, अस्त्रों के आघात...प्रत्याघात, शत्रु का पराक्रम, प्रताप, दुर्धर्ष, प्रौढ, सैन्यता, यश, कीर्ति, प्रभुशालिता, कुलीन और संपन्न व्यक्तियों से मैत्री आदि उपयुक्त वातावरण प्रदान करते हैं। और अनुभावों के रूप में स्थैर्य, शौर्य, प्रताप, धैर्य, दर्प आदि के सूचक शारीरिक प्रतिचिन्ह, आक्षेपोक्तियों के प्रयोग, भाव गांभीर्य पूर्ण भाषण, लाल आँखे और मूछों का भौंहों से मिलना इत्यादि उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार रचना में वीर रस के पूर्ण परिपाक को देखते हुये इसे निश्चित रूप में एक वीर रस प्रधान काव्य कहा जा सकता है।

१—हा० भा० कु० छं० सं० २६।

रचना के अंतर्गत वीर रस के अतिरिक्त अन्य सहकारी अथवा मित्र रस भी मिलते हैं। यद्यपि ये नगण्य से हैं किन्तु प्रसंगवश इनकी ओर भी संकेत कर देना अनुचित न होगा। इन रसों में रौद्र (छं० सं० ६), वीभत्स (छं० सं० २८, ४४ और ४७) तथा भयानक (छं० सं० ३६) के प्रयोग देखने में आते हैं। इनके विश्लेषण से ज्ञात होता है कि उक्त स्थलों में रस के समस्त उपकरण घटित नहीं हो सके हैं। वास्तविकता यह है कि इन स्थलों पर या तो रस की अनुचित प्रवृत्ति के कारण अपूर्ण परिपाक हुआ है अथवा भाव की व्यंजना से अनौचित्य का आभास है अस्तु इन्हें रस की संज्ञा न देकर रसाभास अथवा भावाभास कहना ही उचित होगा।

११२—हालां झालां रा कुंडलियां के अधिकांश छंद कवि ने जसा जी की पत्नी के मुख से कहलाये हैं। जिन भावों को कवि ने स्त्री के मुख से कहलवाया है उनका संबन्ध अधिकतया युद्ध के व्यापारों से है। इन युद्ध के व्यापारों के वर्णन में परुषता अथवा कठोरता का आभास मिलना स्वाभाविक है। किन्तु एक स्त्री के अंतरतम में प्रवेश करके कहने के कारण इन वर्णनों की अभिव्यक्ति में परुषता के साथ ही एक प्रकार की मधुरिमा अथवा कोमलता भी अनायास आ गई है। अधिकांश वर्णनों के युद्ध संबन्धी व्यापारों का प्राधान्य होने के फलस्वरूप, कहने की आवश्यकता नहीं, कि इस ग्रंथ में जीवन की अनेकरूपता अथवा विभिन्नता के आंकने का प्रयास व्यर्थ है। वस्तुतः, जीवन की विविधता के अभाव के कारण केवल ५० कुंडलियों में भी भावों की पुनरावृत्ति के निदर्शन होते हैं।

इस रचना की एक प्रमुख विशेषता नवीन अथवा मौलिक भावों की अभिव्यंजना है। इस विशेषता का श्रेय कवि के युद्ध संबंधी प्रौढ़ परिज्ञान को दिया जा सकता है। इन नवीन अथवा मौलिक भावों की अभिव्यंजना के दो माध्यम अपनाए गये हैं १—सुक्त्यात्मक और २—वर्णनात्मक। सुक्त्यात्मक अथवा सूक्तियों से सम्बन्धित जो भाव कवि ने प्रकाशित किये हैं वे अधिकतर कुंडलियों के प्रथम दो पदों अर्थात् दोहों में प्राप्त होते हैं। इनसे कवि के युद्ध अथवा युद्धनीति के व्यावहारिक ज्ञान पर प्रकाश पड़ता है। इनमें कवि कैदयुद्ध प्रायः भाव सौंदर्य का अभाव है। इसके विपरीत, वर्णनात्मक अथवा वर्णन प्रधान स्थलों में भाव सौंदर्य अपने पूर्ण विकसित रूप में दृष्टिगत होता है। वर्णन प्रधान स्थलों में एक वस्तु विशेषतया लक्षणीय है और वह है वर्णन की स्वाभाविकता। सामान्यतः इनका यथा तथ्य निरूपण उपलब्ध होता है। कवि ने यथासंभव अत्युक्तियों का आश्रय नहीं लिया है।

स्वाभाविकता के साथ ही इस रचना का एक प्रमुख गुण इसकी व्यंजकता अथवा व्यंजनाशक्ति है अर्थात् किसी बात को घुमा फिराकर कहते हुये भी इस ढंग

से प्रकट करना कि वह तात्विक बात को क्षति न पहुँचा सके वरन् अप्रत्यक्ष रूप में वह बात पाठक के सम्मुख प्रस्तुत भी हो जाय। इस प्रकार की भावभिव्यंजना केवल सिद्धहस्त कवियों द्वारा संभव हो पाती है। ईसर दास इस दृष्टि से विशिष्टतया इसीलिये सफल हो सके हैं कि उन्हें भावों के साथ-साथ भाषा पर भी पूर्ण अधिकार था। सच तो यह है कि उनकी भाषा उनके भाव की अनुवर्त्तिनी है। उनकी शब्द योजना और पदावली का सुगठित होना, इस बात का मूर्त्तिमान प्रमाण है। वह शब्द को इस ढंग से तुलित कर प्रयोग करते हैं कि उस शब्द विशेष के स्थान पर दूसरा शब्द रखना दुष्कर हो जाता है। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो वे शब्दों को इस प्रकार जटिल कर देते हैं कि वर्णनात्मक स्थल में चित्रोपमता प्रतिभासित होने लगती है। इस प्रकार के एकाध स्थलों की ओर मेनारिया जी ने संकेत किया है जो कि अवलोकनीय है।

अपने अनेक काव्य कला संबंधी विशिष्टताओं के कारण कवि अपने परवर्त्ती कवियों के लिये अनुकरणीय रहा है। यहाँ तक कि सूर्यमल मिश्रण और कविराजा बांकी दास जैसे वीर रस के कुशल कवि उसके प्रभाव से अछूते नहीं रह सके हैं। इसे मेनारिया जी ने कुछ तुलनात्मक अवतरणों द्वारा सिद्ध कर दिखाया है।

अंत में, सारांश रूप में हम यह कह सकते हैं मुक्तक काव्य के रूप में लिखित, वीर रस प्रधान हालां झालां रा कुंडलिया डिंगल वीर काव्य साहित्य की एक उत्कृष्टतम कृति है।

वीर सतसई[1]

परिचय

११३—सूर्यमल मिश्रण कृत वीर सतसई का नि० का० सन् १८५७ ई० है जैसा कि कवि कृत नीचे उद्धृत दोहे से प्रकट है :—

वीकम वरसां बीतियो, गण चौ चंद गुणीस।
विसहर तिथ गुरु जेठ बदि, समय पलट्टी सीस ॥[2]

इस दोहे में 'समय पलट्टी सीस' अर्थात् 'समय ने मुख फेरा है' विशेषता सूचक है अतएव उस विशिष्टता को स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक न होगा। इस पद द्वारा कवि ने सन् १८५७ ई० की विप्लव संबन्धी अव्यवस्थित राजनैतिक परिस्थिति की ओर इंगित किया है। कवि की धारणा थी कि अन्य देश वासियों के साथ उसे भी अपने शरीर को मातृ भूमि की स्वतंत्रता के हेतु सदुपयोग में लगाने का अवसर प्राप्त हुआ है।

'अर ईनै अरथ लगावा को भी समय तो परमेश्वर ने पलटायो छै कदाचित् राज्यजिसा सुक्षत्रियां का तथा राज्य के लारे लगा हमास्त कातरां का ए शरीर कैंही अर्थ लागै ॥[3]

वस्तुतः यही प्रेरणा वीर सतसई की रचना का निदान कारण है।

वीर सतसई के नामकरण की सार्थकता विचारणीय है क्योंकि इसके दोहों की संख्या ७०० न होकर केवल २८८ है। सप्तशती, शतक अथवा सतसयों[4] की एक

१—वीर सतसई, प्रकाशक : बंगाल हिंदी मंडल कलकत्ता, प्रथम आवृत्ति वि० सं० २००५।

२—वि० सं० के व्यतीत होने पर ज्येष्ठ कृष्ण पंचमी गुरुवार को समय ने मुख फेरा।

३—इस प्रयोजन के निमित्त शरीर को उपयोग में लाने का समय भी तो परमेश्वर ने पुनः प्रदान किया है। कदाचित् आप जैसे सुक्षत्रियों का और आपके साथ हम कायरों का भी शरीर किसी अर्थ प्रयोग में आ सके। (वी० सं० की भूमिका पृ० ७६, सूर्य मल्ल का ठा० फूलसिंह को लिखा गया पत्र)।

४—शातवाहन या हाल कृत गाथा सप्तशती, गोवर्धनाचार्य विरचित आर्या सप्तशती, अमरूक विनिर्मित शतक, बिहारी लाल द्वारा लिखित। 'सतसई', वियोगी हरि रचित वीर सतसई और नाथूदान महियारिया की वीर सतसई (अप्रकाशित)।

परंपरा सी है जिनको देखते हुये सूर्यमल मिश्रण की वीर सतसई को 'सतसई' कहना अवैज्ञानिक प्रतीत होता है। इसमें संदेह नहीं कि कवि का उद्देश्य 'सतसई' की रचना करना था किन्तु उस उद्देश्य प्राप्ति को उसने कार्यान्वित नहीं किया। अतएव, उसकी रचना को अपूर्ण वीर सतसई अथवा 'वीर दोहावली' कहना अधिक युक्तियुक्त और साभिप्राय होगा।

वीर सतसई का आरम्भ कवि ने शास्त्रीय पद्धति के अनुसार किया है। प्रारम्भिक दो दोहों में उसने क्रमशः गणेश और सरस्वती की वन्दना कर मंगलाचरण की अवतारणा किया है और साथ ही ग्रंथ की रचना में सहायता करने की प्रार्थना किया है। तृतीय दोहे में 'वयण सगाई के साधारण नियम का पालन न करने से भी वीरकाव्य की रसमयता में किसी प्रकार का दूषण नहीं होता'[1] कहकर वीर रसात्मक काव्य रचना के संकल्प का संकेत किया है। इसके अतिरिक्त अपने स्वतन्त्र मत का प्रतिपादन करते हुये कवि की स्वच्छंद एवम् निरंकुश प्रकृति का परिचय दिया है। अनन्तर तीन दोहों के अन्तर्गत सूर्यमल ने संक्रान्तिकाल की अनिश्चित अवस्था का उल्लेख किया है।

निम्नलिखित दोहे में कवि ने अपने ग्रंथ रचने के प्रयोजन का स्पष्टीकरण किया है—

सतसई दोहामयी, मीसण सूरजमल।
जपै भड़खाणी जठै, सुणै कायरां साल ॥७॥

भावार्थ यह है कि उनकी दोहामय सतसई वीरों के लिये खाद्य और कायरों के सुनने के लिये शल्य है। इसके बाद दो दोहों में कवि ने अपने काव्य ग्रंथ की प्रभावोत्पादक क्षमता का कथन किया है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि इस अपूर्ण सतसई के प्रथम नौ दोहे ग्रंथ की भूमिका के रूप में लिखित है।

११४—तदुपरांत कवि ने अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल विभिन्न दृष्टि कोणों से वीर रसयुक्त दोहों का सृजन किया है। जिनका वर्गीकरण निम्नांकित ढंग से किया जा सकता है—

क—स्वामी के नमक का मूल्य (दोहा संख्या) १०, १२, ७२, ७३, १६७, २५२ और २६७।

ख—कायर व्यक्ति—उसे प्रोत्साहन देना तथा उसमें और वीर में अन्तर

१—वैण सगाई वालिया पैखीजे रसपोस।
बीर हुतासण बोल में दीसै हैक न दोस॥

(दो० सं०) १३, ३३-३५, ३६, ७५-८७, ११५-११७, १४१, १६६, १७४, १६०, २१४, २१७, २३०, २६८, २६६, २७५, २७८, २८१, २८५ और २८८।

ग—राजपूत की वीरता तथा प्रशंसा (दो० सं०) १८, ३०, ३८, ४७-५०, ५५, ५८-६०, ८६, १०१, १०७, ११३, ११८, १२०, १२२, १२३, १३१, १३३-१४०, १४२-१४५, १५१, १५३, १५६, १६२, १६६, १७६, १८७, १६३, २०६, २१३, २१६, २२२, २२४, २२८, २२६, २३३, २३५, २३६-२४४, २५१, २५४, २५७, २५८, २७६, २८०, २८२ और २८४।

घ—पत्नी द्वारा पति की वीरता की प्रशंसा (दो० सं०) १६-२४, ३६, ३७, ४६, ५२-५४, ६२, ६३, ६६, ८८, ६६, ६८, ६६, १०२-१०४, १०६, १५०, १५२, १७०-१७३, १७८, १८०, १८१, १८४-१८६, १८६, १६४, १६६, १६८-२००, २०३, २०५, २०६-२१२, २१५, २१६, २१८, २२३, २२५-२२७, २३६, २३८, २४६-२५०, २५३, २५५, २५६, २५६-२६२, २७१-२७४, और २८७।

ङ०—स्त्रियोचित वीरता एवम् सतीत्व (दो० सं०) १४, १५, १७, २५, २६, ३१, ४३, ४४, ५०, ६१, ६८, ७४, ६०-६५, ६७, १००, १०३-१०६, १२१, १४०, १७५, १७६, १८३, १८८, १६५, १६७, २६३ और २८७।

च—वीर व्यक्ति का स्वभाव (दो० सं०) २६, ३२, ४०, ५१, ५८, ६६, ७०, ७१, १६२ और २८६।

छ—राजपूत का स्वभाव (दो० सं०) १२४, १४६, १५४, १५५, १५८, १६०, १६३-१६५, १६८ और २४४।

ज— राजपूत और चारण का कर्तव्य (दो० सं०) ४५, ११०, १११, ११३, ११४, १८२ और २०४।

झ—धर्मयुद्ध की तैयारी अथवा उतावली (दो० सं०) १४७-१४६, २०१, २०२ और २२१।

ञ—सपत्नी के प्रति ईर्ष्या (दो० सं०) ६४, ६५, १०८ और २३४।

ट—कुशल सेनापति की आवश्यकता (दो० सं०) १२५-१२८।

ठ—विभिन्न विषयक (दो० सं०) ११, १६, २७, २८, ४१, ४२, ५६, ५७, ११२, १२६, १३०, १३२, १५६, १५७, १६१, १६०, २०७, २०८, २३१, २३२, २४५, २६४-२६६, २७० और २८३।

विभिन्न विषयक दोहों के अन्तर्गत सन्निहित सामग्री को अधिक स्पष्ट करने के विचार से क्रमानुसार प्रत्येक दोहे में वर्णित विषय का उल्लेख किया जाता है जो इस प्रकार है—

पराक्रमी डाकी (नेता) की विशेषता, पाणि ग्रहण द्वारा ही पत्नी का पति को वीर जान लेना, नगाड़ों की ध्वनि सुनकर अश्व का चांचल्य प्रदर्शन करना, वीर प्रसू जननी, असिधावण (तलवार बनाने वाले) की प्रशंसा, लोहार के प्रति असंतोष, बली वृषभ के बछड़े की योग्यता, शूकर की वीरता, चारणों के मार्मिक व्यंग्य की तीक्ष्णता, नमक हराम होने का दुष्परिणाम, वीरता का सद्परिणाम, कायरों के लिये वर्णसंकर अपशब्द का प्रयोग, नवविवाहिता पत्नी का वीर पति को पहिचानना, वीर का ऋतुपरिवर्तन में अप्रभावित रहना, सुभट का रणस्थल को प्रस्थान करने के पूर्व अफीम पीना, साहचर्य का प्रभाव, वीर की पत्नी का प्रणय विहीन जीवन व्यतीत करना, वीर की स्त्री का परित्यक्ता के सदृश समय काटना, युद्ध का ध्वन्यात्मक प्रभाव, वीर पति के प्रति पत्नी की आस्था, देश द्रोहियों को सचेत करना, देवरानी के हेतु जेठानी का देवर की तलवार छिपाना, वीर की पत्नी के लिये अन्य स्त्री की सहानुभूति, निर्धन के लिये वैद्य का दुर्लभ होना, पति के रणस्थल को प्रयाण करते समय रोने वाली स्त्री को कर्तव्य का स्मरण कराना और कायर पति के धन संचय की प्रवृत्ति पर वीर पत्नी का हृदय भेदी व्यगंय।

काव्य-रूप

११५—सूर्यमल्ल मिश्रण विरचित यह अपूर्ण वीर सतसई मुक्तक काव्य का एक अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण है। मुक्तक काव्य के प्रधान गुण अपने में पूर्णता तथा रसोद्रेक की समर्थता उनके दोहों में पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त है। पं० रामचंद्र शुक्ल ने मुक्तक काव्य का विवेचन करते हुये लिखा है कि 'इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिये खिल उठती है।......मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभा समाज के लिये अधिक उपयुक्त होता है। उसमें......कोई एक रमणीय खंड दृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिये मंत्रमुग्ध सा हो जाता है। इसके लिये कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त करना पड़ता है।'[१] आनन्द वर्धनाचार्य के अनुसार प्रबंधकार की भाँति मुक्तककार को भी अपने ग्रंथ में रस स्थापन की पूर्ण संघटन करना पड़ता है।[२]

१—शुक्ल...हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४७, सं० २००३ वि० का संस्करण।

२—मुक्तकेषु हि प्रबंधष्विव रस बन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते ध्वन्योलाक पृ० ३२५। तृतीयोद्योतः प्रकाशक जयकृष्ण दास हरि दास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस सिटी, १९४० ई०।

विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति होने के कारण कवि को नित्य ही सभा समाज में बैठने का अवसर प्राप्त होता था जहाँ कि वे काव्य के माध्यम द्वारा अपने उद्‌गारों को प्रकट करते थे। अतएव शुक्ल जी के कहे हुये समस्त गुण उनकी कविता में अवतरित हो सके हैं। साथ ही कवि ने अपनी काव्य रचना में रस स्थापन का पूर्ण ध्यान रक्खा है जैसा कि सतसई के अधिकांश दोहों में परिलक्षित होता है। अतः यह निस्संकोच होकर कहा जा सकता है कि सतसई का प्रत्येक द्विछत्रमय पद 'स्वल्पा च मात्रा वहुलौं गुणश्च' अथवा 'गागर में सागर' भरने की कहावतों को पूर्णतया चरितार्थ करता है।

११६—वीर सतसई के सम्पादकों का कथन है कि सतसई वस्तुतः ध्वनि काव्य है जिसमें असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य द्वारा अनेक स्थानों पर रस निष्पत्ति हुई है।[1] विद्वानों का यह मत कवि की कृति पर कहाँ तक लागू होता है, यह विचारणीय है।

वाच्य से अधिक उत्कर्षक चारुता प्रतिपादक व्यंग्य को ध्वनि काव्य कहते हैं। जहाँ शब्द अथवा अर्थ स्वयम् साधन होकर साध्यविशेष किसी चमत्कार अर्थ को अभिव्यक्ति करते हैं, वहाँ ध्वनि काव्य स्वीकार किया जाता है। वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ के द्वारा ध्वनि वैसे ही ध्वनित होती है जैसे चोट खाने पर घड़ियाल से निःसृत सूक्ष्म से सूक्ष्मतर या सूक्ष्मतम ध्वनि। असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के अभिधा-मूलक भेद का प्रभेद है। इसमें विभावादि से रस तक के क्रम की गति के कारण व्यंग्य का अर्थ अलक्षित रहता है। वीर सतसई से इस असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है :

पायो हेली पूतनूं सोमल थण लिपटाय।
अचरज अतरै जीवियो, क्यूं न मरै अब जाय ॥२७६॥

अर्थात 'ऐ सखि, मैंने अपने पुत्र को स्तन में विष लगाकर दुग्धपान कराया है। आश्चर्य तो यह है कि यह अभी तक जीवित है। तो अब जब अवसर हाथ आया है तब यह क्यों न जाकर मृत्यु का आलिंगन करे'। इस दोहे में 'सोंमल पायो' में प्रतिक्षण मृत्यु का वरण करने में तत्पर होने अथवा स्पष्ट शब्दों में, वीर प्रसु के पुत्र के वीर होने की ध्वनि है। यह अभिधामूलक (विविक्षितान्यपर वाच्य) पदगत असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का सुंदर उदाहरण है।

इस प्रकार असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य द्वारा अनेक स्थानों पर रस निष्पत्ति हुई है किन्तु एसे स्थलों की गणना उंगलियों पर की जा सकती है। और इस अनिश्चय-वाचक 'अनेक' के आधार पर सतसई को ध्वनि काव्य की संज्ञा प्रदान करना

१—वी० स० की भू० पृ० ११०।

अवैज्ञानिक और असमीचीन है यद्यपि इस संबंध में यह अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि वीर सतसई में ध्वनि काव्य के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। वास्तविकता यह है कि वीर सतसई जैसा कि नाम से ही सुव्यक्त है। और रस प्रधान काव्य है तथा इसकी परोक्ष परन्तु अनावृत्ति व्यंजना कवि के निम्न उद्धृत दोहे में है :—

वैण सगाई वालियां पेखीजै रस पोस।
वीर हुतासण बोल में दीसै हेक न दोस।

११७—वीर सतसई प्रधानतया वीरों से तथा वीर रस से संबंधित है अतएव वीर एवं वीर रस को सुस्पष्ट रीति से समझ लेना आवश्यक है। शास्त्रानुसार वीर वह होता है जो कि विरुद्ध पक्ष वालों का संहार करता है अथवा विविध और विचित्र को जानता है और काट डालता है[1] अथवा जो ललकार कर शत्रुओं का आह्वान करता है वही वीर कहलाने का अधिकारी है।[2]

रस तरंगिणीकार ने वीर रस की व्याख्या करते हुये कहा है कि 'उत्तम प्रकृति का वीर उत्साह पूर्ण होता है। उत्साह की व्युत्पत्ति सत्व, संपत्ति, शौर्य, त्याग प्रभृति के द्वारा होती है। वीर रस के विभाव पराक्रम, प्रताप, दुर्धर्ष, प्रौढसैन्यता, यश, कीर्ति, विनय, विजय, प्रभुशीलिता, मंत्रशक्ति, कुलीन और संपन्न व्यक्तियों से मित्रता इत्यादि माने गये हैं। स्थैर्य, शौर्य, प्रताप, धैर्य, आक्षेपोक्तियों से सामन्दानादि' के व यथासमय प्रयोग से तथा भावगाम्भीर्य से पूर्ण, भाषण अनुभाव होते हैं। वीर रस के व्यभिचारी भाव प्रबोध, अमर्ष, गर्व, उग्रता, हर्ष, स्मृति, धृति, उत्सुकता, तर्क और असूया हैं। कहीं-कहीं स्वेद, रोमांच, मद, हर्ष आदि से उत्पन्न सात्विक त्याग आदि गुण भी अनुभाव हो जाते हैं।[3]

१—विरुद्धान् राति हंनीति वीर शब्दस्य निर्वहः।
विविधं च विचित्रं च लाति जानाति कुन्तति॥

२—एवं वा वीर शब्दार्थः कथितः पूर्वसूरिभिः।
प्रेरत्यत्र विद्विष्टानिति वीरो निरुच्यते॥

३—उत्तम प्रकृतिर्वीर उत्साहात्मा विभाव्यते।
उत्साहः सत्व शीलस्य शौर्य त्यागादि संभवः॥
पराक्रमः प्रतापश्च दुर्धर्ष प्रौढसैन्यता।
यशः कीर्तिश्च विनयो जयश्च प्रभुशालिता॥
मंत्रशक्तिश्च सम्पन्नघनाभिजन मित्रता।
इत्यादियो विभावाः स्युर्वीरस्य, कवि कल्पिताः॥
स्थैर्य शौर्य प्रतापश्च धैर्याक्षेप भाषितैः।
सामादीनामुपायानां यथाकाल प्रयोगतः॥

वीर रस की निष्पत्ति करने वाले उपर्युक्त समस्त भाव, विभाव और अनुभाव वीर सतसई में उपलब्ध होते हैं। सूर्यमल मिश्रण में वीर रस की कितनी सुन्दर और प्रौढ़ अभिव्यंजना किया है, उसके बोध कराने के निमित्त बानगी के रूप में एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—

पैला कांकण पीव घर, बीच बुहारै खेत।
पण पग पाछा देण रो, हुल सै अच्छर हेत[1] ॥१०७॥

इस दोहे में आलम्बन विभाव शत्रु, उद्दीपन विभाव शत्रु सेना का सीमा पर होना और परोक्ष रूप में वीर को ललकारना, अनुभाव रोमांच तथा गर्व भावना का स्फुरण, व्यभिचारी भाव गर्व, अप्सरा से मिलने की उत्सुकता तथा उमंग और युद्ध के लिये आवेग और स्थायी भाव उत्साह है। कदाचित् यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि उक्त दोहे में युद्धवीर का उल्लेख है। वीर सतसई में सर्वत्र केवल युद्धवीर के ही चरित्र अंकित किये गये हैं।

कवि की इस अपूर्ण सतसई में वीर रस के अतिरिक्त अपवाद स्वरूप अन्य रसों के भी कुछ दोहे प्राप्त होते हैं। संयोग श्रृंगार के लिये दोहा संख्या १६, विप्रलंभ श्रृंगार के लिये दो० सं० २०७ व २०८, हास्य के लिए दो० सं० ७५, अद्भुत के लिये दो० सं० ६८ और २७६, करुणा के लिये दो० सं० २०६ और वीभत्स के लिए दो० सं० ६६, ६७ तथा ७१ उदाहरण स्वरूप देखे जा सकते हैं। सतसई कार इन रसों का निरूपण भी अत्यन्त सफलता के साथ कर सका है। एकाध स्थलों पर दोहों में रस मिश्रण भी मिलता है जैसे—

सुणता हाकौ सहज ही, कीधी जेज कधीन।
नीदांलू अब छोड़णा, भीड़ाणा कुच पीन[2] ॥२४॥

भाषितैर्माव गम्भीरैरनुभावा भवन्ति ते।
प्रकोधामर्ष गर्वोग्रमदहर्षाः स्मृतिघृतिः ॥
औत्सुक्यतर्का सूयाश्च भवंति व्यभिचारिणः।
सात्विकाः स्वेद रोमांचा मद हर्षादि संभवाः ॥
गुणास्त्यागादयोपिस्युरनुभावाः क्वचित् क्वचित्।
—रसतरंगिणी (लीथो) बनारस।

१—शत्रुसैन्यसीमा पर है और वीर पति घर पर। उसकी प्रतिज्ञा है कि वह पग पीछे नहीं हटायेगा। वह अप्सरा से मिलने के लिये उमंगित होकर रणक्षेत्र के मध्य में मारकाट करता है।

२—पत्नी वीर पति से कहती है कि 'ऐ निद्रालु' अब इन पीन कुचों के आलिंगन का परित्याग करो। तुम तो स्वभाव से ही युद्ध का आह्वान सुन कर कभी इतनी देर नहीं करते थे।

शृंगार और वीर रसों का अपूर्व सामंजस्य लक्षणीय है।

सूतो देवर सेज रण, प्रसव अठी मो पूत।
थे घर बामी बांट थण, पाळौ उभय प्रसूत ॥४३॥

एक ओर तो वीर नारी पति के साथ सती होने को उतावली हो रही है और दूसरी ओर नवजात शिशु के पालन की चिंता लगी है। इस प्रकार वीर के साथ वात्सल्य रस का अद्भुत समन्वय है।

११८—वीर सतसई में अलंकारों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिलता है। कदाचित् ही कोई ऐसा दोहा है जिसमें अलंकारों का अभाव हो। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की सहज प्रवृत्ति कविता स्वरूपा कामिनी को निरलंकार देखने की नहीं है। इसी कारण उसने अपनी कविता कामिनी के दोहे रूपी अवयवों को अलंकारों से आभूषित किया है। अलंकारों का समुचित विवेचन तत्संबंधी अध्याय के अंतर्गत अवलोकनीय है।

११९—इस अपूर्व 'सतसई' में कुछ डिंगल के विशेष प्रयोग भी देखने में आते हैं। इनमें प्रथम उल्लेखनीय प्रयोग 'पारिजाऊ दूहा' है। पारिजाऊ दूहा का प्रयोग वीर रस से ओत-प्रोत कविताओं के निर्देश के लिये किया जाता है, विशेष रूप से वे कवितायें जो कि उन वीर नायकों से संबंधित होती हैं जो कि दूसरों के सहायतार्थ अथवा सम्मान रक्षार्थ अंत तक युद्ध करते हैं[१]। इन दोहों का उपयोग ग्रंथ में पाँच स्थलों पर हुआ है।[२] यहाँ उदाहरणार्थ एक दोहा उद्धृत किया जाता है :—

पैला सुणिया पांच से, घर में तीर हजार।
आधा किण सिर ओरसी, जै खिजसी जोधार ॥२२४॥

अर्थात् शत्रु तो केवल ५०० सुने जाते हैं और घर में १००० तीर संग्रहीत हैं। अस्तु, यदि वीर क्रुद्ध हो जायगा तो आधे अथवा शेष ५०० शरों को किसके शीश पर चलायेगा।

द्वितीय विशेष प्रयोग 'रंग रा दूहा' है। किसी को 'धन्य धन्य' कहने के लिये जिन दोहों का प्रयोग किया जाता है वे 'रंग रा दूहा' कहलाते हैं। अफीम लेते समय

१—Parijan Duha so used to designate any poems inbued with Vir Rasa especially those which celebrate heroes who fought to the last to help others or to save their honour.

२—वी० सा० दो सं० ३०, ४०, ४७, १२६ और २२४।

जहाँ लोग निम्नलिखित दोहे में कथित ढंग से अफीम लेते हैं, वहाँ आज भी राजस्थान में इस प्रकार के दोहों द्वारा 'रंग' देने की प्रथा है।

रङ्ग अचाही जोगियाँ, राउत वीरा रङ्ग।
इम खोवाँ ले ले अमल, जीतण पूगा जंग ॥१६१॥

१२०—डिंगल काव्य शास्त्र की दृष्टि से वीर सतसई में दो स्थलों पर दोष मिलता है। प्रथम छत्रकाल दोष नीचे अवतरित दोहे में लक्षणीय है :

तोपाँ घर दरजा पड़े, झड़े गिरां सिर झाट।
जाणै सागर खीर रै, मंदर रौ अरराट ॥२३१॥

छत्रकाल दोष वहाँ माना जाता है जहाँ भाषा के विरुद्ध शब्द प्रयुक्त होते हैं।

एक अन्य स्थल पर ग्राम्यत्व दोष मिलता है :
केथ पधारौ ठाकुराँ, भरदाँ नैण मिलाय।
करती रा लीधा फिरै, धरती रा धन खाय ॥१३२॥

इसमें 'करती रा लीधा' अर्थात 'वेश्या के द्वारा गोद लिया' में ग्राम्यत्व का दूषण है। इन दोषों के संबंध में यह उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि २८८ दोहों की वीर सतसई में केवल दो स्थलों पर इस प्रकार के दोषों का प्राप्त होना नगण्य है विशेषतया इसलिये और भी कि ऐसे दोषों को अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता है।

१२१—सूर्यमल्ल मिश्रण की इस अपूर्ण वीर सतसई के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें रस, अलंकार और ध्वनि की त्रिधाराओं का, जो कि क्रमानुसार जन मन रंजन कारिणी पवित्र मंदाकिनी, अनुपम सौंदर्यमयी कालिंदी और अन्तः सलिला सरस्वती के सदृश हैं, समागम हुआ है। इन त्रिधाराओं का संगम कवि की रचना को तीर्थराज प्रयाग के समान बना देता है जिसके काव्यजल में अवगाहन करने से कायर जनों को जन्मभूमि के लिये वीरतापूर्ण कार्य करने की प्रेरणा, प्रोत्साहन तथा स्फूर्ति और वीरजनों को आत्म बलिदान कारक उत्साह और उमंग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार मृत प्राय कायर व्यक्ति को पुनर्जीवन और वीर को अमरत्व की उपलब्धि होती है।

सारांश यह है कि कवि की यह अपूर्ण सतसई डिंगल वीर काव्य की सर्वोत्कृष्ट और हिन्दी वीर काव्य की एक सर्वश्रेष्ठ मुक्तक रचना है।

छंद राव जैतसी रउ

परिचय

१२२—छंद राव जैतसी रउ अथवा राव जैतसी रो छंद वीठू सूजा नामक कवि की रचना है। डा० एल० पी० टेसीटरी ने इसका निर्माण काल सन् १५३४-४१ ई० (सं० १५६१-६८ वि०) के मध्य ठहराया है[1] जो कि उचित प्रतीत होता है।

ग्रंथ का नामकरण काव्य नामक, बीकानेर नरेश लूणकरण के पुत्र राव जैतसी, के नाम पर किया गया है जो कि उपयुक्त तो है किन्तु ग्रंथ प्रस्तुत किये गये अतिरिक्त विषय अथवा यौगिक कथानक का सांकेतिक नहीं है।

रचना के मूल कथानक को अत्यन्त संक्षेप में बताया जा सकता है। इसमें राव जैतसी और मुगल सम्राट् बाबर के द्वितीय पुत्र व कामरान का युद्ध और अंततः राव जैतसी की विजय वर्णित है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, रचना में मूल कथानक के अतिरिक्त भी सामग्री उपलब्ध है। अतएव सर्वप्रथम इस सामग्री से परिचित करा देना असमीचीन न होगा। विशेषतया इसलिये और भी, कि यह सामग्री कवि ने रचना में मूल कथानक के पूर्व ही प्रस्तुत किया है।

यह सामग्री काव्य नायक राव जैतसी के पूर्व पुरुषों से सम्बन्धित है। सालवड़ी अथवा जोधपुर के उत्तर पश्चिम का स्थान हालाड़ी, महेवा के रावल ने अपने एक सम्बन्धी चूंडा को कृपा करके उपहार स्वरूप प्रदान किया। कदाचित् कहना न होगा कि यही चूंडा राव जैतसी के आदि पुरुष थे। चूंडा अपनी योग्यता से मांडोर के अधिपति बन बैठे[2]। अनन्तर ने अपनी बुद्धि और बाहुबल के द्वारा नागौड़, हींडवाना, रइवास, छापड़ के स्वामी भी हो गये। इतना ही नहीं, उन्होंने मोहिलों के राज्य का कुछ अंश भी विजय किया और इस प्रकार एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया[3]। किन्तु यश के शिरोबिंदु पर पहुँचने के साथ ही मुलतान के दीवान पूगल के राव तथा जांगलू के सारवलों की सम्मिलित वाहिनी अतत्पर अवस्था में उसे नागौड़ में घेर लेती हैं। विवशता के कारण उसे प्रबल शत्रु से मोर्चा लेना पड़ता है। फलतः वह सम्मानपूर्वक मृत्यु का वरण करता है[4]।

१—छंद राव जैतसी रउ की भू० पृ० १०।

२—छं० रा० जै० छं० सं० २-६।

३—वही ७-६।

४—छं० रा० जै० छं० सं० ११-२०।

साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर भी मांडोर उसके पुत्रों को उत्तराधिकार में प्राप्त होता है। राव रणमल, चित्तौड़ के राणा मोकल की सहायता से सोझत को मांडोर में मिला लेता है किंतु कुछ ही समय के उपरांत, चित्तौड़ का राणा कुंभा विश्वासघात करके उसे सुप्तावस्था में कत्ल करवा देता है और उसकी सम्पूर्ण संपत्ति हस्तगत कर उसके उत्तराधिकारी पुत्र राव जोधा को देश से निकाल देता है।[1]

राव जोधा मरुभूमि की एक झोपड़ी में रहकर अवधारित अनियमित्त युद्ध करने की तैयारी करता है। वह चित्तौड़ की समस्त चौकियाँ छिन्न-भिन्न करके मांडोर को पुनः विजय करता है तथा मेवाड़ पर आक्रमण करके उसे भी पराजित करता है।[2] आत्म-शांति के हेतु वह गया जाकर पिता के लिए तर्पण करता है तथा प्रयाग आदि अन्य तीर्थस्थानों का पर्यटन करता है और विश्व से विदा लेने के पूर्व, फतेफुर में पठानों पर विजय प्राप्त करके, अपने यश में एक माल्य और भी संयुक्त करता है।[3]

जोधा का पुत्र राव बीका अपने अदम्य साहस और अतुलनीय पराक्रम द्वारा अल्प समय में ही पूगल की सीमा से लेकर हिसार तक और घग्घर नदी से लेकर नागौड़ की सीमा तक, समग्र मरुस्थल को अपने अधिकार में कर लेता है। इसके अतिरिक्त वह देवरौरा, मुमाण-वाहण, देपाल पुरा, सिरसा, बीठउँडउ अथवा भीटंडा, भटनेर और नरहड़ी प्रभृति स्थानों को विजित कर बीकानेर राज्य की स्थापना करता है जिसके राजधानी का शिलान्यास वह संवत् १५४२ में अर्थात्

'बइतालइ आडी दीध बाँह'

सन् १४८५ ई० में करता है।[4]

राव बीका के दिवंगत होने के अनंतर उसका उत्तराधिकारी पुत्र लूणकर्ण बीकानेर राज्य के शासन की बागडोर अपने हाथ में ग्रहण करता है। वह भी अपने पिता के तुल्य ऐश्वर्य-संपन्न और शक्तिशाली है। वह नागौड़ के मुहम्मद खाँ द्वारा बीकानेर पर किये गये आक्रमण को विफल करता है। जैसलमेर पर अधिकार प्राप्त करता है। नागौड़ के खान के साथ वह जोधपुर के राव गंगादेव के विरुद्ध युद्ध करता है। वह डींड्वाना को विजय करता है। मेवाड़ी शत्रुओं को भगा देता है और नागौड़ के दौलत खाँ की सहायता से झुंझणू और

१—छं० रा० जै० छं० सं० २१-२४।

२—वही २५-३०।

३—वही ३१-३७।

४—वही ४६।

नरहड़ी को पद दलित करता हुआ पंचेरी जा पहुँचता है। पंचेरी में असंख्य पठान उस पर टूट पड़ते हैं परिणाम स्वरूप उसके दो पुत्र प्रतापसी और वीरसी तथा वह स्वयं वीरगति को प्राप्त होते हैं।[1]

उपर्युक्त सब सामग्री का वर्णन रचना के लगभग चतुर्थांश में किया गया है। साहित्य के विद्यार्थी के लिए यह इतिहास परम रोचक सूचना है। किन्तु रचना के आशय तथा कलेवर एवम् कथानक के लिये यह अतिरिक्त सामग्री अनुपयुक्त, अहितकर तथा अत्यधिक है और प्रत्यक्षतः असम्बद्ध भी। यदि इस अतिरिक्त सामग्री को ग्रंथ की भूमिका या पीठिका स्वीकार किया जाय तो भी यह ग्रंथ के लिये अति विस्तृत तथा अशोभनीय सी है। जो कुछ भी हो, यह अतिरिक्त सामग्री तत्कालीन चारणों भाटों की ग्रंथ रचना पद्धति के अनुकूल है। इस विस्तृत भूमिका अथवा पीठिका का उद्देश्य स्पष्टतया आश्रयदाता के अलावा उसके पूर्वजों की प्रशंसा करना प्रतीत होता है।

अतिरिक्त सामग्री को ध्यान में रखते हुये, मूल कथानक तथा उसके विस्तार की ओर दृष्टिपात करना युक्तियुक्ति होगा। ऊपर के कथानक तथा अतिरिक्त सामग्री के अवलोकन से मूर्त्तरूप में ऐसा प्रतिभासित होता है कि कथानक अतिरिक्त सामग्री की तुलना में संक्षिप्त और अल्प है अस्तु इस प्राथमिक प्रतिचिह्न को भी दृष्टि में रख कर कथानक के विस्तार का परीक्षण अनपेक्षित न होगा।

कथानक के मूल विषय का उद्घाटन कवि अत्यन्त कलात्मक और नाटकीय शैली द्वारा करता है। जैतसी के पूर्वजों के कार्य इस प्रकार के थे जिनके राजसिंहासन को वह महान् राव अपने विशिष्ट व्यक्तित्त्व से सुशोभित करता है। वह निस्सन्देह लूणकर्ण का पुत्र है और अपने पिता के समान ही महान शक्तिशाली योद्धा है[2]। इस स्थल पर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो सूजा रणभूमि में खड़े हुये जैतसी को शत्रु पर आक्रमण कर उसे पराजित करने के लिये प्रोत्साहित कर रहा हो। परन्तु इसके पश्चात् ही कलात्मक और अतिशयोक्तिपूर्ण तथापि चाटुकारितापूर्ण प्रशंसात्मक शैली में राव जैतसी उसके नगरादि के ऐश्वर्य वैभव का वर्णन करता है। वह राव जैतसी को सहदेव के समान बुद्धिमान तक कह देता है।[3] इतना ही नहीं नगर के वैभव, शांति और समृद्धि का वर्णन करते हुये वह प्रश्न कर बैठता है कि 'क्या यह पृथ्वी पर राम राज्य नहीं है।[4] जिसका उत्तर केवल सकारात्मक है।

१—छं० रा० जै० छं० सं० ८४-८६।

२—वही ९४।

३—वही ९५।

४—वही १०३।

राव जैतसी के शासन कालीन बीकानेर की शांति और समृद्धि के विरोध में सूजा कुछ समय पूर्व बाबर के द्वारा पादाक्रांत, आतंकित और पराजित तथा फल-स्वरूप अशांतिपूर्ण एवं दयनीय भारतवर्ष का चित्र खचित करता है। इस प्रकार दो विरोधात्मक चित्रों के द्वारा वह कलात्मक ढंग से बीकानेर की संपन्नता की पुष्टि करता है और यह सिद्ध करता है कि जब संपूर्ण देश के राजा महाराजाओं, राज-कुमारों और प्रधानों ने बाबर के समक्ष नतमस्तक होकर आत्मसमर्पण कर दिया, उस समय भी बीकानेर तूफान में पड़े हुये चट्टान के द्वीप की भाँति दृढ़ और अविचलित रहा[१]। बाबर की विजयों से संबंधित इस वर्णन में दो वस्तुयें विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रथम, यह वर्णन रचना के आकार को देखते हुये अधिक व्यापक है। अस्तु यह मूल कथानक के प्रवाह में व्याघात उपस्थित करता है। द्वितीय, बीकानेर की महानता के प्रदर्शन के लिये बाबर की विजयों को अतिशयोक्तिपूर्ण कर दिया है। उदाहरणार्थ, डा० टेसीटरी के शब्दों में कि बाबर के भयावह मुगलों ने देश को जल प्लावन की भाँति जल मग्न कर दिया[२]।

बाबर की मृत्यु के बाद उसका द्वितीय पुत्र कामरो अथवा कामरान लाहोर का स्वतंत्र शासक बन बैठता है। बीकानेर का अधीनस्थ न होना उसकी दृष्टि में खटकता है। अतएव वह ससैन्य बीकानेर के लिये कूच कर देता है[3]। कामरान की सेना का यह वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक और सुंदर बन पड़ा है। मार्ग में कामरान भटनेर अथवा वर्तमान हनुमानगढ पर विजय प्राप्त करता है। इस युद्ध में राव जैतसी का आश्रित वीर और स्वामिभक्त कांधल राठौड़ खेतसी अरड़कमलोतगढ का समादेश और संरक्षण करते हुये मृत्यु का आलिंगन करता है[४]। युद्ध का यह वर्णन अत्यन्त सजीव और वास्तविक है। वर्णन की यह शैली राजस्थानी साहित्य की अपनी विशेषता है। यही वस्तुतः वह संजीवनी शक्ति है जो कि एक बार कायरों तक की धमनियों में वीर रस का संचार कर उन्हें कर्मठ बनाने में शक्य है।

भटनेर की सफलता से प्रफुल्लित और प्रोत्साहित होकर कामरान थली अथवा थलवाट में घुस पड़ता है तथा अनंतर वह अपने दूतों को राव जैतसी के पास भेजता है। संदेशवाहक उसके अधम प्रस्ताव को राव जैतसी के सम्मुख निवेदन करते हैं :—

१—छं० रा० जै० छं० सं० १४१।
२—छं० वही भू० पृ० ४।
३—वही छं० सं० १५५।
४—वही १७४-७६।

मोलिहय प्रधान कहियउ मुगुलिल
घर साजि मुहर हू म करि ढिलिल।
छां छत्र सरिस म म जाहि छेहि
दस कोडि द्रब वीवाह देहि ॥१८७॥

इस घृणास्पद प्रस्ताव को सुनकर एक बार कापुरुष का भी आत्माभिमान जागृत हुये बिना नहीं रह सकता फिर भला राजपूत कुल दिवाकर राव जैतसी इसे कैसे सहन कर सकता है। यह क्रोधोन्मत्त हो जाता है। प्रत्युत्तर में अपने पूर्वजों की यशमय विजयों का उल्लेख करते हुये स्वयं भी कामरान को पराजित करने के संकल्प को प्रकट करता है[1]। यह प्रत्युत्तर परंपरागत राजपूती वीरता तथा आन का परिचायक है और साथ ही राजपूत वीर स्वभाव का जाज्वल्यमान अलंकरण भी।

प्रत्युत्तर के प्रतिफल स्वरूप मुगल सैनिक गढ़ को घेर लेते हैं। इस स्थल पर दृश्य की वास्तविकता दर्शनीय है और विशेषतया आतंकित और भयभीत प्रजा का भागना। मुगलों के विराट सैन्यदल को देख कर राव जैतसी मानसिक संतुलन नहीं खोता वरन् दूरदर्शिता से काम लेता है। अपने विश्वास पात्र रूपावत राठौड़ तथा चार जैतुंग भाटियों के समादेश में गढ़ को छोड़कर और अवकाश ग्रहण कर तथा वह सैन्य संगठन करता है। प्रत्याक्रमण के पूर्व १०६ अश्वारोही प्रधानों के साथ अश्वों की विशेषताओं का विस्तारपूर्ण वर्णन किंचित् नीरस होते हुये भी सूक्ष्म और मनोरंजक है। उचित अवसर देखकर वि० सं० १५९१ के कृष्ण पक्ष की चतुर्थ रात्रि को राव जैतसी सुसुप्त शत्रुओं पर आक्रमण कर देता है[2]। इस अप्रत्याशित आक्रमण से शत्रुओं के पैर उखड़ जाते हैं[3]। युद्ध के दृश्य का चित्रात्मक वर्णन पाठक की कल्पना में साकार उपस्थित हो जाता है। वह रणभेरी का तुमुल निनाद, मुगलों के मुहम्मद और राजपूतों के राम की जयकार, योद्धागणों का गाजर मूली की भाँति कटना और रक्त से परिपूर्ण रणभूमि पर लुंठित मुंडों और कबंधों को प्रत्यक्ष देखने लगता है। कवि के प्रस्तुत वर्णन की सजीवता स्वाभाविकता, चित्रोपमता और कुशलता की जितनी ही प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। और इससे भी अधिक श्लाघ्य राव जैतसी को अमरत्व प्रदान करने वाली यह विजय है जिसकी इति उसके रण-कौशल तथा तात्कालिक युद्धनीति के परिज्ञान में है।

संपूर्ण कथानक पर सामान्य तथा विहंगम दृष्टि डालने से विदित होता है कि एक कुशल कलाकार की भाँति कवि ने उसके विभिन्न मोड़ों में आरोह अवरोह

१—छं० रा० जै० छं० सं० १९०-९४।
२—वही ३७१।
३—वही ३९३-९५।

का समावेश कर अविच्छिन्न रूप से कौतूहल को बनाये रखा है। कथानक से संबद्ध प्रथम कौतूहल का बीजारोपण कामरान के शांति और समृद्धिपूर्ण बीकानेर की ओर दृष्टिपात करने के साथ होता है[1]। आंधी आने के पूर्व के प्रशांत वातावरण के सदृश, बीकानेर पर होने वाले आक्रमण की आशंका तुरन्त पाठक के मन में घर कर लेती है। द्वितीय कौतूहल की सृष्टि कामरान के ससैन्य बीकानेर की ओर प्रस्थान तथा भटनेर के गढ़ की विजय में होती है। शत्रुदल के प्राबल्य का पूर्वाभास पाठक की सहज सहानुभूति को बीकानेरी शासक तथा प्रजा की ओर उन्मुख कर देता है। तृतीय कौतूहल का सूत्रपात कामरान के राजपूत कन्या के साथ 'दस कोड़ि द्रव्य वीवाह देहि' प्रस्ताव के द्वारा होता है, जिसका कि राव जैतसी मुँह तोड़ उत्तर देता है[2]। प्रतिफल कामरान का बीकानेर पर आक्रमण होता है और राव जैतसी गढ़ को त्याग कर जाने लगता है[3]। यहाँ चतुर्थ कौतूहल का सृजन होता है। राव जैतसी के गढ़ परित्याग से पाठक की सहानुभूति को एक तीव्र आघात लगता है। उसे अपने श्रद्धा पात्र नायक की ओर से निराशा सी होने लगती है। कदाचित् यदि वह उस समय उपस्थित होता तो यही कहता 'जाओ नहीं राव, शत्रु से मोर्चा लो। तुम्हारे साथ मैं भी प्राणों की बलि दूँगा'। किन्तु रणनीति से अनभिज्ञ पाठक की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता जब कि वह जैतसी के संगठित प्रत्याक्रमण को देखता है[4]। यह मूल कथानक का पंचम और महत्तम कौतूहल है। इस समय पाठक के रोम-रोम से 'जैतसी की जय' का मुखरन होता है जो कि कार्यान्वित होकर कथावस्तु को सुखान्त कर देती है। कथा वस्तु का शिखरविंदु अथवा चरम सीमा वस्तुतः यही स्थल है जहाँ कि पहुँच कर कवि उसे विराम दे देता है।

आलोचना

१२३—कदाचित् कहने की आवश्यकता नहीं कि छंद राव जैतसी में कथा नायक के जीवन के एक अंग, वीरता, अथवा उसके जीवन से संबंधित एक स्वतः पूर्ण घटना...कामरान की राव जैतसी द्वारा पराजय, का उल्लेख है। खंडकाव्य होने के कारण इसका क्षेत्र सीमित है यद्यपि इसमें महाकाव्य का सा तारतम्य भी परिलक्षित होता है। कहानी अथवा एकांकी की भाँति, इसमें अधिकांश सामग्री का संयोजन मुख्य घटना के निमित्त ही किया गया है। इसके अतिरिक्त ग्रंथ में उसके खंडकाव्यत्व को सिद्ध करने वाले महाकाव्य के कुछ प्रमुख तत्व आशीर्न...मस्क्रिया

१—छं० रा० जै० छं० सं० १४१।
२—वही १६१-१७६।
३—वही १८७-१९६।
४—वही २०३-२१३।

(छं० सं० १), ऐतिहासिक घटना से व्युत्पन्न, सदाश्रम, धर्म, अर्थ काम और मोक्ष-चतुवर्ग फल के प्रदानकर्त्ता चतुरोदात्तनायक राव जैतसी के चरित्र का अंकन, नगर वर्णन (छं० सं० ५१-५६ तथा ६२—१०३), शैल का उल्लेख (छं० सं० २७०), चन्द्र एवं ज्योत्सना स्नात रात्रि का परोक्ष वर्णन (छं० सं० २६८ तथा १६८-२०३), अर्कोदय एवं सूर्यास्त का उल्लेख (छं० सं० २०३ तथा १६७), वंशावली के वर्णन में अप्रत्यक्ष ढंग से कुमारोदय का संकेत, मंत्रदूत प्रयाण और दूत कर्म (छं० सं० १८७), नायक का अभ्युदय (छं० सं० २६३-६५), वीर रस का निरंतर वर्णन और लोक रंजकता, उदलब्य होते हैं। अस्तु 'खंडकाव्यं मवेत्काव्यैकशानुसारि च' परिभाषा को ध्यान में रखते हुये इसे निस्संकोच खंडकाव्य के अंतर्गत स्थान प्रदान किया जा सकता है।

१२४—छंद राव जैतसी की मूलकथावस्तु में कथनोपकथन केवल एक स्थल पर नाम मात्र के लिये प्राप्य है[1] किन्तु यह अत्यन्त महत्वपूर्ण और विशिष्टता सूचक है। दूतों के द्वारा कामरान का संदेश उसके साम्राज्य विस्तार की नीति, मुसलमान शासकों की कामुकता और धन लोलुपता का परिचायक है। इसके विपरीत, राव जैतसी का उत्तर राजपूत के सहज आत्म सम्मान एवं वीरोचित स्वभाव का सांकेतिक है। साथ ही वह एक प्रकार की इतिहासगत सूचना भी है जिसका विवेचन यथा स्थान किया जायगा। इसके अतिरिक्त राव जैतसी का यह कथन वीर रस का पोषक भी है।

१२५—जैसा कि नामकरण शीर्षक के अन्तर्गत इंगित किया जा चुका है रचना का प्रमुख उद्देश्य राव जैतसी की प्रशंसा करना प्रतीत होता है। कदाचित् इसी विचार से उसने जैतसी के जीवन को सर्वाधिक महान् घटना को उठाया है। इस घटना के द्वारा कवि ने स्थान-स्थान पर अपने मनोनीत नायक के चरित्र को निखारने का प्रयास भी किया है। संक्षेप में, उसने राव जैतसी की शासन सुव्यवस्था, आत्म सम्मान, वंशाभिमान और गौरव, उत्साह, निर्भीकता, वीरता, मानसिक सुनियंत्रण, संकटकाल में धैर्य न खोना, रणनीतिज्ञता, संगठन क्षमता, निपुण नेतृत्व, युद्ध कुशलता, व्यावहारिक ज्ञान, राजपूती आन, तथा दृढ़ता आदि गुणों का चित्रण किया है। किन्तु उसके पूर्वजों की सफलताओं और बाबर की विजयों को देखते हुये जैतसी की इस एकांकी विजय का भार अत्यल्प सा प्रतीत होता है यद्यपि सुजा ने अपनी काव्य कला की सम्पूर्ण शक्ति का बल प्रदान कर उसे बोझिल बनाने का उद्योग किया है। इसके विपरीत इस उद्योग का परिणाम यह हुआ है कि रचना के मूल कथानक में युद्ध के वातावरण का प्राधान्य हो गया है अथवा दूसरे शब्दों में

१—छं० रा० जै० छं० सं० १८७-१९६।

रचना चरित्र प्रधान होने के बदले घटना प्रधान अधिक हो गई है जिससे कि रचना में नायक का चरित्र निखरने की अपेक्षा कुछ दब सा गया है।

ग्रंथ की समस्त उत्कृष्टताओं और अभावों को देखते हुये भी यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि यह एक अत्यन्त सुन्दर और महत्वपूर्ण तथा डिंगल साहित्य का प्रथम श्रेणी का खंड काव्य है।

वचनिका राठौड़ रतन सिंह जी री महेसदासोतरी

परिचय

१२४—यह खिड़िया जगा अथवा जग्गा जी विरचित है। इसका अन्य नाम रतन रासौ भी है जो कि कवि प्रदत्त है—

जोड़ि मयौ खिड़िऔ जगौ
रासौ रतन रसाल।[1]

वचनिका राठौड़ रतनसिंह जी री महेसदासोतरी का रचना काल जगा खिड़िया के शब्दों—

परव[2] वैसाखह तिथि नवमि
पनरोतरै वरस्सि।
वारि सुकर लड़िआ विहद
हिन्दू तुरक बहस्सि ॥२६४॥

के अनुसार वि० सं० १७१५ अथवा डा० टेसीटरी के अनुसार इस घटना के कुछ समय उपरांत लगभग सन् १६६० ई० माना जा सकता है[3]।

इस ग्रंथ का नामकरण 'वचनिका राठौड़ रतन सिंह जी री महेसादासोत री' दो कारणों से किया गया है। प्रथम, ग्रंथनायक महेशदास के पुत्र राठौड़ रतनसिंह के नाम पर और द्वितीय डिंगल की अपनी विशिष्ट साहित्यिक शैली और रूप वचनिका के विचार से। इस प्रकार यह नाम सर्वथा उचित प्रतीत होता है। ग्रंथ के अन्य नाम 'रतन रासौ' को डा० टेसीटरी ने अनुचित कहा है[4] किन्तु इस संबंध में उन्होंने कोई समाधानपूर्ण कारण नहीं प्रस्तुत किया है। मेरे विचार से 'रतन रासौ' नाम से किसी प्रकार के अनौचित्य का निदर्शन नहीं होता। वस्तुतः क्रमबद्ध रचनाओं में चरित्र नायकों के नाम के साथ रासौ, रूपक, वचनिका प्रभृति संयुक्त कर रचनाओं के नाम की एक परिपाटी सी रही है जैसा कि मेनारिया जी का भी मत है[5]। हाँ, डा० टेसीटरी के साथ सहमत होकर यह अवश्य कहा जा

१—व० रा० र० म० छं० स० २६५।

२—विभिन्न प्रतियों में पख के स्थान पर वदि (पख), मास, सित (तिथि) और सुदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। व० रा० र० म० पृ० ८६।

३—व० रा० र० म० की भू० पृ० ४।

४—वही पृ० ८ (पा० टि०)।

५—रा० भा० सा० पृ० ५०।

सकता है कि रचना की शैली और स्वरूप को देखते हुये 'रासो' की अपेक्षा 'वचनिका' अधिक उपयुक्त है जो कि परम्परा द्वारा अनुसमर्थित और प्रतिष्ठित भी है[१]।

कथानक का विषय बादशाह शाहजहाँ की ओर से जोधपुर के महाराजा जसवन्त सिंह की अध्यक्षता में शाहजहाँ के विद्रोही राजकुमारों औरंगजेब और मुराद के विरुद्ध उज्जैन के युद्ध में, मालवा के अन्तर्गत रतलाम के राजा, 'मोटे राजा' उदय सिंह के पौत्र और महेशदास के पुत्र, रतनसिंह का वीरतापूर्वक लड़ते हुये मृत्यु का वरण करना तथा तत्सम्बन्धी स्मरणोत्सव करना है। इस दृष्टि से यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि कथानक रचना के शीर्षक के अनुकूल और संक्षिप्त है।

रचना का आरम्भ गणेशवन्दना से युक्त गाहा से करके[२] जगा खिड़िया विष्णु, शिव, शक्ति और सरस्वती आदि का आराधना करते हुये रिणमल के वंश में रत्न सिंह के जन्म ग्रहण करने का उल्लेख करता है[३] और इस प्रकार वह बिना किसी भूमिका के अपने प्रशंसा पात्र नायक के चरित्र वर्णन का संकल्प प्रकट करते हुये मूल विषय में प्रवेश करता है। अनन्तर कवि रतन सिंह की वंशावली का परिचय देकर[४], उसके पिता महेशदास की देवगिर (जालोर) विजय का वर्णन कर[५], वीर पिता के पुत्र रतन सिंह के भी वीर होने का अप्रत्यक्ष संकेत करता है। तदुपरांत राजा रतन सिंह की वीरता के प्रदर्शन के निमित्त वह पीठिका स्वरूप तत्कालीन राजनैतिक अवस्था की रूपरेखा खचित करता है जिसके कारण चरित्र नायक की प्रशंसा, जो कि रचना का प्रधान लक्ष्य है, में बाधक तो अवश्य उत्पन्न करती है, किन्तु वस्तु अथवा विषय के वर्णन और कथानक के विकास का ध्यान रखते हुये, उसे किसी प्रकार भी दोष की संज्ञा नहीं दिया जा सकता। यह पीठिका इस प्रकार है—

मुगल सम्राट शाहजहाँ के अवसान काल के आगम के साथ उसके पुत्र राज सिंहासन की प्राप्ति के हेतु विद्रोही हो जाते हैं। मुराद गुजरात का बादशाह बन बैठता है और शुजा पूर्व तथा दक्षिण के प्रदेशों को हस्तगत कर लेता है। फलतः बादशाह शाहजहाँ और सिंहासन का उत्तराधिकारी ज्येष्ठतम राजकुमार दारा,

---

१—व० रा० र० म० की भू० पृ० ८ (पा० टि०)।

२—व० रा० र० म० छं० सं० १।

३—वही २।

४—वही ३।

५—वही ५...७।

६—व० रा० र० म० छं० सं० ६...१७।

महाराजा जसवन्त सिंह और महाराजा जय सिंह को सहायतार्थ बुलाते हैं। शुजा के दमन के लिये महाराजा जयसिंह और मुराद के दमन के निमित्त महाराजा जसवन्त सिंह हाथी, द्रव्य, ताबीन और सेना इत्यादि लेकर कूच करते हैं। कहना न होगा कि यह पीठिका नितांत आवश्यक और महत्वपूर्ण है।

महाराजा जसवन्त सिंह मार्ग में अन्य नवाबों और राजपूतों को भी साथ ले लेते हैं जिनमें कि रतलाम के राजा रतन सिंह, जो कि जसवन्त सिंह के सरक्तीय भी थे, विशेषतया लब्ध प्रतिष्ठ हैं[१]। इस प्रकार इस स्थल पर आकर जगा खिड़िया पुनः कथा नायक के चरित्र को एक सूत्रित कर उन्हें रंग स्थल पर लाता है। दूसरी ओर औरंगजेब और मुराद जसवन्त सिंह के पास फरमान भेजते हैं कि वह उन्हें रोके नहीं वरन् शाहजहाँ के पास जाने दें[२]। परामर्श के पश्चात् मध्यस्थता करने के लिये रतन सिंह विद्रोही राजकुमारों के पास जाते हैं और

'सीख रतन कीधी अग साह'

उन्हें स्वर्ग की उपलब्धि करने वाली सारमय शिक्षा देते हैं किन्तु अन्त में उन्हें निराश होकर 'आप तणै डेरै फिरि' आना पड़ता है[३]। दूसरे दिन युद्धारम्भ होता है और महाराजा जसवन्त सिंह तीन पहर तक सैन्य संचालन करते हुये युद्ध करते हैं[४]। इन स्थलों में कवि द्वारा कथानायक के चरित्र के निखारने का उद्योग सुव्यक्त है किन्तु वास्तविकता यह है कि जसवन्त सिंह के वाहिनी के अधिनायक होने के कारण राजा रतन सिंह का चरित्र कुछ दबा सा प्रतीत होता है। अनन्तर सेना का नेतृत्व राजा रतन सिंह को देकर जसवन्त सिंह अवकाश ग्रहण करते हैं[५]। जसवन्त सिंह के पृष्ठभूमि में जाने पर जगा को अपने प्रशंसा पात्र की सराहना करने का उन्मुक्त अवसर प्राप्त होता है और इस समय वह रतनसिंह के चारित्रिक निखार को अपूर्व सफलतापूर्वक चूड़ांत पर पहुँचा देता है। परन्तु यह पराकाष्ठा बुझाने वाले प्रदीप की अन्तिम लौ की भाँति क्षणिक किन्तु प्रकाशमान होती है।

लाज रौ कोट उज्जैणि लड़ि
पिड़ि रतन्न राजा पड़ै।[६]

१—व० रा० र० म० छं० सं० १८...२७।
२—वही ४६-५०।
३—वही ५२-७२।
४—वही १३४-१४४।
५—व० रा० र० म० छं० सं० १४५।
६—वही २४३।

राजा रतन सिंह वीरगति को प्राप्त होते हैं। उनकी अंत्येष्टि क्रिया की जाती है और वह स्वर्गलोक जाते हैं[1]। स्वर्गलोक सम्बन्धी वर्णन काल्पनिक होते हुये भी भव्य है।

राजा के परलोक गमन का वृत्तान्त सुनकर उनकी चारों रानियाँ भी सती हो जाती हैं तथा इस प्रकार वे अपने सतीत्व तथा पति प्रेम का परिचय देती हुई और भारतीय नारी जाति का मुख उज्ज्वल करती हुई स्वर्गलोक में भी पति से जाकर मिलती है[2]।

वस्तु विन्यास के निदर्शन द्वारा सहज ही इस परिणाम पर पहुँचा जा सकता है कि कथावस्तु में कहीं भी कोई आरोह अवरोह नहीं है। अस्तु, कौतूहल का निपट अभाव। इसका प्रमुख कारण रचना की वर्णनात्मक शैली है जो कि, जैसा कि डा० एल० पी० टेसीटरी ने दिखाया है, शिवदास की वचनिका अचलदास खीची री, आढौ किसनो कृत गजरूपक, वीठू सूजा विरचित राव जैतसी रो छन्द, अज्ञात नामा कवि लिखित जैतसी रो छंद तथा सम्भवतः अन्य मध्यस्थ साधनों द्वारा प्रेरित है[3]। महत्व की दृष्टि से क्रमशः चरित्र सम्बन्धी वर्णन, युद्ध सम्बन्धी वर्णन और स्वर्ग-लोक सम्बन्धी वर्णन को यथास्थान दिया जा सकता है। चरित्र सम्बन्धी वर्णन में दो व्यक्तियों के चरित्र चित्रण उल्लेखनीय हैं। ये स्वाभाविक हैं। इनका विवेचन चरित्र चित्रण शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। युद्ध सम्बन्धी वर्णन के अंतर्गत शाहजहाँ का जसवन्त सिंह को औरंगजेब और मुराद के दमन के निमित्त भेजना, सेना अथवा हाथी, घोड़े और सेनानियों का वर्णन तथा युद्ध वर्णन हैं। यह अंश स्वाभाविक होने के अतिरिक्त अनुभूति के निकट है। तथा स्वर्गलोक सम्बन्धी वर्णन कल्पना प्रधान है।

आलोचना

१२७—कथावस्तु के विश्लेषण से यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि जगा खिड़िया ने 'वचनिका' में राजा रतन सिंह के जन्म से आरम्भ करके मरण पर्यन्त उनके जीवन की रूपरेखा को रखा है किन्तु इस कथन द्वारा इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये कि कवि ने कथानायक के जीवन की अनेक घटनाओं का उल्लेख किया है। सच बात यह है, जैसा कि अन्यत्रनिर्देश भी किया जा चुका है, कि इस रचना

१—व० रा० र० म० छं० सं० २४४।

२—वही २४४-२६२।

३—व० रा० र० म० की भू० पृ० ६-८।

का प्रयोजन रतन सिंह की प्रशंसा है और इस प्रयोजन की प्राप्ति के हेतु उसने कदाचित् नायक के जीवन से सम्बन्धित सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रासंगिक घटना को उठाया है जो कि उसके चरित्र के विकास की दृष्टि से परम आवश्यक है।

इस प्रकार यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि रचना में कथानायक राजा रतन सिंह के जीवन का एक प्रमुख अंग वर्णित है जिसके लिये एक नितांत अपेक्षित, काव्य नायक के जीवन वृत्त से सम्बन्धित, ऐतिहासिक घटना का संयोजन किया गया है। कहना न होगा, कि यह घटना स्वतः पूर्ण भी है। कदाचित् इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते कि 'वचनिका' में महाकाव्य के सदृश तारतम्य उपलब्ध है। परन्तु काव्य नायक के जीवन से सम्बद्ध एक घटना का इतिवृत्त होने के कारण इसका क्षेत्र परिमित है। जो कुछ भी हो, यह तो मानना ही होगा कि इस रचना में काव्य नायक के चारित्रिक उत्थान संबंधी अंग के चित्रण के निमित्त कहानी और एकांकी के समान ही समस्त सामग्री का संकलन किया गया है। अतएव 'खंडकाव्यं 'भवेत्काव्यैकदेशनुसारि च' परिभाषा को संघटित करते हुये, विषय की दृष्टि से इसे खंडकाव्य की संज्ञा देना असमीचीन न होगा।

इस रचना को खंडकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित कर सकने वाले इतर लक्षणों का व्योरा इस प्रकार है :

वचनिका के प्रारम्भ के साथ ही उसमें आशीर्नमस्क्रिया का चयन मिलता है जिसमें कि गणेश (छंद सं० १), विष्णु, शिव, शक्ति और सरस्वती (छं० सं० ३), अलौकिक शक्तियों, तथा गुरु (छं० सं० ४), की ५ वंदना और आराधना है। साथ ही वर्ण्य विषय का निर्देश (छं० सं० २) भी किया गया है। वर्ण्य विषय का निर्देश एक प्रकार से गुरु की वंदना के पूर्व ही किया गया है जो कि शास्त्रा-नुसार व्यतिक्रम होने के कारण दोषपूर्ण है। इसके अतिरिक्त ग्रंथ में नगरवर्णन (छं० सं० २४४), सूर्योदय (छं० सं० १३३, १४६) और चन्द्र वर्णन, उद्यान, सलिल क्रीड़ा एवं रतोत्सव (छं० सं० २४४), का भी संक्षिप्त उल्लेख है। प्रारम्भ में वर्णित रतन सिंह के जन्म ग्रहण करने को (छं० सं० २), कुमारोदय वर्णन का सांकेतिक समझा जा सकता है। इसी प्रकार रतनसिंह की मृत्यु के उपरांत उनका रानियों से वियुक्त होना विप्रलंभ (छं० सं० २४४-२६०) ।का सांकेतिक माना जा सकता है। किन्तु इसमें संदेह नहीं, कि इनका परिपाक नहीं हो सका है। मंत्रदूत के रूप में काव्यनायक रतनसिंह का स्वयं औरंगजेब और मुराद के पास जाना वर्णित है (छं० सं० ७०-७२) जो कि उनके काव्यनायक होने के कारण अशोभनीय और खटकने वाला है। अन्तिम समय में युद्ध का अधिनायक होना (छं० सं० १४४-४५) और

वीरतापूर्वक शत्रुदल का विध्वंस करना (छं० सं० १४६-२४३) नायक का अभ्युदय है। वस्तुतः ऐहिक दृष्टि से यह अभ्युदय अत्यन्त क्षणिक है क्योंकि उनकी जीवन लीला दुखांत ही है, यद्यपि इसके विपरीत आदर्श की दृष्टि से उनका वीर गति का प्राप्त करना भी नायकाभ्युदय कहा जा सकता है। कारण, जैसा कि कवि ने वर्णन भी किया है, राजा रतनसिंह को स्वर्गलोक में विशिष्ट स्थान एवम् समुचित सम्मान प्राप्त होता है। रचना चमत्कारपूर्ण और अलंकारयुक्त है। इसमें रसभाव निरन्तर उपलब्ध होता है यहाँ तक कि कवि ने स्वयं इसमें नव रसों के समावेश का निर्देश किया है। (छं० सं० २४४)। इतना ही नहीं काव्य में जगा ने षडऋतु वर्णन का संगुफन भी किया है (छं० सं० २४४)। विभिन्न वृत्तांत और लोक रञ्जकता इसके अन्य गुण हैं। अस्तु, दोषों के होते हुये भी, जो कि वस्तुतः नगण्य है, 'वचनिका' को खंडकाव्य कहा जा सकता है।

चरित्र चित्रण

१२८ राजा रतनसिंह—रतलाम नरेश रतन सिंह, महेशदास के पुत्र तथा जोधपुर के अधिपति महाराजा जसवन्त सिंह के सरवतीय थे। ये अपने पिता के समान ही निर्भीक, साहसी और वीर थे। ये युद्ध में सिद्धहस्त थे और महाराजा जसवन्त सिंह के विशेष विश्वासपात्र थे। औरंगजेब और मुराद को दमन करने के लिये जाते समय जैसे ही जसवन्त सिंह ने इन्हें रण में भाग लेने के लिये निमंत्रण भेजा, वैसे ही ये उनकी सहायता के लिये ससैन्य उनके साथ आ मिले। इससे प्रकट होता है राजा रतन सिंह युद्ध के प्रेमी थे एवं अवसर आने पर संकटकाल में भी हाथ बँटाने के लिये प्राण पण से तत्पर रहते थे। राजा होते हुये भी ये साधारण कामों के करने में ओछेपन का अनुभव नहीं करते थे। इसका सजीव उदाहरण इनका दूतकर्म के लिये औरंगजेब और मुराद को समझाने जाना था। दूत कर्म करने के लिये राजा रतन सिंह अनेक नवाबों और राजाओं के होते हुये भी विशेषतया निर्वाचित किये गये थे जिससे कि प्रकट है कि ये अत्यधिक बुद्धिमान थे।

दूतकर्म में असफल होकर लौटने के पश्चात् भावी रक्तपात में भाग लेने के पूर्व उन्होंने विधिवत् दान दिया और पूजा पाठ भी किया था। इससे सुव्यक्त है कि रतन सिंह दान व धर्म में पूर्ण विश्वास करते थे। इन्हीं गुणों के कारण ये औरों के प्रशंसापात्र थे। कर्तव्य और उत्तरदायित्व का निर्वाह करना ये पूर्ण रूप से जानते थे। महाराजा जसवन्त सिंह इन पर पूरा भरोसा करते थे। इसी कारण युद्ध के दिन तीन प्रहर लड़ने के उपरांत जसवन्त सिंह ने सैन्य संचालन की बागडोर रतन सिंह को प्रदान कर दी। वस्तुतः, यह सेनापतित्व ही उनके प्राणों का ग्राहक हुआ और अन्ततः वह वीरगति को प्राप्त हुये।

जितना राजा रतनसिंह रणभूमि में सफल थे उससे कुछ अधिक ही ये गृहस्थ के रूप में भी सफल थे। अपने विभिन्न गुणों के कारण ही ये अपनी पत्नियों के प्रेम पात्र थे। वे इन्हें अपनी दृष्टि से एक पल भी ओझल नहीं होने देना चाहती थीं। इसका मूर्तिमान प्रमाण यह था कि ज्योंही उन्होंने अपने पति के वीरगति, प्राप्त करने का सुसमाचार सुना, उसके अनन्तर बिना एक पल खोये हुये, चारों पत्नियाँ अग्नि स्नान कर, अपने पतिव्रत और सतीत्व का परिचय देती हुई उनसे जा मिलीं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि राजा रतनसिंह का चरित्र राजपतों का एक प्रतिनिधि और प्रतीकात्मक चरित्र है।

१२६ (महाराजा जसवंत सिंह)—ये जोधपुर राज्य के अधिपति थे। ये अपने समय के सिद्धहस्त योद्धा तथा ख्याति लब्ध वीर थे। मुगल सम्राट शाहजहाँ इनकी वीरता से अत्यधिक प्रभावित था। जब शाहजहाँ के तीन पुत्र विद्रोही होकर राज सिंहासन को हस्तगत करने के लिये प्रयत्नशील हुये तो उसने जय सिंह के अतिरिक्त सर्वप्रथम इन्हीं को परामर्श के निमित्त आमंत्रित किया। शाहजहाँ को इनके शौर्य एवम् पराक्रम पर इतना अधिक भरोसा था कि उसने इनसे यहाँ तक कह डाला कि 'पतिसाही थां ऊपरा' है। इतना ही नहीं मुराद और औरंगजेब को दमन करने के लिये प्रस्थान करने के पूर्व उसने जसवन्त सिंह को विशेषतया ताबीन और सेना प्रदान किया था।

जसवन्तसिंह एक महान संगठनकर्त्ता तथा नेता थे। उन्होंने मार्ग में जाते जाते, अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण, अनेक नवाबों और राजाओं को साथ ले लिया था। स्वाभिमानी और स्वामिभक्त होने के कारण औरंगजेब और मुराद के फरमान भेजने पर कि 'हमें बादशाह से मिलने जाने दो' के प्रत्युत्तर में उन्होंने तुरन्त कहला दिया कि पहले मुझसे मिल लो तो फिर बादशाह से मिलना। किसी जटिल कार्य के करने के पूर्व ये खूब सोच समझकर और दूसरों से परामर्श लेकर कार्य करते थे।

सच तो यह है कि उज्जैन के युद्ध की घटना के कारण, एक पक्ष के अधिनायक और शाहजहाँ के प्रतिनिधि होने के नाते, इनका व्यक्तित्व, कवि का अभिप्रेत न होने पर भी अनायास ही निखर आया है। इतना ही नहीं, इनके प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व के कारण बहुत अंशों में काव्यनायक का चरित्र स्वयं दब सा गया है।

वास्तव में, चरित्र चित्रण के विचार से ग्रंथ में यही दो चरित्र प्रधान हैं। शेष चरित्र अत्यन्त गौण और अविकसित है।

१३०—संपूर्ण ग्रंथ में वर्णित विषय का सिंहावलोकन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि जगा खिड़िया की इस रचना में मौलिकता को अधिक महत्व नहीं

दिया गया है। अतः, मौलिकता को अधिक स्थान भी नहीं प्राप्त हो सका है। कवि द्वारा मौलिकता का उपयोग स्वच्छंद रूप से केवल काव्यनायक के चरित्र के विकास में लक्षणीय है। जहाँ तक घटना के चयन का संबंध है, कहने की आवश्यकता न होगी, कि वह इतिहास पर आधारित है और उसमें मौलिकता खोजना व्यर्थ सा है। वर्णनशैली के संबंध में यह बताया ही जा चुका है कि वह शिवदास की अचलदास खीची री वचनिका, आढो किसनो के गजरूपक और सूजा और अज्ञात कवि के राव जैतसी रो छंदों पर बहुत अंशों में आधारित है। इस संबंध में डा० टेसीटरी की व्याख्या निस्संदेह महत्वपूर्ण है। गठन की दृष्टि से वचनिका राठौड़ रतन सिंह जी री महेसदासोतरी में डा० टेसीटरी के मतानुसार छन्दों की विविधता और साहित्यिकता अधिक है।

जो कुछ भी हो, सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि जगा खिड़िया की 'वचनिका' एक चरित्र प्रधान, वर्णनात्मक खंडकाव्य है।

रघुनाथ रूपक गीतांरो[1]

परिचय

१३१—मनसाराम सेवग 'मंछ' कवि विरचित रघुनाथ रूपक गीतांरो का र० का० उनके निम्नलिखित अवतरण के अनुसार सन् १८०६ ई० है—

संवत् ठारैं सतक वरस तैसठौ बचाणौ ।
सुकलभादवी दसम बार ससि हर बरताणौ ।[2]

डा० सर जार्ज अब्राहमग्रियर्सन के मतानुसार '१९ वीं शती के आरम्भ में लिखित सर्वाधिक प्रशंसित कृति मनसाराम का रघुनाथ रूपक है। यह एक छन्द शास्त्र है जिसमें कि प्रचुरमौलिक उदाहरण इस ढंग से व्यवस्थित किये गये हैं कि वे राम का अखंड इतिहास प्रस्तुत करते हैं'[3] ।

कवि ने अपने ग्रंथ के नामकरण की व्याख्या को स्वयमेव प्रस्तुत किया है—

इण ग्रन्थ मो रघुनाथ गुण अतभेद कविता भाखियो ।
इण हीज कारण नाम ओ रघुनाथ रूपक राखियो ॥[4]

अतएव स्पष्ट है कि मंछ ने अपने काव्य ग्रंथ में श्री रामावतार की कथा का वर्णन किया है। रघुनाथ रूपक के अतिरिक्त 'गीतांरो' शब्द कथा के विभिन्न गीतों में वर्णित होने का सांकेतिक है। ग्रंथ में रघुनाथ कथा के अतिरिक्त एक अन्य विषय का और भी समावेश मिलता है जिसका निर्देश रचना के शीर्षक से नहीं होता। यह विषय रचना की रीत्यात्मकता से सम्बन्धित है। राव के जीवन चरित्र के साथ ही इसे रीति ग्रन्थ का भी रूप देकर कवि ने स्वर्ण और सुगन्धि का सा अपूर्व सुन्दर समन्वय किया है। इस रचना में दो पृथक विषयों का निरूपण होने के कारण दोनों दृष्टियों से रचना का विवेचन करना अधिक समीचीन होगा।

१—र० रू० गी० संपादक महताबचंद्र खारेड, प्रकाशक ना० प्र० स० काशी, प्रथम बार, वि० सं० १९९७ ।

२—र० रू० गी० पृ० २८२ ।

३—Imporial Gazetteer, Volume II, Chapter XI, pp. 430.

४—र० रू० गी० पृ० २८४ ।

अ—भक्तिकाव्य-तुलनात्मक विवेचन

१३२—रघुनाथ रूपक गीतांरो की कथावस्तु, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, रामावतार की कथा से सम्बंधित है। यह कथा हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त परिचित विषय है। अतएव कथावस्तु की पुनरावृत्ति करना पिष्टपेषण मात्र होगा।

रघुनाथ रूपक गीतांरो नौ विलासों में विभाजित है जिसमें कि प्रथम दो विलास मुख्यतया रीति सम्बन्धी अंश से सम्बन्धित है। राम कथा का क्रमबद्ध उल्लेख तृतीय विलास से होता है। तृतीय से नवम विलास के अन्तर्गत ही वस्तुतः राम कथा को संघटित किया गया है। ये सात विलास ही श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण अथवा तुलसीकृत रामचरितमानस के क्रमशः आदि अथवा बाल, अयोध्या, अरण्य या वन, किष्किन्धा, सुन्दर, युद्ध अथवा लंका और उत्तर सात...७ कांड हैं।

१३३—तृतीय विलास में कथा प्रसंग का उद्घाटन शंकर पार्वती संवाद द्वारा होता है। पार्वती अपने विभ्रम के निवारणार्थ शंकर से प्रश्न करती हैं कि आपका ध्यान तो समस्त विश्व करता है किन्तु आप स्वयं किसका ध्यान करते हैं। यह रहस्य मुझे बतलाइये[1]। इस प्रकार नाटकीय ढंग से कथनोपकथन शैली में कवि मूल कथा प्रारम्भ करने की भूमिका प्रस्तुत करता है। प्रत्युत्तर में शंकर राम कथा की वार्ता का उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार अगम्य पर ब्रह्म के अवतार राम के चरित्र का यश शतकोटि प्रकार से बाल्मीकि ऋषि ने किया है—

महामत महण जसगाथ मुनि बालमिक,
कोट सत चिरत रघुनाथ कीधो।

और उस यशमय गाथा को नर, सुर तथा सर्पों ने परस्पर वितरित कर लिया है। रकार और मकार युग्मांक जो शेष रहे उन्हें शंकर ने स्वीकार किया है। इन्हीं द्विवर्णों के प्रभाव के कारण पृथ्वी उनके समक्ष नत मस्तक होती है[2]।

ऊपर के उद्धरण में एक विशेष ध्यान देने योग्य वस्तु यह है कि बाल्मीकि के नामोल्लेख द्वारा मंछ परोक्षरूप में रघुनाथ रूपक गीतांरो की कथा का बाल्मीकीय रामायण पर आधारित होना अंगीकार करते हैं।

इस विलास में दशरथ की तीन रानियों द्वारा चारों भाइयों के जन्म से लेकर उनकी बारात के अयोध्या प्रत्यागम तक का वर्णन है। इधर घटना सम्बन्धी

१—र० रू० गी० पृ० ५६।
२—वही (र० रू० गी०) पृ० ५६-५७।

समानताओं के अतिरिक्त विशेषतया वाल्मीकीय रामायण की तुलना में निम्नलिखित स्थल द्रष्टव्य हैं—

क. विश्वामित्र राजा दशरथ के पास जाकर अपने यज्ञ की रक्षा के लिये राम और लक्ष्मण को साथ ले जाने की आवश्यकता प्रकट करते हैं। राम और लक्ष्मण को बालक समझकर दशरथ स्वयं जाने की अभिलाषा प्रदर्शित करते हैं। राजा के बालकों के अल्प वय सम्बन्धी संशय को लक्ष्य कर विश्वामित्र अपनी बात पर बल देते हुये राम और लक्ष्मण के क्रमशः श्रीपति और शेष के अवतार होने का उल्लेख करते हैं जिसे सुनकर राजा दशरथ आनन्दपूर्वक दोनों राजकुमारों को साथ कर देते हैं[1]।

ऐसे मार्मिक स्थल पर जहाँ बालमीकि[2] और तुलसीदास[3] के दशरथ पुत्र वियोग की बात सुनकर क्रोध और शोक से विह्वल हो जाते हैं, वहाँ मनसाराम के दशरथ का नाम मात्र की आपत्ति के अनन्तर आनन्द पूर्वक विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण के यज्ञ रक्षार्थ गमन की अनुमति देना खटकता है। वस्तुतः इस प्रकार के मार्मिक स्थल के मूलतत्व रसात्मकता की नितांत अवहेलना आपत्ति-जनक है।

ख—धनुष भंग के प्रसंग के अन्तर्गत जब समस्त राजागण धनुर्भंग के प्रयास में अशक्त एवम् असफल प्रमाणित होते हैं तो मनसाराम के अनुसार सम्पूर्ण देशवासी कहते हैं कि क्षत्री जाति का वीर्य विनष्ट हो गया है—

नेम धारियो नरेस । यहा न को चढ़ै पेस ॥
देख कहै सको देस । खत्री बीज गयो खेस ॥

इस प्रसंग में वाल्मीकि ने किसी के द्वारा इस प्रकार की कातरता युक्त उक्ति नहीं कराया है। तुलसीदास ने इस प्रसंग में राजा जनक के भावातिरेक के प्रदर्शन के निमित्त उनसे निम्नलिखित प्रसिद्ध पंक्तियाँ कहलाई हैं—

अब जनि कोउ भाखें भटमानी। वीर विहीन मही मैं जानी ॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न विधि वैदेहि विवाहू ॥

मंछ कवि ने इस स्थल विशेष पर जनता के द्वारा क्षत्रियत्व के निर्वीयत्व का कथन कराकर अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविकता और यथार्थता को स्थान दिया है।

१—र० रू० गौ० पृ० ६४-६५।

२—श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, आदि कांड सर्ग २२, प्रकाशक : इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।

३—सुनि राजा अति अप्रिय बानी। हृदय कंप मुख दुति कुमलानी ॥

ग—मनसाराम राम परशुराम की योजना तो वाल्मीकि की भाँति करते हैं, किन्तु उसमें 'खंडे मैं वसुधा विण खत्री' । कीधी वार इकीसे' के द्वारा पृथ्वी के २१ बार क्षत्रिय विहीन करने की अतिरिक्त सूचना प्रदान करते हैं।

१३४—चतुर्थ विलास में देवताओं के स्वर्गलोक से पदार्पण कर भगवान राम से विश्व के कष्टों के निवारण की प्रार्थना से लेकर राम लक्ष्मण और सीता के वनगमन के निश्चय तक की कथा वर्णित है । श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण से इस कांड की तुलना करने पर निम्नांकित अन्तर परिलक्षित होते हैं—

क. वाल्मीकीय रामायण में अयोध्याकांड की समाप्ति उस स्थल पर होती है जहाँ कि अनसूया सन्ध्याकाल का वर्णन करती हैं और राम सीता और लक्ष्मण उसी आश्रम में निशा यापन करते हैं । र० रू० गी० में अयोध्याकांड की कथा इस स्थल के बहुत पूर्व विराम ग्रहण करती है । अतः, यह कहा जा सकता है कि मंछ का चतुर्थ विलास वाल्मीकि के अवधकांड का एक अंशमात्र है ।

ख. वाल्मीकीय रामायण में न तो भरत के अध्ययनार्थ ननिहाल जाने का कोई उल्लेख है और न शत्रुघ्न का प्रेमवश उनके साथ जाने का । कदाचित् मनसाराम की यह परिकल्पना उनकी अपनी सूझ का या किसी अन्य आधार की प्रेरणा का परिणाम है ।

ग. रघुनाथ रूपक गीतांरो में राजा दशरथ का राम को वनगमनार्थ आज्ञा प्रदान करना भी कवि कल्पना प्रसूत तथ्य प्रतीत होता है । वाल्मीकि के अनुसार तो दुःख की अधिकता के कारण वह 'राम के अतिरिक्त कुछ कह ही नहीं सके थे[1] । वन जाने की आज्ञा तो राजा की ओर से महारानी कैकेयी ने सुनाई थी ।

१३५—पंचम विलास में राम सीता और लक्ष्मण के वन के लिये प्रस्थान करने से लेकर मार्ग में जटायु और शबरी का उद्धार करते हुये लक्ष्मण के साथ राम के अपनी प्रियतमा सीता के अन्वेषणार्थ आगे बढ़ने की कथा तक का उल्लेख है । वाल्मीकि विरचित रामायण के अरन्यकांड से रघुनाथ रूपक गीतांरो के पंचम विलास को तुलित करने पर अधोलिखित वैभिन्य दृष्टिगत होते हैं—

क. सीता तथा लक्ष्मण समेत राम के अयोध्या से प्रस्थान करने से लेकर उनके अत्रि मुनि के आश्रम में निवास करने तक की रामायण के अयोध्याकांड की घटनाएँ र० रू० गी० के वनकांड के अन्तर्गत वर्णित हैं । मनसाराम ने इस परिवर्त्तन के कारण पर कोई प्रकाश नहीं डाला है । किन्तु विचार पूर्वक देखने पर उक्त कथांश

१—रामेत्युत्वा च वचनं बाष्पपर्याकुलेक्षणः ।
शशाक नृपतिर्दीना नेक्षितुं नाभिभाषितुम ॥३॥
श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग १८ ।

को वनकांड के अन्तर्गत स्थान देना अपेक्षाकृति अधिक वैज्ञानिक और युक्ति संगत प्रतीत होता है क्योंकि भरत के ननिहाल से अयोध्या जाकर राजा दशरथ की दाह संस्कार क्रिया सम्पन्न करने और पुनः अयोध्या के राज सिंहासन पर राम की पादुकाओं के प्रतिष्ठित करने के अतिरिक्त समस्त घटनाओं के केन्द्र स्थल वन हैं ।

ख—मंछ के अनुसार राम को राजा दशरथ की मृत्यु का समाचार भरत के पूर्व प्राप्त होता है[१] । वाल्मीकि तथा तुलसी ने भी राम को उनके परलोकवासी होने की सूचना भरत के चित्रकूट जाने पर प्रदान कराई है । अस्तु, इन महान् आत्माओं के अनुसार राम को अपने पिता के संसार व त्याग का हाल पर्याप्त समयान्तर पश्चात् प्राप्त होता है । यद्यपि र० रू० गी० में राम को इस महत्व पूर्ण सूचना के प्रदान करने वाले सूत्र का उल्लेख नहीं है तथापि राम को इस घटना की सूचना दशरथ के दिवंगत होने के उपरांत तुरन्त कराकर मनसाराम ने अपनी सतर्कता और व्यवहार बुद्धि का परिचय देते हुए घटना को अपेक्षाकृत अधिक वास्तविक और स्वाभाविक बना दिया है ।

ग—वाल्मीकीय रामायण के अनुसार भरत का ससैन्य चित्रकूट आगमन जानकर लक्ष्मण राम से कहते हैं कि 'मैं निस्संदेह सेना सहित भरत को मारूँगा'[२] किन्तु मंछ ने इसके विपरीत राम के मुख से कहलाया है कि भरत उनको अशक्त समझकर उन पर आक्रमण करने आये हैं[३] । दूसरे शब्दों में, जो संशय वाल्मीकि ने लक्ष्मण के द्वारा कराया है, मंछ ने उसे राम पर आरोपित किया है । फलस्वरूप, मंछ के द्वारा चित्रित राम का चरित्र धैर्य की दृष्टि से वाल्मीकि के राम की अपेक्षा हल्का पड़ जाता है ।

घ—अगस्त्य ऋषि के आश्रम से पंचवटी की ओर यात्रा करते समय मंछ कवि के अनुसार कबन्ध नामक राक्षस ने राम लक्ष्मण और सीता को पकड़ लिया था[४] । उसका वध कर राम ने उसको मोक्ष प्रदान किया था । यहाँ कबन्ध नाम वस्तुतः त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है । वाल्मीकीय रामायण के अनुसार उस राक्षस का नाम

१—र० रू० गी० पृ० ११२ ।

२—गृहीत धनुषौ चावां गिरि वीर श्रयावहै ।
अथ वैहैव तिष्ठावः सन्नद्धावुधतायुधौ ॥२०॥ से लेकर
शराणां धनुषश्चाहम् तृणोसम महामृधे ।
ससैन्यं भरतं हत्वा भविष्यामि न संशयः ॥३०॥ तक ।

३—र० रू० गी० पृ० ११६ ।

४—वही पृ० १२५-१२६ ।

विराध था। वह सीता को अपनी भार्या के रूप में देखने की कामना करता था। अतएव राम ने उसका संहार किया था।[1]

ङ—मनसाराम के अनुसार सूर्पणखा के नासाकर्ण राम ने अपने करों से कर्त्तित किये थे[2] जो कि भ्रामक है। वाल्मीकि ने स्पष्टतया लिखा है कि राम के अनुशासनानुसार लक्ष्मण ने उसको विरूप किया था[3]।

च—र० रू० गी० में मारीच को रावण का मामा कहा गया है—सुण रावण बात सकामानूं, मारीच बुलायो मामा नूं। महर्षि वाल्मीकि अथवा तुलसीदास जी ने अपने काव्य ग्रंथों में कहीं भी इस सम्बन्ध का उल्लेख नहीं किया है। इसे नवीन सूचना के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

छ—मन्छ कवि ने खरदूषण और त्रिशिरा की सेनाओं की सम्मिलित संख्या को 'अठारे सहस्र जोधार असुरेसरा' लिखा है। यह संख्या वाल्मीकि के अनुसार केवल चतुर्दश सहस्र थी[4]।

१३६—षष्ठम् विलास, जिसे कि मनसाराम ने कैकिंधाकांड कहा है जो कि वस्तुतः किष्किन्धाकांड का विकृत रूप है, में सुग्रीव के निर्देश के अनुसार हनुमान के राम से मिलन से लेकर हनुमानादि विभिन्न सेना नायकों के विविध दिशाओं में जाने तक की कथा का वर्णन है। र० रू० गी० और रामायण में विषय की दृष्टि से इस कांड में नगन्य सा अन्तर है। ये अन्तर विशेष महत्वपूर्ण भी नहीं है। और केवल दो स्थानों पर है तथापि इनका उल्लेख कर देना प्रसंग विरुद्ध न होगा।

क—मंछ ने हनुमान के द्वारा सुग्रीव की सब कठिनाई मित्रता होने के पूर्व कहला दिया है। वाल्मीकि ने अपनी रामायण में सुग्रीव की समस्या को उन्हीं के

१—अधर्म चारिणौ पापौ कौ युवां मुनि दूषकौ।
अहं वनमिदं दुर्गं विराधो नाम राक्षसः ॥१२॥
मरामि सायुधो नित्यमृषि मांसानि भक्षयन्।
इयं नारी वरारोहा मममार्या भविष्यति ॥१३॥ अरन्यकांड सर्ग २।

२—र० रू० गी० पृ० १२८-१२६।

३—इमां विरूपामसतीमतिमत्तां महोदरीम्।
राक्षसीं पुरुष व्याघ्र विरूपायितुमर्हसि ॥२१॥
इत्युक्तो लक्ष्मणस्तस्याः क्रुद्धो रामस्य पश्यतः (पाठान्तरे...पार्श्वतः)।
उद्धृत्य खड्‌ग चिच्छेद कर्णनासं महाबलः ॥२१॥ अरन्यकांड, सर्ग १८।

४—चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
शूराणां लब्ध लक्षाणां खरचित्तानुवर्त्तिनाम् ॥५॥ अरन्यकांड, सर्ग २६।

मुख से राम से मैत्री होने के उपरांत कहलाया है जो निःसन्देह अधिक उचित, स्वाभाविक और मनोविज्ञान सम्मत है।

ख—वाल्मीकीय रामायण के अनुसार राम ने सुग्रीव को अपने पराक्रम का परिचय और परीक्षा देने के लिये साल के सात वृक्षों, एक पर्वत तथा रसातल को एक शर द्वारा वेध कर अपना शर वापस लौटा लिया था। मंछ कवि ने कदाचित् कथा के संक्षिप्त करण में पर्वत और रसातल के भेदने की बात छोड़ दिया है।

१३७—सप्तम विलास में वानर सेनापतियों के विभिन्न दिशाओं में सीता के अन्वेषण के लिये प्रयाण करने से लेकर विभीषण के राम के शरणार्थी होने पर्यन्त की कथा का इतिवृत्त है। रामायण के सुन्दरकांड से इस विलास के कथा की तुलना करने पर तीन स्थलों पर अन्तर दृष्टिगोचर होता है—

क. मंछ के अनुसार अशोकवाटिका में सीता को देखकर हनुमान ने प्रकट होकर उनके चरण स्पर्श कर मुद्रिका प्रदान किया था[1]। वाल्मीकि के अनुसार हनुमान को यह कार्य करने के लिये पर्याप्त प्रतीक्षा करना पड़ा था। उन्होंने १४ वें सर्ग में हनुमान का अशोक वाटिका पहुँचना दिखाया है और ३३ वें सर्ग में सीता से मिलना। अतएव स्पष्ट है कि संक्षिप्त करण के प्रयत्न में मंछ ने मध्य की घटनाओं को एकदम छोड़ दिया है।

ख. र० रू० गी० के टीकाकार ने 'मणधार आवुत मांगमारूत, वन्द सियपद वेस' में मणधार का अर्थ शीशमणि ग्रहण किया है[2] जो कि भ्रममूलक है। मणधार का शाब्दिक अर्थ 'धारण की हुई मणि' है जिसका लक्ष्य वाल्मीकि कथित चूड़ामणि की ओर है जो कि हनुमान ने सीता से ले जाकर राम को दिया था[3]।

ग. वाल्मीकि के समान ही मनसाराम ने सेतु के निर्मित होने तथा रामेश्वर शिव के राव द्वारा प्रतिष्ठित किये जाने के उपरांत राम का सेतुपार कर लंका जाना कहा है किन्तु रावण मन्दोदरी संवाद में उसके पूर्व ही 'तिण डूबत दधि पाहण तिरिया'[4] मन्दोदरी के शब्दों में सेतु निर्माण का संकेत है। मंछ का यह कथन स्वयं विरोधी, व्यतिक्रमित एवं भ्रमात्मक है।

१३८—अष्टम विलास में राम के सेतु बन्ध रामेश्वर की स्थापना कर दल बल सहित लंका में प्रवेश करने से लेकर विभीषण का राज्याभिषेक कर लंका से

१—र० रू० गी० पृ० १६४।

२—वही पृ० १६४।

३—एव चूडामणिः श्रीमान्मया सुपरिरक्षितः।
मनः शिलायास्तिलको गन्ड पार्श्वेनिवेक्षितः ॥२२॥ सर्ग ५६।

४—र० रू० गी० पृ० १६६।

अयोध्या प्रस्थागमन तक की कथा है। रामायण के युद्धकांड से इस विलास का क्रमानुसार तुलनात्मक विश्लेषण करने पर नीचे संकेत किये गये असमान स्थल प्रकाश में आते हैं।

क. मंछ ने 'सेद थपे रामेश शिव, उतरे पार पयोध' के द्वारा रामेश्वर शिव की स्थापना के उपरांत राम का पुल पार जाना लिखा है। वाल्मीकीय रामायण में रामेश्वर शिव के प्रतिष्ठित करने का उल्लेख नहीं है। तुलसी ने अवश्य रामचरित मानस में लिंग थापि विधिवत करि पूजा' के पश्चात् 'सेन सहित उतरे रघुवीरा' का उल्लेख किया है जिसका उद्देश्य तत्कालीन शैवों और वैष्णवों के वैमनस्य का अन्त करना रहा है। अस्तु, सम्भावना यही है कि रामेश्वर शिव के स्थापन का भाव मंछ ने तुलसी से ग्रहण किया हो, यद्यपि इसका उन्होंने कोई निर्देश नहीं किया है।

ख- द्वितीय युद्ध के प्रारम्भ में मनसाराम ने लिखा है कि मेघनाद ने समस्त वानरों को नागपाश द्वारा बांध दिया था[१]। वाल्मीकि रामायण के अनुसार मेघनाद ने नाग शरों से राम लक्ष्मण को मूर्छित किया था[२]। राम तो कुछ देर बाद थोड़ा सा सचेत हो गये थे[३], किन्तु गरुण के आगमन पर उन्होंने और लक्ष्मण ने पूर्ण चेतनता लाभ किया था[४]। समग्र वानरों को मेघनाद ने इतर स्थल[५] पर राम और लक्ष्मण समेत मूर्छित किया था। उस समय ये वानर हनुमान के द्वारा लाई हुई औषधियों में विशल्या के प्रयोग से स्वस्थ हो सके थे[६]। मंछ ने नागपाश

१—र० रू० गी० पृ० १८७।

२—तौ संप्रचलितौ वीरौ मर्मभेदेनकार्शितौ।
निपेत तुर्भं सेष्वासौ जगत्यां जगत्पती ॥१८॥ सर्ग ४५।

३—एतस्मिन्नतरे रामः प्रत्यबुध्यत वीर्यवान।
स्थिरित्वात्सत्वयोगाच्यशरैः सन्दानितो पिसन् ॥३॥ सर्ग ४६।

४—ततः सुपर्णः काकुत्स्थो द्रष्ट्वा प्रत्यभिनन्दितः।
विममर्श च पाणिभ्यां मुखे चन्द्र सभप्रमे ॥३८॥
वैमतैयेन सम्पृष्टास्तस्योः संसरुहुर्व्रणाः।
सुवर्णो च तनु स्निधे तयोराशुवमूदतुः ॥३६॥ सर्ग ५०।

५—युद्धकांड सर्ग ७३।

६—सर्वे विशल्या विरुजः क्षणेन
हरिप्रवीरा निहताश्च ये स्युः।
गन्धेन तासां प्रवरौषधीनां।
सुप्ता निशान्तोष्विव संप्रबुद्धाः ॥७४॥ सर्ग ७४।

से बाँधने की वार्ता को कपियों के साथ जोड़कर संपूर्ण घटना को भ्रमपूर्ण बना दिया है।

ग. मंछ के अनुसार लक्ष्मण बरछी के प्रहार से मूर्छित हो गये थे—

लंघ दल प्रबल बरछी असुर लगाडी ॥
पडे गणणाय मुरझाय इल ऊपरै,

जैसा ऊपर के 'ख' अंश में इंगित किया है, लक्ष्मण एक ही नहीं दो बार मेघनाद द्वारा मूर्छित किये गये थे किन्तु बरछी के प्रहार से नहीं वरन् शरों द्वारा।

घ. मनसाराम के मत से लक्ष्मण का उपचार करने वाले वैद्य का नाम पतूस तूस था जो कि लंका निवासी था। वाल्मीकीय रामायण में इस नाम के अथवा अन्य किसी नाम के लंका निवासी वैद्य के हनुमान द्वारा लाये जाने का कोई वृत्तांत नहीं है। तुलसीदास के रामचरित मानस में अवश्य हनुमान द्वारा लंका से सुषेण वैद्य के लाये जाने का उल्लेख है जिसने कि उन्हें गिरि का नाम बताकर औषधि लाने भेजा था[1]। अस्तु, सम्भावना है कि मनसाराम ने यह इतिवृत्त रामचरित मानस से अपनाया है। पतूस तूस फिर भी कवि का स्वकल्पित नाम है।

ङ. हनुमान के औषधि लेने जाते समय राक्षस कालनेमि के उनके साथ कपटमुनि वेश धारण कर विश्वासघात करने का प्रयत्न, अप्सरा द्वारा कालनेमि का रहस्योद्घाटन और उसके वध की वार्त्ता वाल्मीकीय रामायण में अप्राप्य है। मंछ ने इस घटना को भी, ऐसा प्रतीत होता है कि रामचरित मानस से लिया है क्योंकि इसके सम्पूर्ण विस्तार प्रायः तुलसीदास द्वारा कथित घटना के अनुरूप है। मंछ ने केवल अप्सरा का नाम 'मकरी' नहीं दिया है[2]।

च. इस विलास के अंतिम गीत में राम के अयोध्या लौट जाने के पश्चात् पुनः रावण के पराक्रम, उसकी मृत्यु, सुरों द्वारा पुष्प वृष्टि तथा 'जय' शब्द के उच्चारण का वर्णन है[3]। कदाचित् कहने की आवश्यकता नहीं, कि यह व्यतिक्रमित एवं अव्यवस्थित है। वस्तुतः, इसे अकूट बंध गीत के उदाहरणों के बाद 'रावण वध' के अन्तर्गत रखकर पढ़ना उचित एवं अपेक्षित है।

१—जामवंत कह वैद सुषेना। लंका रहइ को पठई लेना।
धरि लघु रूप गयउ हनुमंता। आनेउ भवन समेत तुरंता ॥
दो०—राम पदारविंद सिर नायउ आइ सुषेन।
कहा नाम गिरि औषधी जाहु पवन सुत लेन ॥

२—सर पैठत कपि पद गहा, मकरी तब अकुलान।

३—र० रू० गी० पृ० २३१-२३२।

१३६. नवम विलास में राम के अयोध्या आने से लेकर राज्याभिषेक की कथा और कुछ इतर सूचनाएँ संग्रहीत हैं। कवि के शब्दों में यह विलास 'सिंहा-विलोकण सार' है। इसमें कथावस्तु की दृष्टि से तुलनात्मक स्थल का अभाव है।

आ. रीति काव्य—वस्तु विवेचन

१४०—र० रू० गी० को एक रीति ग्रंथ के रूप में अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इसमें प्रधानतया गीतों का विस्तृत विवेचन है। गीतों के रचना विधि को स्पष्ट करने के हेतु मंछ ने छन्द शास्त्र के नितांत प्राथमिक तत्वों का उल्लेख किया है। सर्व प्रथम मनसाराम ने लघु, गुरु, दग्धाक्षर, निर्दोषवर्ण, शुभाशुभगण और द्विगुणों की व्याख्या किया है[1]।

लघु की व्याख्या करते हुये मंछ ने इनके ४ भेद बताये हैं—(१) किवलो (इसे राजपूताने में कंवलै भी कहते हैं), (२) पिच्छू, (३) लहु तथा (४) छन्द की गति को ठीक रखने के लिये दीर्घ को लघु मानना। इनमें नवीनता कुछ भी नहीं है। केवल प्रथम तीन नाम डिंगल के हैं जो कि क्रमशः अ, इ, तथा उ कार वर्णों के द्योतक हैं। इसी प्रकार गुरु के ४ भेद या रूप हैं—(१) दीर्घ वर्ण, (२) संयुक्ताक्षर के प्रथम वर्ण, (३) विसर्गांत वर्ण और (४) अनुस्वार युक्त वर्ण। दग्धाक्षर के संबंध में दो प्रचलित मतों का उल्लेख किया है। प्रथम मत के अनुसार इनकी संख्या ८ है और द्वितीय के अनुसार १८। निर्दोष वर्णों का कवि ने उल्लेख तो नहीं किया है किन्तु दग्धाक्षरों के ज्ञान के पश्चात् वे एक प्रकार से स्वतः व्यक्त हैं। शुभाशुभ गणों में मनमय और सरतज का क्रमशः उल्लेख है। मंछ ने द्विगणों का विवेचन नहीं किया है किन्तु महताब चन्द्र खारैड ने टीका में मित्र, दास, उदासीन और शत्रु गणों को स्पष्ट कर दिया है[2]। मंछ ने द्विगणों के फलाफल का निर्देश अवश्य किया है। इस सम्बन्ध में यह संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा कि हिन्दी छन्द शास्त्र के विद्यार्थी के लिये तात्विक दृष्टि से इसमें कोई नवीन सूचना नहीं है।

मनसाराम ने अपवाद स्वरूप यह भी उल्लेख किया है कि यदि आदि में दग्धाक्षर या अशुभगण हो तो क्रमशः शुभगण अथवा द्विगण के प्रयोग द्वारा उनका परिष्कार हो जाता है अथवा यदि वयण सगाई का उपयोग हो तो दग्धाक्षरों, अशुभ-गणों और अशुभ द्विगणों का दोष नहीं होता है।

दोषों के प्रसंग के आ जाने के कारण कवि ने डिंगल काव्य में पाये जाने वाले १० काव्य दोषों के नाम, उनके लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये हैं[3]। ये

१—र० रू० गी० पृ० ५...१०।

२—वही पृ० १०।

३—वही पृ० १४...३१।

काव्य दोष-अंध, छबकाल, हीण, निनंग, पांगलो, जात विरूप, अपस, नालछेद, पखतूट और बहरो, प्रत्येक दृष्टि से डिंगल के अपने मौलिक एवं नवीन दोष हैं तथा हिन्दी साहित्य में प्राप्य दोषों से बिलकुल पृथक् हैं। वस्तुतः मौलिकता की दृष्टि से इनका अध्ययन रोचक है।

ऊपर संकेत किये गये अपवादों में प्रसंगवश वयण सगाई का उल्लेख आ जाने के कारण मनसाराम ने वयण सगाई को भी सविस्तार स्पष्ट किया है[1]। वयण सगाई अनुप्रास के निकट किन्तु उससे भिन्न डिंगल का अपना मौलिक अलंकार है। इसका विस्तृत विवेचन लेखक ने अलंकारों के अध्याय में किया है।

अंध दोष की व्याख्या में 'रुलै उक्तरो रो रूप' में उक्त या उक्ति की साधारण चर्चा हुई है। यह उक्ति भी डिंगल की अपनी मौलिकता का परिचायक है। वैसे उक्ति शब्द से तथा इसमें निहित अर्थ से प्रायः साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी परिचित है किन्तु डिंगल में प्रयोज्य इसका, लक्षण एवं उदाहरणों द्वारा उनकी व्याख्या नवीन एवं सूचनात्मक है। साधारण परिचय के विचार से यहाँ यह बता देना पर्याप्त होगा कि 'भाषे धारण बुध भला सखरा वचन' अर्थात् बुद्धिमान व्यक्ति के श्रेष्ठ वचन द्वारा कथन ही उक्ति का लक्षण है। परमुख, सनमुख, परामुख और श्रीमुख इसके चार भेद हैं। इनकी विशद व्याख्या मंछ ने किया है[2]।

उक्ति के विभिन्न उदाहरणों में कवि ने शृंगार, बिमछ (वीभत्स), भयानक, शांत, अद्भुत, करुण, वीर, रौद्र एवम् हास्य—९ रसों को घटित किया है और अन्त में इनके अवलोकन करने का निर्देश किया है। इन समस्त रसों के परीक्षण से विदित होता है कि उदाहरणों में कवि ने प्रत्येक रस को स्थायी एवम् संचारी भावों, आलंबन एवम् उद्दीपन विभावों तथा अनुभावों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप में समावेश कर संश्लिष्ट रूप में रस की स्थापना किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने अपने लक्षण ग्रंथ में रसों के विश्लेषण की पृथक् आवश्यकता नहीं समझा।

नालछेद दोष के लक्षण में मनसाराम ने जथा के निर्वाह न होने की बात का उल्लेख किया है। यह जथा भी डिंगल की अपनी मौलिक विशेषता है। काव्य में वर्णन रीति के क्रम के निर्वाह को जथा कहा जाता है। ये जथायें

> 'विधानीक, सर, सिर, वरण, अहिगत, आद, अतांण सुद्ध,
> इधक, सम, नूनसों,

१—र० रू० गी० पृ० ३२...३७।

२—वही ३८...४६।

एकादश प्रकार की मानी गई हैं। मनसाराम ने इनका भी सविस्तार वर्णन किया है[1]।

तृतीय से नवम विलासों के अन्तर्गत मंछ ने क्रमशः १८, ५, १८, ७, ५, १८ और १-७२ प्रकार के गीतों के नाम, लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। जिनमें कि द्वितीय गौरव और अमेल गीतों के लक्षणों का अभाव है[2]। इन गीतों के लक्षणों के अभाव का कारण स्पष्ट नहीं है। जो कुछ भी हो, ये गीत अपने ढंग के अनूठे और विशिष्ठता सम्पन्न हैं। वास्तव में डिंगल के गीतों के समझने के लिये इन गीत छंदों का ज्ञान होना आवश्यक है।

नवम विलास में कवि ने कुछ अतिरिक्त सामग्री भी संचित किया है। ये दवावैत, वचनिका, निसाणी, जथा और कुंडलिया है। कवि ने इनके भेदों के विस्तार भी लक्षण और उदाहरण समेत प्रस्तुत किये हैं[3]। इनका अध्ययन रोचक होने के साथ ही ज्ञान वर्धक भी है।

१४१—कदाचित् कहने की आवश्यकता नहीं है कि श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण तथा तुलसीदास कृत रामचरित मानस की भाँति ही मनसाराम का रघुनाथ रूपक गीतांरो भी महाकाव्य में परिगणित करने योग्य है यद्यपि यह प्रथम दोनों महाकाव्यों की तुलना में संक्षिप्ततर है। यह भी एक सर्गबन्ध महाकाव्य है जिसमें कि ६ विलास हैं। इसके नायक भी विष्णु के अवतार एवं अयोध्यानरेश दशरथ के पुत्र रघुकुलतिलक धीर प्रशांत राम हैं जिनकी प्रसिद्ध पौराणिक गाथा इस ग्रन्थ का इतिवृत्त है। प्रथम विलास के प्रथम तीन छन्दों में कवि ने ध्वन्यात्मक एवम् आशीर्वचनात्मक मंगलाचरण की अवतारणा किया है। अनन्तर वस्तुनिर्देश सदाश्रय एवम् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्वग फल प्रदान करने वाले नायक की कथा में नगर, अर्णव, शैल, उद्यान, रतोत्सव विप्रलंभ, विवाह, कुमारोदय, मंत्रदूत प्रयाण और नायकाभ्युदय का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त, यथास्थान आलंकारिकता, असंक्षिप्ता, रसात्मकता भिन्न वृत्तान्त, और लोकरंजकता प्रभृति का समावेश किया है।

इस प्रकार के विस्तृत ग्रंथ में त्रुटियों और चूकों का होना सर्वथा संभव है जैसा कि तत्सम्बन्धी स्थलों पर निर्देश किया गया है किन्तु कवि की नम्रोक्ति को देखते हुये उस पर किसी प्रकार का दोषारोपण करना असंगत है क्योंकि ग्रन्थ की महिमा के वर्णन में उसने स्वीकार किया है—

१—र० रू० गी० पृ० २४५...२६८।

२—वही पृ० ७७ तथा १४१...४२ क्रमशः।

३—वही पृ० २३६...२८२।

मैं दाखियो अनुसार मतरै जोय सगला लीजियो ।
इस माहि चूक हुवै सु ओलख कवी भाफ करीजियो ।।

इस कथन द्वारा कवि अपनी समस्त त्रुटियों एवं भ्रांतियों का परिहार करता है। वस्तुतः कवि की यह स्पष्टोक्ति श्लाघनीय है । कवि की शब्दावली में जो मनुष्य प्रीति से इस ग्रंथ का पठन पाठन करे वह 'मुरभूम भाषा तणो मारग...आछी रीत हूँ, रमण कर सकता है। संक्षेप में, र० रू० गी० अपने ढंग' का विरल रीत्यात्मक महाकाव्य है ।

नीति मंजरी[1]

परिचय

१४२—यह कविराजा बाँकीदास की रचना है। इसका र० का० कवि विरचित निम्नलिखित दोहे के अनुसार—

> **अट्ठारसौ अठंतरौ, चैत बीज पख सांम।**
> **बांके ग्रंथ बणावियौ, नीतमंजरी नाम[2]॥**

सन् १८२१ ई० है। यह ३६ दोहा-सोरठों की छोटी सी रचना है जिसमें मंजरी की सी सुवास देने वाले नीति सम्बन्धी छंद हैं।

नीति मंजरी में संग्रहीत समस्त दोहा सोरठों का विषय वैर अथवा वैरियों से सम्बन्धित है। इनमें प्रारम्भिक दो दोहों में बांकीदास ने राम द्वारा रावण के संहार करने का उल्लेख किया है। कदाचित् व्यक्तिगत रूप में राम का उल्लेख करने से कवि का प्रयोजन भगवन्नाम स्मरण है क्योंकि नीति मंजरी के सभी अन्य दोहे सोरठे सामान्य रूप से सार्विक हैं। राम के द्वारा रावण के संहार करने के उल्लेख की पृष्ठ भूमि में राम के बाहुबल और पराक्रम की प्रशंसा है। इन दोहों में वैर चुकाने में अग्रगण्य भगवान राम के द्वारा अपनाई गई साम, दाम, दंड और भेद नीतियों की ध्वनि है।

बांकीदास की इस कृति में सर्वाधिक छंदों का विषय शत्रु से रक्षा के उपाय हैं[3]। इन उपायों में शत्रु से मित्रता न करना, उसका विश्वास न करना, उससे दूर रहना, उससे पहले ही बचना, उसके दाँव पेंच को समझने की सामर्थ्य रखना, उस पर दया न करके क्रोध करना, उसे दाँव से, नीति से और बात से निराधार मारना, सर्प अथवा मृग की भाँति धोखा देकर पकड़ना और उससे सदैव सतर्क रहना है।

संख्याधिक्य की दृष्टि से द्वितीय श्रेणी के वे दोहे सोरठे हैं जिनमें कवि ने वैरी की प्रकृति की व्याख्या किया है[4]। वैरी हृदयहीन होकर भी वैर को नहीं

१—बाँकीदास ग्रंथावली भाग १ (प्रकाशक ना० प्र० स० काशी) में संग्रहीत पृ० ६०...६६।

२—नीति मंजरी छं० सं० ३६।

३—वही छं० सं० १३, १४, १५, १६, २६...२८, ३१...३३, ३८।

४—वही छं० सं० १८, २०, २२, २३, २६, ३०, ३५, ३६।

भूलता। वह साधारणतया अत्यन्त प्रबल होता है और असंभव कार्य भी बदला लेने के लिये कर डालता है। वह मधुर भाषी होता है जिनका प्रभाव सांघातिक होता है। वह खोटी मति प्रदान करता है। वह दूसरों को गिराने के लिये उनके पैर में पानी डालता है और वह स्वभावतः कठोर और निर्दय होता है।

तीसरे प्रकार के वे सोरठे हैं जिनमें कि कविराजा ने अरि की इच्छाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है[1]। उसके मतानुसार अरि चाहते हैं कि उनके शत्रु अल्प साहसी, कुलकलंकी, मलिन बुद्धि हों, उनके मुखियों की मृत्यु हो और कुलवर्धक कुपथगामी हों। वे चाहते हैं कि उनके शत्रु स्वजनों से न मिलें, उनकी संगति नीचों की हो, वे अदूरदर्शी हों और यदि सबल हों तो परस्पर लड़ें। वे कामना करते हैं कि दूसरों के घर क्रोध, अविश्वास, मन की निर्दयता और नास्तिकता का वास हो और वे सार और असार युक्त व्यक्तियों का भेद न कर सकें। वे दूसरों के घर विपत्ति में विपरीत परामर्श, अधर्म, आलस्य, निद्रा, अपकीर्ति और अनीति के प्रसार की इच्छा करते हैं। वे पराये घर के मुखिया के चंचलचित होने तथा उसके यहाँ असभ्यता, व्यसन, अति लोभ, अल्प लज्जा के प्रचलन की आकांक्षा करते हैं। इतना ही नहीं, वे मनाते हैं कि दूसरों के मंत्री मूर्ख और मलिन हों, चाकर चोर और सभीत चित्त हों तथा हलकारे सुधि हीन हों।

इनके अतिरिक्त चतुर्थ श्रेणी के अन्तर्गत बाँकीदास के अनुभवों से सम्बद्ध वे छन्द आते हैं जिनको कि किसी एक वर्ग में रखना सम्भव नहीं है। इनमें परस्पर साम्य का अभाव है और विविधता का आधिक्य। मूर्ख के वैर के सम्बन्ध में उनका मत है कि वह शत्रु का संहार कर उसके उत्तराधिकारी को छोड़ देता है (छं० सं० ३)। वह खल के हाथों 'मर कर और कुल का विनाश कर शत्रु को सिर के साथ वित्त, घर, वसुधा और सुयश, सर्वस्व समर्पण कर देता है (छं० सं० १०)। खल की प्रकृति छं० सं० ११, १२) अयोग्य कार्य करना है। क्रोध और वैर हानिकारक हैं (छं० सं० १७, १६, ३४)। योधाओं के वैर का कटना, संवर्धित होने की अपेक्षा श्रेष्ठतर है (छं० सं० २१)। कम मित्र और अधिक शत्रु रखने वाले व्यक्ति अल्प जीवी होते हैं (छं० सं० २४)। वार्तालाप में वैर मोल लेकर सज्जनों से सम्बन्ध विच्छेद करना तथा विषपान करना अशोभनीय हैं (छं० सं० २५)। और सुरक्षित स्थान में रहने से शत्रु पराभूत नहीं कर सकता (छं० सं० ३७)।

आलोचना

१४३—बांकीदास कृत नीतिमंजरी के अध्ययन करने के पश्चात् मानस

१—नीति मंजरी छं० सं० ४...६।

२—राजस्थान साहित्य, जून १९५४ पृ० १८, प्रकाशक: साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर।

पटल पर प्रथम अनुमुद्रा यह अंकित होती है कि उनके जीवनकाल में उनके अनेक वैरी रहें होगें। इस अनुमुद्रा अथवा प्रभाव में सत्य का अंश कितना है इसका विवेचन करना इस कथन का लक्ष्य नहीं है, वरन् इस कथन का प्रयोजन केवल इतना ही है कि नीतिमंजरी के लेखन की मूल है, प्रेरणा के पीछे वैर तथा वैरियों का हाथ अवश्य रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को अपने जीवन काल में आगे बढ़ने के लिये संसार की विषम परिस्थितियों से पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा था जिसके फलस्वरूप उसने विविध प्रकार के अनुभव संचित किये थे। जो कुछ भी हो, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस रचना के प्रत्येक दोहे तथा सोरठे की पीठिका में, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में, उसके अतीत जीवन के संचित अनुभवों का प्रकाशन है।

जिन छंदों के अंतर्गत कवि ने शत्रु से रक्षा करने के उपायों का उल्लेख किया है उनमें सामूहिक जीवन की परिस्थितियों का स्पष्ट संकेत है। परिस्थितियों के संकेत के साथ ही उनमें उनके प्रति विद्रोह भी है किन्तु दूसरी ओर उनसे समझौता करने की चेष्टा भी। उनमें वास्तविक जगत के जीवन का चित्रण है और उस जीवन के प्रति जागरुकता भी। इसके अतिरिक्त उनमें वैर के कारण उत्पन्न होने वाले पतन और उत्थान के सुव्यक्त सूत्र भी हैं।

जहाँ कवि ने वैरी की प्रकृति की व्याख्या किया है, वहाँ उसके व्यक्ति के अध्ययन, मनन एवं सूक्ष्म विश्लेषण की क्षमता का प्रकाशन है। किसी स्थान में और किसी भी समय में कोई मनुष्य वैरी होकर स्वयं में वैर धारण कर सकता है। उसका वैर गुप्त भी हो सकता है और व्यक्त भी। वह नम्र होकर, मधुर भाषी बन कर, कृत्रिम व्यवहार करके और विश्वास कराकर विश्वासघात कर सकता है और अनावृत बल प्रयोग द्वारा प्रतिहिंसा कर सकता है। अस्तु, उसके प्रति प्रत्येक क्षण सतर्क रहने की आवश्यकता है। किन्तु सतर्क रहने के लिये उसके प्रकृति को समझना भी नितान्त अपेक्षित है। अतएव कवि ने उनके स्वभाव का विश्लेषण कर पाठक के समक्ष वैरी के स्वरूप के निदर्शनार्थ एक दर्पण प्रस्तुत कर दिया है।

तृतीय कोटि के दोहों सोरठों में उसने शत्रु की आन्तरिक मनोवृत्ति को जो कि साधारणतया अप्रकट रहती है, प्रकाशित किया है। वस्तुतः यह वैरी के कलुषित पक्ष का उद्घाटन है। वैरी अपने को सर्वोपरि देखना चाहता है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वह अपने विपक्षी का अशुभ चाहता है। कवि एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था। वह नित्य सभा समाज में बैठता था। हर प्रकार के व्यक्तियों को देखता था। वैरी उससे अछूते कैसे रहते। कवि ने उन्हें भी देखा और देखा भी तो अत्यन्त निकट से। अतः उसने उनके गुप्त रहस्य के आवरण को हटाकर गोपनीय को प्रकट कर दिया। इन भावनाओं का अध्ययन पूर्ण रूप से मनोविज्ञान सम्मत है।

इसी प्रकार चतुर्थ श्रेणी में उल्लिखित दोहे, सोरठे भी कवि की अनुभूति के प्रकाश रूप है।

कदाचित् कहने की आवश्यकता नहीं कि वैर और वैरी, दोनों का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कवि ने बौद्धिक जगत में आकर मनुष्य के जीवन के इस असुन्दर और अकल्याणकारी रूप का निरीक्षण किया। और असुन्दर को सुन्दर में और अकल्याणकारी को कल्याणकारी स्वरूप देने के लिये उसे स्पष्ट कर दिया। इसी कारण कवि का प्रत्येक दोहा अथवा सोरठा एक-एक प्रकाशदीप की भाँति हो सकता है। जो व्यक्ति को पारस्परिक वैर रूपी अंधकार से निकाल कर एकता, मित्रता और प्रेम के प्रकाश में आने के लिये पथ प्रदर्शन करता है। कवि की इस नीति मंजरी में उसके व्यक्तिगत जीवन और निजी सुख-दुख का समाज और मानवता की जीवनगत संवेदनाओं और सुख-दुख के साथ समन्वय और सामंजस्य करने का सुव्यक्त प्रयास है।

१४४—कविराजा बाँकीदास की नीति मंजरी में नीतिपूर्ण अथवा नीत्यात्मक दोहे हैं जैसा कि अन्यत्र निर्देश किया जा चुका है। इनका काव्य रूप मुक्तक के ढंग का है किन्तु मुक्तक की दो प्रमुख विशेषताओं में से केवल स्वतः पूर्णता प्राप्य है रसोद्रेक की समर्थता नहीं। इस रचना के दोहों सोरठों में कवि के अनुभूति की मार्मिक अभिव्यंजना संभव हो सकी है। और वैर के भाव की अभिव्यंजना की दृष्टि से बाँकीदास अपनी इस रचना में पूर्णतया सफल हो सके हैं यह वस्तु विवेचन से सुस्पष्ट है। वैर और वैरियों से सम्बन्धित कवि की उक्तियाँ स्पष्ट, वास्तविक और मर्मस्पर्शिनी हैं। वैर की नीति से सम्बन्धित उक्तियों के तीखेपन को देखकर ही कदाचित् मनोहर शर्मा ने भावावेश में आकर यहाँ तक कह दिया है कि उनके 'दोहों में कविराजा का चाणक्य रूप' है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि कविराजा बाँकीदास की नीति मंजरी उनके सांसारिक ज्ञान, उनके मानव चरित्र के सूक्ष्म अध्ययन, उनके व्यवहार कौशल एवं नीति नैपुण्य की परिचायक है तथा साथ ही उपदेश एवं शिक्षाप्रद भी। उसमें असुन्दर एवं अशिव के प्रति असंतोष है और सुन्दर एवं शिव के निर्माण की परिकल्पना।

धवल पचीसी[1]

परिचय

१४५—यह रचना कविराजा बाँकीदास द्वारा विरचित है तथा यह नीति मंजरी के ५ वर्ष पश्चात् अर्थात् सन् १८२६ ई० की लिखी हुई है जैसा कि उनके नीचे उद्धृत किये गये दोहे से प्रकट है—

अट्ठारै तैयाँसियै (१८८३) चैत मास नभ स्याम।
रूपक बंक वखावियौ, धवल पचीसी नाम ।।[2]

जैसा कि रचना के नाम से प्रकट है इसमें 'धवल' अर्थात् श्वेत वर्ण के बैल से सम्बन्धित दोहे हैं। इन दोहों की संख्या इसके नामानुकूल २५ न होकर ३४ है। दोहों की संख्या में ६ दोहों की अभिवृद्धि क्यों है यह वस्तुतः स्पष्ट नहीं है।

प्रथम दोहे में बाँकीदास ने राम अथवा विष्णु, रत्नाकर, वसुधा, शेष को धारण करने वाले शिव के वाहन धवल की स्तुति किया है और द्वितीय में धवल जो कि गणेश के पिता शिव का भार सम्भार करता है, के रखने वाले के लिये अथवा स्वयं के लिये गणेश के नाम स्मरण की अनावश्यकता का निर्देश कर परोक्ष रूप में उनका स्मरण किया है। इस प्रकार प्रारंभ के दो दोहों में कवि ने आशीर्नमस्क्रिया और वस्तुनिर्देश किया है।

कवि कर्म की प्राथमिक क्रिया समाप्त कर वह अपने निर्दिष्ट विषय से संबंधित काव्य रचना करता है। सामान्य रूप से धवल पचीसी के समग्र दोहों का विषय श्वेत-वर्ण का बैल है। काव्य में इस प्रकार के विषय का वर्णन बाँकीदास की अपनी मौलिकता है। इस प्रकार की रचना की मूल प्रेरणा मोटे तौर पर बैल की उपयोगिता ही प्रतीत होती है किन्तु कवि ने केवल श्वेतवर्ण के बैल को ही उपयोगी स्वीकार किया है अन्य वर्णों के बैलों को नहीं अतएव निश्चय ही श्वेत वर्ण के बैल को वर्ण्य विषय के रूप में निर्वाचित करने के पीछे विशिष्ट प्रयोजन का होना परिलक्षित होता है। यह विशिष्ट प्रयोजन प्रतीकात्मक रूप में सद्गुणों एवं सद्गुणालंकृत पुरुषों की अभिव्यंजना है।

१—बाँकीदास ग्रन्थावली भाग १ में संकलित पृ० ३७-४५, प्रकाशक ना० प्र० स० काशी।

२—धवल पचीसी दो० सं० ३४।

१४६—धवल पचीसी में संकलित सर्वाधिक दोहे धवल के महत्व से संबंधित है[1]। इनमें धवल का अनमोल होना, समृद्धि प्राप्ति का साधन होना, भार वहन करने के उपयुक्त होना, धनी और धनी के प्रांगण की शोभा होना, अपने बाड़े (पशुशाला) की शोभा होना, विक्रम की वस्तु न होना, त्याज्य न होना, धनी के भाग्य का प्रतीक होना, साक्षात् धर्म द्वारा धारण किया जाना, शिव का वाहन होना, कामधेनु का वंशज होना, तथा जोतने के लिये अनिवार्य होना वर्णित है।

दूसरे प्रकार के दोहे वे हैं जिनमें कि धवल का गुण वर्णित है[2]। वह कैसा भी पानी और कीचड़ क्यों न हो, बिना बाधा के अग्रसर होता है। कंकड़, कीचड़, और रेत में क्रमशः ऊँट, हाथी और घोड़ा थक जाते हैं, किन्तु वह सर्वत्र समान रूप से गतिमान रहता है। वह अनुपमेय और स्तुत्य है, क्योंकि वह भार की चिन्ता न कर उसके वहन का कर्तव्य पालन करता है। औषधा (गाड़ी के थीटे के नीचे भार संभालने के लिये लगी हुई मोटी लकड़ी) चाहे टूट जाये और पहिये पाताल में धंस जाँय किन्तु धवल के रहते हुये सागड़ी (गाड़ीवान) को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रहती। केवल श्वेत वर्ण बैल ही धवल कहलाने का अधिकारी है, क्योंकि वह सर्वगुण संपन्न है, काला बैल धवल कहलाने का अधिकारी नहीं है। मोटे कंधों वाला धवल कीचड़ के गढ़े से भी गाड़ी को निकाल देता है। अस्तु, धवल संयुक्त रथ का सागड़ी निश्चित रहता है। और राम जिसके शृंगों की लज्जा की रक्षा करते हैं, वह धवल धर्ममान कर आगे बढ़ता है।

तीसरे प्रकार के दोहों में धवल की प्रशंसा की आकांक्षा का उल्लेख है।[3] यदि सागड़ी वयोवृद्ध हो और अनुभवी होने के कारण विरद कथन का ढंग जानता हो तो शृंगालु धवल सौ गुना बल प्रदर्शन करता है। यदि 'म्हारो बाप' कहकर धवल की प्रशंसा की जाय तो वह बिना इधर उधर किये सुगमता से भार समेत मरुस्थल के पार कर देता है। यदि धवल से भार वहन कराना हो तो उसे 'वापो धवला' और जीवावणहार' आदि प्रशंसात्मक एवं उत्साहवर्धक संबोधनों से सुशोभित करने की आवश्यकता होती है। बौहलिया (अल्प वयस्क बैल) असहनीय आर (बैलगाड़ी हाँकने की लकड़ी विशेष जिसके अग्रभाग में लोहे की कील लगी होती है) के लगाये जाने पर सिर धुनकर भूमि पर बैठ जाता है, वह तनिक भी गर्जन नहीं सुनना पसंद करता। उसे चलाने के लिये विरद कथन की अपेक्षा होती है।

चौथे प्रकार के दोहे वे हैं जो कि अल्प संख्यक हैं अथवा अधिक स्पष्ट शब्दों में किसी विषय पर दो अथवा एक हैं अस्तु विषय की दृष्टि से इनका वर्गीकरण संभव

१—धवल पचीसी दो० सं० ६, १५, १७, २४, २५, २७-३०, ३३।

२—वही ३-८, १४, २३।

३—वही १०-१३।

नहीं हो सका है और इन्हें एक ही श्रेणी के अन्तर्गत रखा गया है। इनके विषय धवल की महानता, प्रशंसा, बौहलिया की प्रकृति, उसके उपयोगी होने के शारीरिक चिह्न, माराधिक्य के कारण डाका पड़ना, धवल का वृद्धत्व तथा शिक्षा है। धवल की महानता इस बात में है कि यह बुरे गाड़ीवान (खाड़ेती) के अपशब्द और आर को सहन कर लेता है क्योंकि वह जानता है कि उनके प्रयोग से खाड़ेती ही बुरा होगा, वह नहीं (दो० सं० २०) और कुसागड़ी के गाड़ी में अधिक भार रखने पर भी वह धैर्य और शान्ति से अपने कर्तव्य का निर्वाह करता है (दो० सं० २१)। धवल की प्रशंसा में कवि कहता है कि धवल संयुक्त रथ रणस्थल में सर्वाधिक सुशोभित होता है (दो सं० १६) और कोई यह कहे कि धवल भार वहन नहीं करता, यह अविश्वासनीय है (दो० सं० २२)। बौहलिया की प्रकृति के सम्बन्ध में कवि का कथन है कि वह सावन में, जब कि अन्य पशु हरी घास खाकर तृप्त हो जाते हैं, उदास रहता है (दो० सं० १८)। बछड़े के शृंगों का स्फुरण उसके उपयोगी होने की सूचना है (दो० सं० २६)। रथ में पहाड़ के सदृश भार रख दिया गया जिनके कारण धवल थकित गति से चलता रहा और डाका पड़ गया (दो० सं० ३१)। धवल अपनी तरुणावस्था में कन्धों के सहारे कीचड़ के गढ़ों से भी गाड़ी खींच देता था किन्तु अब वह वृद्ध हो गया है, भला परमात्मा से कैसे बल प्रयोग द्वारा पार पाया जा सकता है (दो० सं० ३२)। और अन्त में, धवल से शिक्षा ग्रहण करने के निमित्त कवि मनुष्य को संकेत करतें हुये कहता है कि उसे भी धवल के सदृश मनसा, वाचा, कर्मणा अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये (दो० सं० १६)।

आलोचना

धवल से सम्बन्धित महत्व और गुण के दोहों द्वारा बाँकीदास ने उसके विभिन्न प्रकार के उपयोगों की ओर संकेत किया है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत जैसे कृषि प्रधान देश में, जहाँ कि विस्तृत मैदानों को जोतने के लिये केवल वृषभों का प्रयोग किया जाता है, उनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में दो मत हो ही नहीं सकते। इस दृष्टि से मनोहर शर्मा का कथन 'बाँकीदास ने बैल को अपने काव्य का विषय बनाया, सचमुच कविता को उन्होंने अनुग्रहीत किया,[1] सर्वथा उपयुक्त है। तीसरे प्रकार के दोहे कवि के पशु मनोविज्ञान के समझने की सामर्थ्य के परिचायक है। मनुष्य ही नहीं पशु भी दूसरों का स्नेह चाहते हैं। और जब वे दूसरों का उपकार करते हैं, उनकी सेवा करते हैं तो उसके उपलक्ष में और कुछ नहीं, यदि केवल

१—राजस्थान साहित्य मई १६५४, प्रकाशक-साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर।

सराहना की आशा करते हैं तो कम से कम वह तो उन्हें प्राप्य होना ही चाहिये। प्रशंसा और पूजा से तो देवता और ईश्वर भी, कहा जाता है, प्रसन्न हो जाते हैं फिर धवल यदि उसकी कामना करें तो आश्चर्य क्या है। वस्तुतः इसके पुनरावृत्ति की अपेक्षा नहीं, कि धवल प्रशंसनीय है और महान् है। धवल का साहस, शक्ति, धैर्य, सहनशीलता, उदारता और परिश्रम प्रभृति अनेक गुण मनुष्य के लिये अनुकरणीय हैं।

१४७—बाँकीदास कृत धवल पचीसी एक सर्वथा नवीन विषय की रचना है। इसमें कवि ने अत्यन्त मनोयोग एवं सूक्ष्मता के साथ स्वानुभूति का निरूपण किया है। धवल विषयक यह रचना लौकिकता से सम्बन्धित है किन्तु कवि ने अपने चिंतन एवं मनन द्वारा यत्र तत्र उसे अलौकिकता से भी अनुरंजित करने का प्रयास किया है। काव्य रूप की दृष्टि से कवि की इस रचना को स्फुट काव्य के अंतर्गत स्थान देना समीचीन है क्योंकि इसके दोहे वर्णनात्मक होने के साथ ही शिक्षा मूलक भी हैं। मुक्तक काव्य की दृष्टि से इन दोहों में स्वतः पूर्णता और भावाभिव्यञ्जना तो अवश्य है किन्तु अन्य आवश्यक विशेषता 'रसचर्वणा' का अभाव है। काव्यगत विशेषताओं की दृष्टि से इस रचना की एक विशेषता यह भी है कि कवि ने इसके प्रत्येक दोहे को अलंकार द्वारा सुशोभित किया है[1]।

सच तो यह है, कि कवि की यह रचना डिंगल साहित्य के लिये एक अनोखी और नवीन देन है।

१—अलंकारों के लिये तत्सम्बन्धी अध्याय देखिये।

अध्याय २

डिंगल पथ साहित्य का विषयानुसार विवेचन

१४८—आदरणीय न्यायाधीश श्रीमान आशुतोष मुखोपाध्याय के कथनानुसार 'यह संपूर्ण साहित्य हस्तलिखित ग्रंथों में है तथा यह समग्र राजपूताना में विस्तृत है। यह जानना सदैव ही असंभव रहा कि इसका विस्तार कितना है।........ इस साहित्य का समय ईसा की १४ वीं शती से लेकर अद्यावधि कुल ५ अथवा ६ शतियाँ है किन्तु यह बिखरे हुये दोहों में है जो कि आरम्भ में मौखिक परम्परा द्वारा संचित था और केवल तुलनात्मक दृष्टि से वर्तमान समय में लिपिबद्ध किया गया है हमारे पास प्राचीन लिखित सामग्री है जो कि और भी अधिक सुदूर भूतकाल से संबंधित है'[१]।

सर आशुतोष मुखोपाध्याय का ऊपर उद्धृत अवतरण आज भी लगभग ज्यों का त्यों लागू होता है। अब तक जो कुछ भी साहित्य उपलब्ध हो सका है वह विषय के अनुसार अधोलिखित ढंग से विभाजित किया जा सकता है।

क. प्रशंसात्मक अथवा सर (या विसर) काव्य

ख. वीर काव्य

ग. शृंगार काव्य

घ. भक्ति काव्य

ङ. रीति काव्य

और च. इतर काव्य

क. प्रशंसात्मक अथवा सर (या विसर) काव्य

विवेचन

१४९—सर (प्रशंसात्मक) और विसर (निंदात्मक) कोटि के काव्य की रचना राजस्थान के कवियों ने सर्वाधिक मात्रा में किया है। इस प्रकार के पद्य साहित्य के सृजन का श्रेय प्रधान तथा चारणों को तथा उनके अतिरिक्त भाट, राव, मोतीसर, और ढाढी जाति के काव्यकारों को है। काव्यकार अपने आश्रयदाता

१—सर आशुतोष मुखोपाध्याय का सोसाइटी के समक्ष सभापति के पद से भाषण।

अथवा प्रशंसा पात्र की वीरता, उदारता, दयालुता, दानशीलता का अवसरानुकूल निवेदन करते थे। चूँकि यह काव्य रचना प्रशंसा पात्र को प्रसन्न करने के दृष्टिकोण से की जाती थी अतएव इन रचनाओं का अत्युक्तियुक्त होना संदेह रहित नहीं है। ठीक यही स्थिति निंदात्मक पद्य साहित्य के साथ भी समझी जा सकती है। इस संदर्भ में अत्युक्ति युक्त शब्द के भाव को अधिक स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा। अत्युक्ति युक्त का आशय यह नहीं है कि किसी प्रशंसात्मक अथवा निंदात्मक रचना में की गई प्रशंसा अथवा निंदा निराधार और निस्तत्व होती थी वरन् उसकी पृष्ठिभूमि में अल्पाधिक रूप में वास्तविकता सन्निहित होती थी। कुछ उदाहरणों द्वारा इस कथन की पुष्टि कर देना अधिक समीचीन होगा।

१४६—बीठू सूजों कृत छंद राय जैतसी के अनुसार राव जैतसी ने सन् १५३४ ई० में कामरान को पराजित किया था। इस सम्बन्ध में डा० टेसीटरी लिखते हैं कि 'प्रश्न यह है कि क्या कामरान ने भटनेर और बीकानेर के आक्रमण का नेतृत्व व्यक्तिगत रूप में किया था। कविता का उदारतापूर्वक भावार्थ करने पर यह प्रतीत होगा कि उसने ऐसा किया था। किन्तु इस प्रकार के मामले में उदारतापूर्ण भावार्थ को ग्रहण करना प्रारम्भ हो सकता है क्योंकि शत्रु के महत्व को बढ़ा चढ़ा कर कहने के लिये न केवल उसकी संख्या की वृद्धि करना वरन् सेनानायक की उपाधि और शक्ति को भी बढ़ा कर बताना चारणों का सामान्य अभ्यास है। इस प्रकार यदि किसी राजपूत सरदार ने अकबर के समय में उसकी आधीनता स्वीकार करने के लिये उसकी भेजी हुई एक सेना को पराजित किया था तो नियम की भाँति राजपूत सरदार के चारण उसको अकबर को पराजित करने वाला कह कर प्रशंसा करते हैं। हम नहीं जानते हैं कि हमारी कविता के साथ भी यह वस्तु नहीं है। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि बाद की बीकानेरी परम्परा ने राव जैतसी की कामरान पर विजय के वास्तविक सत्य को अतिरंजित किया हो अथवा भ्रमात्मक ढंग से उपस्थित किया हो[1]।

ऊपर के उद्धरण से प्रकट है कि बीठू सूजा अथवा उसके समसामयिक अज्ञात नाम[2] कवि ने राव जैतसी के विजय के सम्बन्ध में चाहे जितनी भी अतिरंजना क्यों न किया हो, परन्तु उनकी विजय का उल्लेख काल्पनिक अथवा नितान्त निस्सार नहीं है। डा० टेसीटरी के ही शब्दों में 'यह वास्तविकता कि मुसलमान इतिहासकार बाबर के पुत्र के इस छोटे से दुर्भाग्यपूर्ण दुस्साहस का उल्लेख भी नहीं करते, केवल कविता के मूल्य की अभिवृद्धि करता है जो कि इस प्रकार भारतीय

१—छं० रा० जै० भू० पृ० १२-१३।
२—रा० जै० छं० की भू० पृ० ११।

इतिहास में एक छोटे से रिक्त स्थल की पूर्ति करने के सम्मान का अधिकार प्राप्त कर सकता है'[1] । किन्तु इसके साथ ही इस सम्बन्ध में वास्तविकता और अत्युक्ति के क्षीर नीर विवेचन की समस्या शेष रह जाती है।

१५०—प्रशंसा के प्राधान्य का दूसरा उदाहरण हम विरुद्ध छिहत्तरी से देते हैं। विरुद छिहत्तरी का मुख्य विषय महाराणा प्रताप की प्रशंसा या विरद का वर्णन है। दुरसा आढा ने अपनी इस रचना में अकबर के स्वतंत्रता प्रिय विपक्षी के अनेक गुणों का उल्लेख कर उसकी प्रशंसा किया है। कवि के कथनानुसार प्रताप पुण्यावतार था (छं० सं० २)। वह अकबर के समक्ष नतमस्तक नहीं होता था (छं० सं० ८)। तलवार चलाना और दान देना उसके कुल की रीति थी। (छं० सं० ६)। और वह इस कुलरीति का सदैव निर्वाह करता था (छं० सं० ६, ११-१५)। वह पराक्रमी (छं० सं० १८), पुरुषार्थी (छं० सं० १६), शत्रु भक्षक (छं० सं० २०), अभिमानी (छं० सं० २१), धर्म रक्षक (छं० सं० २२) और अकबर के हृदय को सालने वाला था (छं० सं० २६)। वह पृथ्वी को माता तुल्य मानता था (छं० सं० ३१)। उसे अपने प्राणों का मोह न था (छं० सं० ३२)। उसमें अकबर के अभिमान और दर्प को चूर्ण करने की क्षमता थी (छं० सं० ३३)। वह युद्ध का रसिक था (छं० सं० ३४) और मृत्यु को पराधीनता से श्रेयस्कर समझता था (छं० सं० ३५)। वह गम्भीर था और युद्ध में भी अविचलित रहता था (छं० सं० ३८, ३०)। अपनी स्वाधीनता को बनाये रखने के लिये उसे कंद मूल खाना पड़ा, स्त्री के साथ दर दर भटकना पड़ा, भूखा सोना पड़ा, किन्तु उसने हँसते-हँसते यह सब विपत्तियाँ सहन किया (छं० सं० ५१, ५२, ५४, ६०)। उसके व्यक्तित्व में दानी, योगी और वीर का अद्भुत सम्मिश्रण था। संक्षेप में वह गुणों का समुद्र, दूसरों के गुणों का ग्राहक (छं० सं० ६७) और धर्म को शरण देने वाला था (छं० सं० ६८) तथा उसके गुणों का यश चारों दिशाओं में प्रसारित था (छं० सं० ५६, ६०, ६२)।

महाराणा प्रताप के जिन गुणों का वर्णन कवि ने अपनी रचना में किया है, कहना न होगा कि वह वास्तविक है। महाराणा प्रताप की आन्तरिक प्रकृति का यह विवेचन निस्संदेह स्वाभाविक है। इतिहास ग्रंथ का साधारण से साधारण ज्ञाता भी निस्संकोच इस मत का समर्थन कर सकता है। इतिहास ग्रंथ स्वयं इसके प्रमाण हैं। वस्तुतः इस सम्बन्ध में अत्युक्ति और अतिरंजना का कोई स्थान नहीं है।

साथ ही दुरसा आढ़ा ने जहाँ अकबर का विरोधी चरित्र दिखाया है, वह भी इस सम्बन्ध में अवलोकनीय है। कवि ने अकबर को पापावतार, कुटिल, अनीति-पूर्ण अज्ञानी और मूर्ख आदि दुर्गुणों से आभूषित किया है (छं० सं० २, १२,

---

१—रा० जै० छं० की भू० पृ० १।

१८)। ये दुर्गुण कवि के भावोद्गारों के द्योतक हैं। इनमें अकबर का वास्तविक रूप कहीं भी नहीं है। परन्तु इसके अतिरिक्त जिन स्थलों पर कवि ने दिखाया है कि 'अकबर का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। सभी राजा महाराजा उसके सम्मुख नतमस्तक होते थे। किन्तु इससे अकबर को पूर्णरूप से संतोष नहीं था। उसे हर्ष नहीं था और जहाँ तक प्रताप का सम्बन्ध था उसका रणकौशल और युद्ध नीति असफल सिद्ध हुई' (छं० सं० १६, ४८, ७२, ५६) वास्तव में कवि की इन अनुभूतियों के पीछे वैज्ञानिकता है। ये अनुभूतियाँ सत्य के निकट हैं। भारत जैसे विशाल देश का शासक होकर भी वह महाराणा प्रताप को अंत तक वंश में करने में अशक्त रहा, यह उसके पक्ष में अपमानजनक था। और इस दृष्टि से कवि का अकबर का चित्रण यथार्थ है।

दुरसा आढा के अनुसार

चारण वरण चितार, कारण लष महमाँ करी।
धारण की जै धार, परम उदार प्रतापसी ॥७४॥

क्षत्रियों का यथार्थ वर्णन करना चारणों का जातिगत धर्म है और इसी कारण उसने प्रताप के द्वारा धारणीय महिमा का गान किया है। कवि के कथनानुसार इस प्रशंसा में चाटुकारिता नहीं है—

करै कुसामद कूर, करै कुसामद कूकरा
दुरस कुसामद दूर, पुरस अमोल प्रताप सी।

स्पष्ट है कि कवि चाटुकारों को झूठा और श्वान तुल्य समझता था। अस्तु, उसने जो कुछ भी प्रताप की प्रशंसा में कहा है वह चाटुकारिता नहीं वरन् सत्य है। इस प्रशंसा की पीठिका में कोई लोभ अथवा महत्वाकाँक्षा न थी। कवि ने अपने आदर्शों के प्रतिनिधि के रूप में महाराणा प्रताप का प्रत्यक्ष अनुभव किया अतः उनके यश को अमर एवं अक्षुण्ण रखने के निमित्त 'छिहत्तरी' में उसका यथातथ्य विरद प्रकाशित कर दिया।

१५१—तृतीय प्रशंसा प्रधान ग्रन्थ के रूप में हम कविया करणीदान के विरद शिणगार का उल्लेख करेंगे। विरद शिणगार ग्रंथ का विषय जोधपुर के महाराजा अभयसिंह का यश वर्णन तथा उनके यश को चमत्कृत करने वाली विजय का वर्णन है जिसमें कि उन्होंने दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के आज्ञानुसार गुजरात के मुगल सूबेदार शेर बिलंदखाँ को अहमदाबाद में पराजित किया था। इस ग्रंथ की प्रशंसात्मकता को समझने के पूर्व प्रसंगवश इसके रचना के कारण को भी समझना सर्वथा वांछनीय है, अस्तु संक्षेप में उसका भी उल्लेख कर देना अनापेक्षित न होगा।

कविया करणीदान ने विरद शिणगार की रचना के पूर्व एक वृहद् ग्रंथ की रचना किया था जिसका नाम 'सूरज प्रकाश' है। 'सूरज प्रकाश' में कवि ने महाराजा के अनेक पूर्वजों से लेकर महाराजा अभय सिंह तक का यश वर्णन किया था। कवि ने महाराजा से उस ग्रन्थ के सुनने के लिये प्रार्थना किया। महाराजा ने ग्रन्थ के वृहद् कलेवर तथा अपने व्यस्त जीवन को देखते हुये करणीदान से उसका संक्षिप्त रूपांतर' प्रस्तुत करने को कहा जिसका परिणाम 'विरद शिणगार' के जन्म के रूप में प्रतिफलित हुआ। चूँकि रचना को महाराजा के समक्ष उपस्थित करना था अतः कवि ने उनकी विरदावली के पक्ष का विशेष ध्यान रक्खा था।

विरद शिणगार में हमें चारणोचित विरद कथन के वास्तविक रूप के दर्शन होते हैं। कवि ने किस प्रकार के विशेषणों का प्रयोग अपने ग्रन्थ नायक एवं प्रशंसा पात्र के लिये किये हैं, इस ग्रन्थ में यह विशेषतया लक्षणीय है। ग्रन्थ के प्रारम्भिक चार छन्दों में ही हमें कवि की प्रशंसा करने की शैली का परिचय मिल जाता है जिनमें कि उसने महाराजा को अवसान सिद्ध, ईश्वर का अंश, प्रातःकालीन सूर्य के सदृश तेजस्वी, सुन्दर और प्रवीण दानी और शूर, छत्तीस कुलों का मुकुट, बहत्तर कलाओं और बत्तीस लक्षणों से युक्त, वर्णाश्रम धर्म और वेदों की मर्यादा, षट्भाषा और नौ रसों का मर्मज्ञ, विद्या के अथाह सागर की थाह लेने वाला, छत्तीस रागों का ज्ञाता और चारों यशों से समृद्ध, जौहरी की भाँति चतुर्दश विद्याओं के रत्नों का पारखी, और नरलोक का इन्द्र बताया है।

इस रचना में अहमदाबाद के युद्ध के अतिरिक्त लगभग समस्त छंदों में महाराजा अभय सिंह का कीर्तिगान किसी न किसी रूप में है जिनमें से कुछ अंशों का संकेत संक्षेप में किया जाता है।

महाराणा अभयसिंह के आक्रमण करते ही एवं तलवार के म्यान से बाहर निकालते ही नारियों के सुहाग लुट गये थे। इनकी धाक से दिल्ली और आगरा प्रकम्पित हो गये थे। इन्होंने शाहजहाँपुर को धूलि में मिला दिया था (छन्द सं० ८)। आतंक के कारण इनको धोकलसिंह नाम से विभूषित किया गया था (छं० सं० ९)। हासंग ने इनसे भयभीत होकर इन्हें अनेक अमूल्य रत्न और भूमि समर्पण किया था (छं० सं० ११)। इनके तेज के जाग्रत होते ही समस्त राजा इनके अनुशासन में आ गये थे। ये नमस्कार और वैर को कभी विस्मरण नहीं करते थे (छं० सं० १३) जो इन्हें नमस्कार करता था उसे वे प्रचुर धन देते थे और इन्द्र सिंह ने इनसे वैर किया था (छं० सं० १४) जिससे कि इन्होंने उसके दुर्ग को घेर लिया था और नागाण (कदाचित् नागौड़) हस्तगत कर लिया था। (छं० सं० १४)। मुहम्मदशाह के कहने पर ये अहमदाबाद गये थे (छं० सं० २७-३५) और

चुनौती देकर उसे युद्ध में पराजित किया था (छं० सं० ३५-११६)। यह विजय इन्होंने नौबत बजाकर प्राप्त किया था। कवियों द्वारा इस विजय की प्रशंसा किये जाने पर इन्होंने उनको हाथी, घोड़े और लक्ष प्रसाद आदि से पुरस्कृत किया था (छं० सं० ११७)। इस विजयोत्सव को इन्होंने बड़े धूमधाम के साथ मनाया था (छं० सं० ११८-१२२)। अनेक राजाओं ने इनकी अधीनता को स्वीकार किया था और सभी इनकी धाक मानते थे (छं० सं० १२२-१३१)। इस प्रकार महाराजा ने बहुत यशोपार्जन किया जो कि विश्व विख्यात है (छं० सं० १३२)।

इसमें सन्देह नहीं कि गुण कथन की उपरोक्त बानगी में चाटुकारिता स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होती है। किन्तु इस चाटुकारिता को आँकते समय यह नहीं भूलना चाहिये कि कवि महाराजा का आश्रित था। व्यक्तिगत परिस्थितियों के बंधन के कारण व्यावहारिक दृष्टि से उसका इस अत्युक्ति एवं अतिरंजना पूर्ण प्रशंसा कथन की शैली को अपना सर्वथा उपयुक्त था चाहे वह आदर्श की दृष्टि से उचित भले ही न रहा हो। साथ ही यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि यह अत्युक्ति और अतिरंजना निपट निराधार अथवा थोथी नहीं थी वरन् उसके पीछे निश्चयात्मक सत्य और सार था। इतिहास गत महत्व से सम्बन्धित अध्याय में इस पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

१५२—विषय की दृष्टि से उपर्युक्त ग्रंथों के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सामान्यतः प्रशंसात्मक काव्य आश्रयदाताओं से सम्बद्ध होने के कारण नरकाव्य अथवा चरित्रकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। इस प्रकार के लिखे गये काव्य का वातावरण सामंत प्रथा के ऐश्वर्य के अनुकूल था। इस कोटि के कविता की प्राण प्रतिष्ठा का मूल स्रोत आश्रयदाताओं की प्रशंसा थी। वस्तुतः प्रशंसात्मक काव्य के पृष्ठपोषक चाटुकारिता में रुचि रखने वाले राजस्थान के राजा महाराजा आदि थे और दुरसाजी आढा जैसे आदर्श कवियों को छोड़कर जो कि अपवाद स्वरूप थे, उन्हीं के द्वारा चारण और भाट कवियों की इन रचनाओं को प्रोत्साहन और प्रश्रय उपलब्ध था। इस प्रकार के काव्य का लगभग जनता से कोई संपर्क न था। सच तो यह है कि जन संपर्क का अभाव ही आगे चलकर समग्र डिंगल पद्य साहित्य के पतन का प्रमुख कारण सिद्ध हुआ।

सच तो यह है कि इस प्रकार की काव्य रचना का दृष्टिकोण पूर्णतया लौकिक था अतएव इसमें लोक कल्याण की भावना अथवा सूक्ष्म आध्यात्मिक भावों की अभिव्यंजना के अन्वेषण की चेष्टा व्यर्थ है। इस ढंग की रचना का ध्येय भी मुख्यतया लौकिक था अथवा स्पष्ट शब्दों में धन, सम्मान और यश लाभ करना था। अस्तु, इस प्रकार की अधिकांश कृतियों अथवा स्फुट कवितायें कभी भी जन साधारण के रुचि

की वस्तु न हो सकी। ये रचनायें केवल राजकीय पुस्तकालयों की शोभावर्धक थी। फलतः राजस्थान जैसे युद्ध प्रधान क्षेत्र की सतत परिवर्तनशील राजनैतिक परिस्थितियों के वात्याचक्र में न केवल डिंगल वरन् सम्पूर्ण राजस्थान के साहित्य का एक बड़ा भाग लुप्त हो गया।

१५३—प्रशंसात्मक काव्य की चर्चा करने के पश्चात् हम अब विसर अथवा निंदात्मक काव्य का परिचय देंगे। प्रकृति ने तुलनात्मक मूल्यांकन के लिये विरोधात्मक युग्म तत्वों की सर्जना किया है यथा सत्य असत्य, शिव अशिव, सुन्दर असुन्दर। प्रशंसा और निंदा भी इसी प्रकार के विरोधी युग्म, तत्व हैं, कदाचित् यह कहने की वस्तु नहीं है। इसी सत्य के अनुसार डिंगल के कवियों ने जहाँ एक ओर प्रशंसा प्रधान अथवा सर काव्य की रचना किया है, वहीं दूसरी ओर विसर अथवा निंदा प्रधान काव्य की भी। दुरसा आढ़ा कृत छिहत्तरी सर और विसर काव्य के सामंजस्य का सुन्दर उदाहरण है। विसर काव्य को अधिक सुस्पष्ट करने के विचार से यहाँ हम तद्विषयक प्रतिनिधि कवि बाँकीदास की रचनाओं का विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

कविराजा बाँकीदास की रचनाओं का विषयानुसार वर्गीकरण करने से विदित होता है कि उन्होंने एक दर्जन के लगभग ऐसी रचनायें लिखा है जिनमें निंदात्मकता का प्राधान्य है। इन रचनाओं के नाम वैसकवार्ता, मावड़िया गिजाज, कृपण दर्पण, चुगल मुख चपेटिका, वैसवार्ता, कुकवि बत्तीसी, कायर बावनी, सुजस छत्तीसी, सन्तोष बावनी, वचन विवेक पच्चीसी और कृपण पचीसी हैं। इन रचनाओं के नाम करण दो दृष्टियों से किये गये हैं यह नामों को ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट है १. वर्ग अथवा जातिगत और २. गुण अथवा दुर्गुण सम्बन्धी। किन्तु रचनाओं के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि ये सभी रचनायें जाति अथवा वर्ग विशेष से सम्बन्धित हैं। इसके विपरीत, विरुद छिहत्तरी व्यक्तिगत है जिससे निंदात्मक काव्य के दो वर्गों में विभाजित होना...प्रथम व्यक्तिगत और द्वितीय जाति अथवा वर्ग गत, प्रकट हैं।

बाँकीदास के गुणों के नाम पर आधारित रचनाओं में प्रशंसा के साथ निंदा प्रधान काव्य का सम्मिश्रण है। शेष उनकी सभी रचनायें पूर्णतया निंदात्मक है। वैसक वार्ता में कविराजा ने वेश्याओं, वेश्या गामियों और वेश्या प्रसंग से हानि आदि का वर्णन किया है। पुरोहित हरिनारायण के शब्दों में 'अपनी सती साध्वी पत्नियों से नाता और प्रेम तोड़कर वेश्याओं, पातरों और गोत्रियों से प्रेम बाँधने वाले, अपने धन, धर्म, लोक लज्जा, पुरुषार्थ और संसार यात्रा भ्रष्ट करने वाले, कामाँध, मदोन्मत्त धनियों, सरदारों, अमीरों, राजाओं और जेंटिलमैनों के लिये बाँकीदास का यह सुन्दर लघु काव्य एक रामबाण नुस्खा है'। मावड़िया मिजाज में कवि ने स्त्रैण पुरुषों के चित्र खचित किये हैं तथा उन्हें उपहासास्पद सिद्ध

किया है। कृपण दर्पण तथा कृपण पच्चीसी (संदिग्ध रचना) में कृपणों की कपाल क्रिया की गई है। कवि ने कृपणों को अदातार, कंजूस, सूम, धनलोभी आदि नाम से भी आभूषित किया है। इसी प्रकार अन्य रचनाओं में बाँकीदास ने चुगलखोरों, लोभी और विश्वासघाती वैश्यों, कुकवियों, दासी पुत्रों, कायरों, का पुरुषों और अदातारों, असंतोषियों एवं लोभियों, अशुभ, अश्लील तथा असभ्य वाणी के प्रयोग करने वालों को आड़े हाथों लिया है।

१५४—निंदात्मक काव्य की मूल प्रेरणा, ऐसा प्रतीत होता है, कवियों के जीवन के व्यक्तिगत अनुभव अथवा नित्य के साथ उठने बैठने वालों के अनुभव थे। कहना न होगा, कि ये अनुभव प्रायः कटु हुआ करते थे। इन कटु अनुभवों के कारण वे व्यक्ति, अथवा वर्ग की काव्य के माध्यम द्वारा खरी आलोचना करते थे। इस आलोचना के द्वारा वे व्यक्ति, जाति अथवा वर्ग को उपहास का विषय बनाते थे जो कि कदाचित् स्वान्त: सुखाय था। व्यक्ति विशेष को लेकर लिखी गई रचनाओं का सामाजिक दृष्टि से कोई भी महत्व न था क्योंकि उसका सीधा सम्बन्ध कवि विशेष से होता था अस्तु निंदात्मक काव्य प्रणयन की यह परिपाटी पनप न सकी और तत्वहीन होने के कारण कालांतर में लुप्त प्राय हो गई है। किन्तु जाति अथवा वर्ग की निंदात्मक रचनायें तात्विक दृष्टि से लौकिक जीवन के लिये निस्संदेह महत्वपूर्ण थीं। उनके पीछे लोक कल्याण की भावना भी सन्निहित थी कारण, उसके द्वारा समाज के सुधरने की आशा थी। यद्यपि काव्य रचना का यह दृष्टिकोण प्रधानतया ध्वंसात्मक था किन्तु इसकी पृष्ठभूमि में सृजनात्मक का उन्मुक्त संकेत था। इस आलोचना के पीछे दुर्गुण विशेष अथवा तत्सम्बन्धी वर्ग विशेष के बहिष्कार का निर्देश था।

निंदात्मक काव्य की रचना करने वाले कवि 'का उद्देश्य प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में परहित साधन ही होता था। यह दूसरी बात है कि कवि विशेष का इस प्रकार का सुधारवादी दृष्टिकोण उत्तम और विकसित नहीं था किन्तु जहाँ तक सुधारवाद का सम्बन्ध है, यह मानने में किसी को आपत्ति न होना चाहिये, कि वह किसी भी प्रकार से कम सराहनीय न था।

प्रशंसात्मक और निंदात्मक दोनों प्रकार का काव्य पुस्तकों और बिखरे हुये स्फुट गीतों के रूप में उपलब्ध होता है। इसमें प्रथम प्रकार के प्रशंसात्मक और निंदात्मक पद्य साहित्य की उल्लेखनीय रचनाओं का संक्षिप्त विवरण आगे के पृष्ठों में अवलोकनीय है।

———

सर तथा विसर काव्य ग्रंथ

१५५—निरुद छिहत्तरी (प्रका०) यह रचना जोधपुर के धूंदला ग्राम निवासी चारण दुरसा आढा कृत है। इसकी रचना तिथि तो ज्ञात नहीं है किन्तु इस रचना के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह महाराणा प्रताप के जीवन काल में अर्थात् सन् १५६७ ई० के पूर्व लिखी गई थी। जब कि अकबर महाराणा से संघर्ष करते करते उन्हें अवश्य समझने लगा था।

इस रचना में ७६ सोरठों के अन्तर्गत महाराणा प्रताप का विरद वर्णित है। ग्रंथ का आरम्भ दुरसा जी ने ईश्वर वंदना से किया है और साथ ही उसमें वर्न्य विषय का भी निर्देश किया है (छं० सं० १) इस रचना के द्वारा अकबर की राजनीति तथा तत्कालीन हिन्दू राजाओं की पतितावस्था पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। दुरसा आढा स्वयं देश प्रेमी और स्वतंत्रता के भावों के समर्थक थे यही कारण है कि वह महाराणा की वीरता का वास्तविक मूल्यांकन करने में पूर्ण सफल हो सके। प्रताप की प्रशंसा करने में कवि ने अनपेक्षित अत्युक्तिपूर्ण विशेषणों का उपयोग नहीं किया है कारण उसे चाटुकारिता से विशेष घृणा थी (छं० सं० २८)। चाटुकारिता का अभाव काव्यकार की विशेषता है। इसके अतिरिक्त रस चर्वणा, स्वतः पैर्णता, अलंकारिता, सारल्य, स्पष्ट कथन, निर्भीकता और गुण ग्राहकता उसकी रचना की अन्य विशेषतायें हैं। रचना मुक्तक काव्य के रूप में है।

१५६—गुण रूपक अथवा गुण रूपक बंध (अप्र०)—यह ग्रंथ जोधपुर राज्य के चिड़िया ग्रामवासी केशवदास गाडण द्वारा निर्मित है। इसका र० का०

सोलह सै सम्मत हुओ जोगणपुर चालै।
समैंएकस्मियै मास काती वैडालै॥

के अनुसार सन् १६२४ ई० है। यह तिथि प्रु० प्र० जो० के संग्रहालय की दो प्रतियों में प्राप्य है। 'ग्रंथ की अनेक प्रतियाँ राजस्थान के पुस्तकालयों में यत्र तत्र मिलती हैं। यह एक वृहद रचना है जिसमें १००० से अधिक विभिन्न प्रकार के छन्द प्रयुक्त हुये हैं। ग्रंथ का विषय महाराजा गजसिंह के युद्ध, तीर्थयात्रा तथा ऐश्वर्य वैभव प्रभृति का वर्णन है।

१५५—गुण भाषा चित्र (अप्र०)—यह ग्रंथ हेम नामक कवि की कृति है। इसमें जोधपुर नरेश महाराजा राजसिंह के वीर चरित्र का वर्णन है[1]। ग्रंथ के

१—राजस्थान वाल्यूम १ संवत् १९९२...पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ का 'जोधपुर के राष्ट्रकूट नरेशों का विद्या प्रेम और दान शीलता' निबंध।

समस्त छंदों की संख्या ५६१ है[1] जिसमें अनेक प्रकार के छन्द हैं। ग्रंथ का रचना काल अनुमानतः सन् १६२४ ई० के आस पास है।

१५६—**अजीतसिंह चरित्र (अप्र०)**—इस ग्रंथ का रचयिता हरिदास भाट है। इसका रचना काल सन् १६४३ ई० के लगभग है[2]। जैसा कि नाम से प्रकट है, इसमें महाराजा अजीतसिंह का यश वर्णित है।

१५६—**राजप्रकाश (अप्र०)**—इस ग्रंथ का निर्माण कर्ता मेवाड़ के महाराणा राजसिंह का आश्रय पात्र राव किशोरदास है। ग्रंथ का रचना काल सन् १६६२ ई० है[3]। ग्रंथ के प्रारम्भिक ५६ छंदों में मेवाड़ के महाराणाओं की वंशावली प्रस्तुत की गई है जो कि महाराणा जगतसिंह तथा उनके पूर्व के मेवाड़ाधिपतियों से संबंधित है। अनंतर ग्रंथ के मूल विषय महाराणा राजसिंह के ऐश्वर्य, विलास और शौर्य आदि का उल्लेख है। इसमें अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है। छंदों की संख्या १३२ है[4]। पुस्तक साहित्य के अतिरिक्त इतिहास की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

१६०—**सगतसिंह रासो (अप्र०)**—यह ग्रंथ मेवाड़ के निवासी गिरधर आशिया द्वारा लिखित है। इस रचना का निर्माण काल सन् १६६३ ई० के लगभग है[5]। इसमें मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह तथा महाराणा प्रतापसिंह के अनुज शक्तिसिंह के चरित्र वर्णित हैं। रचना ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इसमें विविध प्रकार के छंदों का उपयोग हुआ है। छन्दों की संख्या ५०० है।

१५६—**वमय विलास (अप्र०)**—यह ग्रंथ पृथ्वीराज सांदू का रचा हुआ है। कवि महाराजा अभयसिंह का समकालीन था और अभयविलास में उसने उन्हीं के वीरतापूर्ण कृत्यों एवम् इतर गुणों का वर्णन किया है अतएव ग्रंथ का सृजन काल जोधपुर नरेश के शासन काल सन् १७२४-४६ ई० के मध्य होना संभवनीय है। सम्पूर्ण ग्रंथ ११०० से अधिक छंदों में लिखित है[6]।

१६०—**विरद शिणगार (प्रका०)**—यह रचना मेवाड़ राज्य के शूलवाड़ा ग्राम निवासी करणीदान कविया कृत है। इसका रचनाकाल सन् १७३० ई० है जैसा कि नीचे उद्धृत दोहे से प्रकट है—

१—पु० प्र० जो० की दो प्रतियाँ।

२—रा० भा० सा० पृ० २१०।

३—वही पृ० १६६।

४—वही पृ० १६६ तथा रा० हि० ह० ग्रंथ खो० भा० १ पृ० ११६। स० म० उ० की प्रति।

५—रा० भा० सा० पृ० १६०।

६—पुस्तक प्रकाश जोधपुर में संग्रहीत प्रति।

सत्रहसै सतियास सक, धुव अहमदपुर धाम।
वर कवि कर्ण बखाणकर, सुमटाँ तणाँ संग्राम ॥[1]

यह ग्रंथ १३८ छन्दों में समाप्त हुआ है जिसमें ३ दोहे—१ आरम्भ में तथा २ अन्त में, और १३५ पद्धरी छन्द प्रयुक्त हुये हैं। विषय की दृष्टि से इसमें जोधपुर नरेश महाराजा अभयसिंह का विरद वर्णन है जो कि ग्रंथ के नाम से स्पष्ट है तथा साथ ही इसमें उनके और गुजरात के सूबेदार शेर बिलंदखाँ के मध्य सन् १७३० ई० में अहमदाबाद में होने वाले युद्ध का उल्लेख है जिसमें कि अभयसिंह ने शेर बिलंदखाँ को पराजित किया था। अभयसिंह के जीवन चरित्र की दृष्टि से विरद शिणगार को करणीदान विरचित सूरज प्रकाश का संक्षिप्त संस्करण कहा जा सकता है। विरद शिणगार को सुनकर तथा उसकी काव्य कला के आधार पर सूरज प्रकाश का मूल्यांकन कर महाराजा अभयसिंह ने कवि को एक लाख पसाव तथा कविराजा की उपाधि देकर सम्मानित किया था[2]।

१६१—अभयसिंह (अप्र०)—यह रचना भी करणीदान कवियों द्वारा लिखित है[3]। इसका निर्माण काल भी सन् १७३० ई० के लगभग होना चाहिये। ग्रन्थ के नाम के आधार पर अनुमान किया जाता है कि यह भी महाराजा अभयसिंह की प्रशंसा से सम्बन्धित है।

१६२—जतीरासा (अप्र०)—यह कृति भी करणीदान कवियों द्वारा रचित है। इसका सृजन काल भी सन् १७३० के निकट ही समझना चाहिये। इसमें स्वानुभव के आधार पर अनेक जती साधुओं के दुराचरणों का कवि ने उल्लेख किया था। अतएव इसे विसर (निंदात्मक) काव्य का उदाहरण कहा जा सकता है। कहा जाता है कि किसी विद्वान् एवम् सदाचारी जती की प्रार्थना पर कवि ने अपने पास की पुस्तक को अग्निदेव को समर्पित कर दिया था[4]।

उपरोक्त ग्रंथों के अतिरिक्त करणीदान कवियों द्वारा निर्मित प्रशंसा सम्बन्धी अन्य स्फुट रचनायें भी उपलब्ध होती है[5]।

१६५—ग्रंथराज (अप्र०)—इस ग्रन्थ का अन्य नाम गजसिंह रो रूपक भी

१—बि० शि० पृ० ३५।

२—रा० सा० रू० पृ० ११८। रा० भा० सा० पृ० १७६।

३—वि० शि० यू० पृ० ६।

४—वही पृ० २ और ५।

५—रा० सा० रू० पृ० ४, ८-६।

है। इसका रचयिता बीकानेर के महाराजा गजसिंह का आश्रित कवि गोपीनाथ गाडण है। ग्रंथ का र० का० सन् १७५३ ई० के लगभग है[1]।

अठार से त्रिथे
ग्रन्थ पूरब आरम्भे।
चिरत गजण चित्रीया,
सुणे जंण तेण अचम्भे।
बरखे दाहो तरै
रित वरषा घण बदल।
तेरिस पुष्पा अरक
मास भाद्रपद कृष्ण दल।
मझ नयर रिणी सिध जोग मझि
वदै कृत चहुँवै वले।
सिरताज राज ग्रंथी सिरे
हवौ लस महि मन्डले ॥२॥

यह सविस्तार लिखित एक वृहद् ग्रंथ है जिसका मुख्य विषय महाराजा गजसिंह की प्रशंसा है। आरम्भ में मंगलाचरण की अवतारणा है। उसके पश्चात् महाराजा गजसिंह की प्रशंसा से सम्बन्धित कवि स्त्री संवाद है। अनन्तर क्रमशः राव बीको, नारो, लूणकरण, जैतसी, कल्याणमल, रायसिंह, दलपत सिंह, सूरसिंह, करण सिंह और सुजान सिंह, महाराजा गजसिंह के पूर्व पुरुषों का वंश वृत्तानुसार उल्लेख है। जैसे जैसे वंश क्रम आगे बढ़ता है, वर्णन अधिकाधिक विस्तृत होता जाता है। महाराजा गजसिंह का वर्णन कवि अपनी संपूर्ण प्रतिभा के साथ करता है। उसने महाराज के जन्म, बाल्यावस्था, और शिक्षा दीक्षा का पूर्ण उल्लेख किया है। जोधपुर के विरुद्ध लड़े गये सन् १७५० ई० तक के युद्धों का असंक्षिप्त वर्णन किया है[2] जो कि डिंगल की अपनी विशेषता है। दयालदास की ख्याति के अनुसार गोपीनाथ ने यह ग्रन्थ महाराजा गजसिंह को रिणी[3] में समर्पित किया था। इस रचना से प्रसन्न होकर महाराजा ने कवि को दो हजार रुपया, हाथी, घोड़ा तथा सिरोपाव प्रभृति से पुरस्कृत किया था[4]। इसमें विविध प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है।

१—रा० सा० रू० पृ० २३७। रा० भा० सा० पृ० २२१। हि० सा० आ० इ० पृ० २६२...६४।

२—डी० सी० वी० एच० एम० से० १ पार्ट २ बी० रा० इ० भाग १ पृ० ३५६।

३—सी० रा० एम० पृ० १२ पु० सं० ३३।

४—दयाल दास री ख्यात जिल्द २ पृ० ७७।

१६४—भीम प्रकाश (अप्र०)—इसका निर्माणकर्ता जोधपुर राज्य का निवासी रामदान लालस है। ग्रन्थ का रचना काल सन् १७७७-१८२५ ई० के मध्य अनुमानित किया जाता है[1]। ग्रन्थ का विषय मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह के राजप्रसाद, राजसभा, राज्य वैभव तथा गणगौर की सवारी प्रभृति का वर्णन है। प्रारम्भिक ७० छन्दों में मेवाड़ का इतिहास तथा शेष १०५ छन्दों में महाराणा का यश वर्णन है। ग्रन्थ में अनेक प्रकार के छंद प्रयुक्त हुये हैं[2]।

१६५ सुपह छत्तीसी (प्रका०)—यह रचना कविराजा बाँकीदास आशिया द्वारा विनिर्मित है। रचना की निश्चित तिथि तो ज्ञात नहीं है किन्तु यह निस्संदिग्ध है कि रचना लगभग सन् १७६०-१८३३ ई० के मध्य की है[3]। इसमें ३६ दोहे सोरठे हैं। इसमें भारतवर्ष के अनेक इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों की प्रशंसा की गई है जिनमें कन्नौज के राजा जयचन्द, जोधपुर राज्य के पश्चिम में स्थित मालाणी परगना के मल्लिनाथ, रावलमल्लिनाथ के अनुज जैतमाल, मारवाड़ के जगमाल, मेवाड़ के राव रणमल, जोधपुर के राजा मालदेव, महाराजा गजसिंह, और जसवंतसिंह, गजसिंह के बड़े पुत्र एवं नागौड़ के राजा अमरसिंह, बीकानेर नरेश रायसिंह, महाराणा संग्रामसिंह (साँगा) तथा महाराणा प्रताप प्रभृति हैं[4]।

१६६ मुरजाल भूषण (प्रका०)—यह रचना भी कविराजा बाँकीदास आशिया कृत है। इस ग्रन्थ की रचना तिथि की समस्या भी उपरोक्त ग्रन्थ के समान है। पुरोहित हरिनारायण के अनुसार मुरजाल भूषण का शाब्दिक अर्थ किलों का आभूषण है[5]। मुरजाल भूषण का प्रयोग कवि ने वस्तुतः चित्तौड़गढ़ के लिये किया है। चित्तौड़ के दुर्ग के अतिरिक्त कवि ने इतिहास प्रसिद्ध जयमल, बदनौर के मेड़तिया राठौड़ों सरदारों के पूर्वज, तथा पत्ता, प्रतापसिंह अमेठ के ठिकाना के सीसोदियों के पूर्वज, जिन्होंने कि चित्तौड़गढ़ के रक्षार्थ अकबर के विरुद्ध युद्ध किया था, का कीर्तिगान किया है। रचना के दोहों, सोरठों की संख्या ७० है[6]।

१—सन् १७७७ ई० महाराणा भीमसिंह का राज्यारोहण काल है—म० य० प्र०, पृ० १६०। और सन् १८२५ ई० रामदान की मृत्यु का काल है—रा० भा० सा०, पृ० २०६।

२—रा० भा० सा०, पृ० २०६-७।

३—रा० भा० सा०, पृ० १६६-२०० और बाँ० ग्र०, भाग १, पृ० ६ व २३।

४—बाँ० ग्रं०, भाग, १ पृ० ७०-८४।

५—बाँ० ग्रं०, भाग २, पृ० २१ (भू०)।

६—वही, पृ० २१-२३ (भू०) तथा ६१-१०७ (मूल पाठ)।

१६७ जेहल जस जड़ाव (प्रका०)—यह भी बाँकीदास की कृति है। रचनातिथि की समस्या इस ग्रंथ की भी उपरोक्त ग्रंथों के समान है। रचना का विषय भारमल जाडेचा के पुत्र एवं कच्छभुज के राजा जेहल, जेसल अथवा जेहा, जो कि अपने पिता के जीवन काल में ही स्वर्गवासी हुये थे, की दानवीरता की प्रशंसा है। इसमें ७४ दोहे सोरठे हैं[1]।

१६८ सिद्ध राव छत्तीसी (प्रका०)—यह भी बाँकीदास लिखित हैं। इसकी रचना तिथि की समस्या कवि के अन्य ग्रंथों के समान है। इस रचना में गुजरात में स्थित अन्हिलवाड़ा के सिद्धराज जयसिंह के वीरोचित कार्य, विजय एवं दानशीलता की प्रशंसा की गई है। सिद्धराज जयसिंह ऐतिहासिक व्यक्ति थे। इनका शासन काल सन् १०६३-११४२ ई० तक था। सिद्धराव छत्तीसी के दोहा सोरठों की संख्या ३६ है।[2]

१६९ मानजसो मंडन—यह भी बाँकीदास की कृति है। अन्य ग्रंथों के समान इसकी भी निश्चित रचना तिथि ज्ञात नहीं हैं। इसमें जोधपुर के महाराजा मानसिंह का ऐश्वर्य और यश वर्णित है। समस्त दोहा सोरठों की संख्या २२७ है[3]।

१७० श्री दरबार रा कविता या कवित्त (अप्र०)—यह भी बाँकीदास विरचित महाराजा मानसिंह की प्रशंसा से संबंधित रचना है[4]।

१७१ भीम विलास (अप्र०)—यह ग्रंथ मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह के आश्रित किशन जी आढा का लिखा ग्रंथ है। इसका रचना काल सन् १८२२ ई० है जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट है—

> **अष्टादस संमतह वरस गुनयासी जानहु।**
> **रित वसंत अरु चैत सुदि दुतिया तिथि मानहु ॥**[5]

इस ग्रंथ की रचना महाराणा की आज्ञानुसार हुई थी। इसमें महाराणा

१—बाँ० ग्रं०, भाग ३, पृ० २३-३२ (भू०) तथा १-१८ (मूल पाठ)।

२—बाँ० ग्रं०, भाग ३, पृ० ४०-५६ (भूमिका० तथा पृ० ६५-८० (मूल पाठ)।

३—वही, पृ० ४ (भू०) तथा पु० प्र० जो० की हस्तलिखित प्रति।

४—वही, पृ० ४ (भूमिका)।

५—रा० सा० रू०, पृ० १३४।

भीमसिंह का जीवन संबंधी इतिवृत्त तथा उनके राज्य प्रबन्ध का विस्तारपूर्ण वर्णन है[1]। इसके पदों की संख्या ७१७ है[2]।

१७२ कुंवर सरदार सिंह जी रो वी दौटो (अप्र०)—इसके रचयिता वीठू भोमा रामदान है। ग्रंथ का रचनाकाल सन् १८२३ ई० के लगभग है[3]। इसमें बीकानेर के कुंवर सरदार सिंह की कीर्ति का कथन है।

१७३ महाराजा रतनसिंह जी रो रूपम (अप्र०)—यह रचना बीकानेर नरेश रतनसिंह के आश्रित कवि वीठू भोमा रामदान द्वारा निर्मित है। इसका सृजन काल भी सन् १८२३ ई० के आस पास है[4]। इसमें कवि ने अपने आश्रयदाता का गुण गान किया है।

१७४ रतनविलास (अप्र०)—इस ग्रंथ का निर्माणकर्त्ता भी वीठू भोमा रामदान हैं। इसकी भी रचना तिथि सन् १८२३ ई० के निकट की ही है। इसमें महाराजा रतनसिंह की गया-यात्रा का विशेष वर्णन है, अतएव इसका अन्य नाम गयाप्रकाश भी है[5]।

इन रचनाओं के अतिरिक्त कवि कृत प्रशंसात्मक स्फुट कवितायें भी उपलब्ध होती हैं[6]।

१७५ राम रंजाट (अप्र०)—यह बूँदी के महाकवि सूर्यमल मिश्रण द्वारा विरचित है। इसका रचना काल सन् १८२५ ई० है जैसाकि कवि ने स्वयं रचना के अंत में लिखा है—

संवत सरस अठार सै, साल बियासी संत।
रवि बसंत पाँचे रहसि, गिरा संपूरण ग्रन्थ॥[7]

इसमें सूर्यमल ने बूँदी के राव राजा रामसिंह के नाम और पराक्रम का वर्णन किया है जो कि कवि के संकल्पात्मक उद्धरण से प्रकट है—

१—वही, तथा रा० भा० सा०, पृ० २०६ तथा रा० हि० ह० ग्रं० खो०, भाग १, पृ० ६८-६६।

२—रा० हि० ह० ग्रं० खो०, भाग १, पृ० ६८-६६।

३—रा० भा० सा०, पृ० २१२।

४—रा० भा० सा०, पृ० २१२।

५—सी० रा० एम०, पृ० २१।

६—वही, २१, २२, २४।

७—राम रंजाट, बंगाल हिन्दी मंडल, कलकत्ता से प्राप्त प्रतिलिपि वीर सतसई, पृ० ६८।

"उण नाम प्राद्रम कहू इसडा सुणौ सब संसार ॥[१]"

इसमें कवि ने राव राजा के दो विवाहों, नायिका-नखशिख, वर्षा और शरद् ऋतु, विजय दशमी के विशेष उत्सव, आखेट, अश्व, गज, गढों, श्री हजूर का स्वयं, तथा उमरावों और नवाबों का वर्णन किया है। रचना के अंत में आशीष को स्थान दिया है।

इस रचना के संबंध में यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि रावराजा के पराक्रम के प्रदर्शनार्थ कवि ने उनके आखेटों का अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत वर्णन किया है। यहाँ यह संकेत कर देना भी अपेक्षित है कि शिकार विजय दशमी के दिन नहीं खेला गया था जैसा कि राम रंजाट के विषय में वीर सतसई में परिचय दिया गया है[२], वरन् यह शिकार दीपमालिका के व्यतीत हो जाने के उपरान्त खेला गया था जो कि रचना की निम्नांकित पंक्तियों द्वारा प्रमाणित है :—

दीप माल कातिक दरस दीहो बगसि हजूर।
पंछै सिकार पधारिया, पून्यू उतरया पूर ॥[३]

ग्रंथ विविध प्रकार के १२२ छंदों में समाप्त हुआ है[४]।

१७६—सच तो यह है कि प्रशंसात्मक तथा अन्य प्रकार का स्फुट काव्य राजस्थान में अत्यन्त प्रचुर मात्रा में यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। यह साहित्य परिमाण में कितना है, इस सम्बन्ध में ऊहापोह करना व्यर्थ है। वस्तुतः इस साहित्य के संकलन की अपेक्षा है किन्तु इस कार्य का संपन्न होना व्यक्ति की सामर्थ्य के परे है। इसे कार्यान्वित करने के लिये सामूहिक प्रयत्न वांछनीय है।

१—वही।

२—वही, तथा वीर सतसई, पृ० ६८।

३—वही।

४—वही।

ख—वीरकाव्य

विवेचन

१७७—राजस्थान के इतिहासज्ञों को विदित है कि सन् ११९१ ई० में मोहम्मद गोरी के प्रथम आक्रमण के पश्चात् से लेकर सन् १८९३ ई० में देशी राज्यों के पूर्णतया अंग्रेजों के अधिकृत होने तक वहाँ की मरुभूमि और वहाँ का वातावरण युद्धों एवं तत्संबंधी उत्पातों का एक प्रधान केन्द्र रहा है। अनवरत कई शतियों पर्यन्त होने वाले मुसलमानों के आक्रमण तथा राजाओं के पारस्परिक वैमनस्य और कलह के कारण सामयिक परिस्थितियों का प्रभाव वहाँ के साहित्य पर भी पड़ा। राजस्थान में वीरकाव्य के सृजन यही प्रमुख कारण हैं।

वीरकाव्यों के विषय लगभग १७ वीं शती द्वितीयार्थ तक युद्धों में भाग लेने वाले राजस्थान के राजा महाराजा थे जो कि एक प्रकार से अपने समय की जनता के प्रतिनिधि हुआ करते थे, किन्तु उसके पश्चात् इसके विषय व्यक्ति विशेष के न होकर राजपूत जाति के सामान्य प्रतिनिधि के होने लगे। प्रथम प्रकार की रचनाओं को प्रश्रय एवं प्रोत्साहन देने वाले स्वयं राजा महाराजा ही हुआ करते थे यद्यपि दुरसा जी आढा कृत विरुद छिहत्तरी इस दृष्टि से अपवाद है, क्योंकि उसकी रचना के पीछे कवि की वीर पूजा की भावना थी। इसके अतिरिक्त दूसरी प्रकार की रचनाओं के पीछे भी कवियों की वीर पूजा की भावना और निजी रुचि थी। पूर्व-वर्त्ती वीरकाव्य के रचयिताओं में सूजा, ईसरदास, दुरसा, जग्गा, वीरभाण, और करणीदान के नाम मुख्यतया उल्लेखनीय हैं जिनमें कि द्वितीय और तृतीय के अतिरिक्त शेष कवियों ने अपने ग्रन्थों की रचना आश्रयदाताओं के संरक्षण में रह कर किया था। इन कवियों की रचनाओं की पृष्ठभूमि में प्रशंसात्मकता का प्राधान्य था। अस्तु, अधिक अथवा कम, किसी न किसी रूप में इनमें अत्युक्तियों को स्थान अवश्य प्राप्त हुआ है। ईसरदास और दुरसा जी की रचनाओं में वीरों को काव्य के माध्यम से अमर करने की प्रवृत्ति अधिक है। साथ ही इन कवियों ने अपने वीरों को वीरता की कसौटी पर परख कर अपने काव्य का विषय बनाया। अस्तु, ये अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक और वास्तविकता के समीप हैं। प्रथम प्रकार के कवियों ने अपने काव्य ग्रंथों में केवल अपने कथानायकों के उत्कर्ष का चित्रांकन किया जैसे सूजा के राव जैतसी, जग्गा के रतनसिंह और वीरभाण और करणीदान के अभयसिंह के चरित्र। इन कवियों ने अपने काव्यनायकों के निर्बलतापूर्ण बिंदुओं की ओर दृष्टिपात नहीं किया। इसके विपरीत, ईसरदास और दुरसा ने अपने

कथानायकों का यथातथ्य चित्रण किया, यहाँ तक कि उन्होंने अपने चरित्रनायकों, जसाजी और महाराणा प्रताप के अपकर्षों का उल्लेख करने में भी तनिक संकोच का अनुभव नहीं किया और उनके पतन को भी भावी उत्कर्ष का एक लक्षण माना।

१७८—परवर्त्ती कवि भी वीरों के चित्रों को प्रस्तुत करने में ईसरदास और दुरसाजी से किसी भी अंश में कम न थे। बाँकीदास ने अपने सूर छत्तीसी में वीरों का वर्णन करते हुये अनेक पौराणिक एवं ऐतिहासिक वीरों का उदाहरण प्रस्तुत किया। अपनी सीह छत्तीसी में सिंह को वीरों का प्रतीक मान कर वीरों के अनेक चित्र उपस्थित किया। वीरविनोद में भी सूर छत्तीसी के सदृश अनेक वीरों का उल्लेख किया। वीरों के चित्र प्रस्तुत करने के दृष्टि से इनकी दातार बावनी विशेषतया उल्लेखनीय है, जिसमें कि इन्होंने अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक दानियों का परिचय दिया है। परवर्त्ती कवियो में सतसइयों की परम्परा का निर्वाह करने वाले अपूर्ण वीर सतसई के रचयिता सूर्यमल मिश्रण प्रतिनिधि कवि हुये। सच तो यह है कि ये संपूर्ण वीर काव्य के प्रतिनिधि कवि थे। इन्होंने अपनी सतसई में वीरों के विविध चित्रमय रूप उपस्थित किये हैं।

वीर के स्वभाव का वर्णन करते हुये सूर्यमल कहते हैं कि सर्पिणी, सिंहनी और रानी के गर्भ से उत्पन्न क्रमशः शिशु-सर्प, शावक और राजपुत्र अवसर आने पर रुकते नहीं (छं० सं० ४०)। राजपूत वीर बालक द्वादश वर्षोपरांत भी अपने पिता का प्रतिशोध ले लेता है (छं० सं० ११८)। युद्ध के आह्वान के समक्ष वह संसार के महानतम आकर्षण का भी त्याग करने में पीछे नहीं हटता (छं० सं० १३३)। उसके प्रबल शौर्य और आंतक के श्रवण मात्र से ही लोगों को काला पीला दिखाई देने लगता है (छं० सं० ५५)। धराशायी हो जाने पर भी उसके मुखमंडल पर वीरत्वमयी आभा देदीप्यमान् होती है और उसकी मूँछे ऊँची रहती है (छं० सं० ६६)।

सूर्यमल के स्त्रीपात्र भी पुरुषों के समान ही साहसी और वीर हैं। यदि किसी स्त्री का पति अथवा पुत्र वीरता की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखने में असमर्थ है तो वह नारी हृदय के लिये परम असह्य एवं दग्धकर है (छं० सं० १४)। किसी स्त्री का कायर पति युद्धार्थ रणभूमि में गया किन्तु शत्रु को प्रबल समझकर घर भाग आया—

भागो कंत लुकाय धण, लै खग आतौं धाड़।
पहर धणी चा पूंगरण, जीती खोल किंवाड़ ॥१०६॥

पति को अपमान के कलंक से बचाने के लिये उसने पति को घर में छिपाया, खड्ग लिया, पति के वस्त्र धारण किये और द्वार खोलकर शत्रुओं पर विजय प्राप्त किया।

नारी के इस साहस, पराक्रम और स्फूर्ति को देखकर संदेह नहीं कि कायरतम मनुष्य भी एक बार प्राणों का मोह त्याग कर शत्रु का साक्षात्कार करने के लिये तत्पर हो जायगा। वीर पत्नी अपने पति के वीर स्वरूप के दर्शन करने की अभिलाषा रखती है और पति के वीरगति प्राप्त करने पर वह दिखा देना चाहती है कि वह उसकी सत्य सहचरी एवं अनुगामिनी है (छं० सं० १७)।

मृत्यु के अवसर पर, विशेषतया जब कि वह जन्मभूमि के लिये हो, दुख का प्रदर्शन कायरता का विज्ञापन है। इस प्रकार का अवसर जीवन में नित्य नहीं केवल एक बार प्राप्त होता है। ऐसे अवसरों को हाथ से न खोना और हँसते-हँसते मातृ-भूमि के लिये प्राणोत्सर्ग कर देना भारतीय इतिहास की चरम उत्कर्षमय विशिष्टता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर्यमल के वीर पात्र विविध होते हुये भी असाधारण कोटि के हैं।

वर्तमान समय में उदयपुर निवासी नाथूदान वीरकाव्य की रचना करने वाले एक उत्कृष्ट कवि हैं। इन्होंने वीर सतसई की रचना की है। इन्होंने भी वीरों के सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं और भावाभिव्यंजना की दृष्टि से तो कहीं-कहीं अपने समस्त पूर्ववर्त्ती कवियों से आगे बढ़ गये हैं। किन्तु इन्होंने वीरों के चित्रण में पूर्ववर्त्ती कवियों का कुछ अंशों में आश्रय ग्रहण किया है। वस्तुतः वीरों के रेखाचित्र इन्होंने उन्हीं से ग्रहण किये हैं किन्तु भावों का रंग अपनी ओर से भरा है।

१७६—वीरों के उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि डिंगल-वीरकाव्य में चित्रित वीर चरित्र सामान्यतया उत्कृष्ट कोटि के हैं। वे युद्ध की विविध एवं विचित्र परिस्थितियों से परिचित हैं तथा उन परिस्थितियों से संघर्ष करने की क्षमता रखते हैं। वे विपत्तियों की चुनौती को सहर्ष स्वीकार करते हैं तथा ललकार कर शत्रु का आवाहन करते हैं। उनमें अदम्य उत्साह है तथा वे प्रकृतितः उत्तम हैं।

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि इन वीरकाव्यों में उपस्थित किये गये वीरों के चरित्र का विकास अपने उत्कर्ष में पूर्ण है। ये चरित्र वस्तुतः लौकिक हैं। किन्तु काव्यकारों ने इन काव्यगत नायकों के चरित्र को इस ऊँचाई तक उठाया है कि उनके व्यक्तित्व अलौकिकता की सीमा का स्पर्श करते हैं। जो वीर युद्धों में विजय प्राप्त करते थे वे तो इस संसार में सुख और ऐश्वर्य का उपभोग करते थे और जो मातृभूमि के हेतु अथवा धर्मार्थ युद्ध करते हुये वीरगति प्राप्त करते थे, उनके लिये स्वर्ग का द्वार सदैव उन्मुक्त था। वे सीधे स्वर्गलोक जाते थे। ऐसे वीरों के लिये अप्सरायें प्रतिपल वरमाला लिये प्रतीक्षा करती थीं। वीरों की नारियाँ भी वीर पुरुषों के समान ही वीर होती थीं। कुल की मर्यादा होने के कारण, इसके पूर्व कि कोई पति के मृत्यु के पश्चात् उन पर कुदृष्टि न डाल सके, वे हँसते-हँसते अग्नि का आलिंगन कर अपने सतीत्व का परिचय देती

हुई, अप्सराओं की सपत्नी बनने की कामना करने के पूर्व, अपने पति से स्वर्गलोक में जाकर मिलती थी। अपने माता-पिता के सदृश ही राजपूत बालक भी वीर होते थे। उन्हें मृत्यु से डरने तथा पृथ्वी और कुल सम्मान के लिये मर मिटने की शिक्षा बचपन में ही प्रदान किया जाता था। यहाँ तक कि विवाह जैसे पवित्र अवसर पर भांवरों के लेते समय भी यदि उन्हें रण-निमंत्रण प्राप्त हो जाता था तो वे भांवरों को पूर्ण किये ही बिना रणस्थल को प्रस्थान कर देते थे। आज के लोगों के लिये इस प्रकार के इतिवृत्त आदर्श, कल्पना या असंभावना भले ही प्रतीत हो लेकिन राजपूतों का वास्तविक और स्वाभाविक जीवन यही था।

राजपूत केवल उच्च कोटि के वीर ही नहीं, त्यागपूर्ण दानी भी हुआ करते थे। याचक उनके द्वार से रिक्त कर नहीं जा सकता था। राजपूत राजाओं की उदारता, वदान्यता और दानशीलता तो प्रसिद्ध थी ही। प्रसन्न होने पर वे एक-एक दोहे पर लक्ष प्रसाद अथवा लाख पसाव, हाथी, घोड़ा और जागीरें प्रदान कर देते थे। इस दृष्टि से वे अपनी सानी नहीं रखते थे। इनकी दानशीलता के कारण ही वस्तुतः जनता से असंपर्कित डिंगल-साहित्य इतना अधिक समृद्ध हो सका। राजपूत राजाओं के दानशीलता के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। यहाँ परिचय की दृष्टि से बीकानेर के महाराजा रायसिंह के जीवन से संबंधित दानशीलता का उल्लेख, जिसके विषय में आढा दुरसा का एक गीत भी उपलब्ध है, कर देना अप्रासंगिक न होगा।

महाराजा रायसिंह ने शंकर बारहठ के द्वारा पढ़ी गई कुछ पंक्तियों से प्रसन्न होकर अपने मंत्री को आज्ञा प्रदान किया कि शंकर बारहठ को कोष से एक करोड़ रुपया प्रदान किया जाय। मंत्री राजा को यह दिखाने के लिये उत्सुक था कि राजा कम से कम देख लें कि एक करोड़ कितना होता है। अस्तु, उसने एक-एक हजार रुपयों के दस हजार बोरे राजा के सम्मुख फैला दिये। राजा मंत्री का अभिप्राय भाँप गये। उन्होंने कहा, "यही एक करोड़ है। मैं तो समझता था कि एक करोड़ और अधिक होगा। शंकर तुम सवा करोड़ का मुजरा करो।" तदनुसार शंकर बारहठ को २५ लाख की नागौड़ की तहसील प्राप्त हुई[१]।

इन महाराजा (शासन काल सन् १५१७-५५ ई०) की उदारता कहावत की भाँति प्रसिद्ध है। इन्होंने अपने जीवन काल में २५ ग्राम, २००० हाथी, ५०००० घोड़े, सवा तीन करोड़ रुपये, एक करोड़ के तीन पसाव और एक लाख के सौ पसाव प्रदान किये थे[२]।

१—द० ख्या० मा०, २ पृ० १२७।

२—गीत मंजरी, पृ० ३०, प्रकाशक—सुपरिन्टेंडेंट, गवर्नमेंट प्रेस, बीकानेर, सन् १९४४ ई०।

१८०—वीर काव्यों के समस्त रचयिता प्रायः वीररस को घटित करने में सफल रहें हैं। दूसरे शब्दों में, इनके काव्य ग्रंथों में वीररस की निष्पत्ति पूर्ण रूप से हुई है। युद्धवीरों के चित्रण में वीररस से संबंधित स्थायीभाव उत्साह सर्वत्र विद्यमान है। संचारी अथवा व्यभिचारी भावों के रूप में गर्व, दर्प, उग्रता, धृति, तर्क, प्रबोध, असूया और अमर्ष प्रभृति उपलब्ध होते हैं। विभावों में आलंबन और उद्दीपन दोनों ही मिलते हैं। आलंबन विभाव के रूप में शत्रु अथवा विपक्षी के निर्दशन होते हैं। उद्दीपन के रूप में चारणों की कविता, उनके द्वारा पूर्वजों की विजयों का उल्लेख, युद्ध भूमि का वातावरण, प्रबल शत्रु की उपस्थिति और उसकी चुनौती, उसके आक्रमण की प्रवृत्ति, व्यंग्योक्तियाँ, वीरों के गर्जन तर्जन, हुँकार और कोलाहल, प्रजा का त्रस्त होकर भागना और रक्षा के लिये प्रार्थना करना, पत्नी की प्रोत्साहनपूर्ण उक्ति, ढोल का सिर पर बजना, सिंधु राग, घोड़ों का हिनहिनाना, हाथियों का चिग्घाड़ना, गिद्ध-गिद्धनियों का मंडराना आदि हैं। अनुमानों में आखों का लाल होना, मस्तक पर बल पड़ना, मूँछों और भवों का मिलना, दाँतों का पीसना, नासिका रंध्रों का फूलना, रह रहकर आँखों का मिंच जाना, विभिन्न अंगों का स्फुरण, नसों का नाचना, शरीर का विकसित होना, गर्वोक्ति, आक्षेपोक्ति, स्वेद, रोमांच, मद, हर्ष, धैर्य, स्थैर्य, शौर्य, प्रताप आदि हैं।

सच तो यह है कि वीररस के विश्लेषण की दृष्टि से विशेषतया युद्धवीर को ध्यान में रखकर यदि इन वीरकाव्यों का विशेष अध्ययन किया जाय तो अनेक मौलिक विभाव और अनुभाव संकलित किये जा सकते हैं। इनमें अनेक इस प्रकार के विभाव और अनुभाव उपलब्ध हो सकते हैं जिनका कि आचार्यों ने लक्षण ग्रंथों में कहीं नामोल्लेख भी नहीं किया है।

१८१—वीर रस का जितना वास्तविक, प्राणमय और हृदयग्राही स्वरूप इस साहित्य में उपलब्ध होता है कदाचित् ही विश्व साहित्य में कहीं प्राप्त हो सकेगा। इसमें रणोन्मत्त वीरों, सतीत्व के रक्षार्थ मरणातुर वीर बालाओं तथा रणांगण की रक्त रंजित नर बालिका का अत्यन्त भावमय चित्रण है।

वीरकाव्य-साहित्य राजस्थान के प्राकृतिक जीवन का साहित्य है। यह मृत्यु के साथ क्रीडारत वीरों का साहित्य है और साथ ही इस प्रकार के कवियों द्वारा रचा गया है जिन्होंने प्रत्यक्ष मृत्यु का आह्वान कर लोहे से लोहे बजाया था और युद्ध की विभीषिका का स्वतः अनुभव किया था। राजस्थान के इस साहित्य में आदर्श देश प्रेम, स्वातन्त्र्य भावना और जातिगत अभिमान के यथार्थ स्वरूप की अवतारणा हुई है और वह पराधीनता कालीन भारत के गरिमामय गौरव किरीट में इस साहित्य के माध्यम से आज भी जाज्वल्यमान् है।

वीर काव्य से संबंधित साहित्य पुस्तकों एवं स्फुट रचनाओं के रूप में प्राप्य है जिसमें कि स्फुट रचनाओं के रूप में प्राप्य साहित्य प्रचुर मात्रा में बिखरा है। इस प्रकार की रचनाओं का विवरण देना संभव नहीं है। अस्तु, केवल पुस्तक रूप में प्राप्य वीरकाव्य ग्रंथों का परिचय प्रस्तुत किया गया है जो कि विशेष जानकारी के लिये अवलोकनीय है।

वीरकाव्य सम्बन्धी ग्रंथ

१८२ **वीरमायण (अप्र०)**—इसका इतर नाम 'निसाणी वीरमाण री' भी है। नामकरण की दृष्टि से वीरमायण (वीरम + अयण) रामायण से साम्य रखता है[1]। यह रचना मारवाड़ के राव वीरम जी के आश्रित कवि बादर ढाढी कृत है। पं० रामकर्ण आसोपा ने ग्रंथ के कर्ता का नाम रामचन्द्र ढाढी बताया है[2]। इसका र० का० सन् १३६० ई० अनुमानित किया जाता है क्योंकि वीरम जी और जोइयों का युद्ध, जो कि ग्रन्थ का विषय है, इसी समय लखबेरा नामक स्थान में हुआ था। किन्तु मोतीलाल मेनारिया ने पुस्तक का र० का० १७ वीं शती ई० के अंतिम दशाब्द के लगभग माना है[3]। इसमें मंडोवर के राव मल्लिनाथ के पुत्र जगमाल तथा उनके भ्रातृज वीरम जी की वीरता का उल्लेख है। वीरम जी इस युद्ध में वीरता पूर्वक लड़ते हुये वीर गति को प्राप्त हुये थे। पुस्तक २८५ पदों में समाप्त हुई है जिसमें प्रयुक्त मुख्य छंद निसाणी है, जो कि रचना के नाम से भी प्रकट है।

१८३ **रणमल्ल छंद (अप्र०)**—इसका निर्माणकर्त्ता श्रीधर नामक कवि है जो कि ग्रन्थ नायक का समकालीन था। इसका र० का० सन् १४०० ई० के लगभग है[4]। रचना का मुख्य विषय ईडर नरेश रणमल राठौड़ तथा गुजरात के सुल्तान मलिक मुफर्रह (शासन काल सन् १३७७—१३६१ ई०[5]) के युद्ध का वर्णन है। इसमें मलिक मुफर्रह की पराजय हुई थी। डा० दशरथ शर्मा ने 'रणमल्ल छंद पर कुछ शब्द' लेख में दिखाया है कि "मुफ़र्रह रास्तीखान के नाम से भी प्रसिद्ध था और गुजरात का सूबेदार नियुक्त करते समय फिरोज तुगलक ने इसे फरतुहुल-मुल्क की उपाधि प्रदान की थी[6]।" यह रचना प्रधानतया दोहा और चौपाई छंदों

१—रा० हि० ह० ग्रं० खो०, पृ० ४८-६, १७१।

२—रा० रू० की० भू०, पृ० २।

३—रा० सा० रू० पृ० २२१, रा० मा० सा०, पृ० १७०-७१।

४—के० एम० मुंशी—गुजरात ऐंड इट्स लिटरेचर, पृ० १०१, शोध पत्रिका, जून १६५२, प्रकाशक—साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर, पृ० १६३; रा० मा० सा० पृ० ८०।

५—शोध पत्रिका, जून १६५२, साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यापीठ द्वारा प्रकाशित, पृ० १६५।

६—वही।

में लिखित है जिनकी संख्या ७० है। विशेष परिचय के लिये डा० दशरथ शर्मा का उक्त लेख पठनीय है[१]।

१८४ अचलदास खीची री वचनिका (अप्र०)—इसके रचयिता का नाम शिवदास है जो कि गागरौनगढ के राजा अचलदास खीची का समकालीन था। डा० टेसीटरी के अनुसार ग्रन्थ का र० का० सन् १४२८ ई० है[२]। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि "इसका रचना काल संवत् १६१५ माना गया है[३]।" ग्रन्थ की मुख्य घटनायें कवि की स्वयं देखी हुई थी। इसका मुख्य विषय अचलदास खीची तथा मांडू के पातशाह (होशंगशाह[४]) के संग्राम का इतिवृत्त है। इसमें अचलदास वीरतापूर्वक युद्ध करते हुये काम आये थे। यह अद्यावधि अप्रकाशित है। इसमें पद्य के साथ गद्य का भी सम्मिश्रण है।

१८५ रावजैतसी रो छंद (प्रका०)—इसकी रचना बीकानेर नरेश राव जैतसी के आश्रित कवि सूजा नागराजोत ने किया है। ग्रन्थ का निर्माणकाल सन् १५३४—४१ के मध्य होना अनुमानित किया जाता है[५]। ग्रन्थ का विषय बाबर के द्वितीय पुत्र कामरान, जो कि काबुल और पंजाब का हाकिम था, और बीकानेराधिपति राव जैतसी का युद्ध है जिसमें कि राव जैतसी ने कामरान को परास्त किया था। इसमें राव जैतसी के पिता लूणकरण और पितामह बीका जी के पराक्रम तथा रणकुशलता का सविस्तार परिचय है। उपरोक्त पराजय के संबन्ध में मुसलमान इतिहासकारों का मौन इस ग्रन्थ को इतिहास की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण बना देता है। इस ग्रन्थ में ३८५ पाघड़ी, ११ गाहा, ४ दोहा तथा १ कलस छंद प्रयुक्त हुये हैं[६]।

१८६ राव जैतसी रो छंद (अप्र०)—इसके कर्ता का नाम ज्ञात नहीं है। यह प्रायः सभी दृष्टियों से बीठू सूजा कृत राव जैतसी रो छंद के समान है। इसका

१—शोध पत्रिका, जून १९५२, पृ० १६१-९ प्रकाशक, राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर।

२—डी० सी० पार्ट १, वी०, पृ० ४१। अ० स० पु० वी० की ३ प्रतियाँ, रा० मा० सा०, पृ० १०१।

३—डा० राम कुमार वर्मा, हि० सा० आ० इ०, पृ० २५५।

४—रा० मा० सा०, पृ० १०१।

५—छं० रा० जै० की भू०, पृ० १०।

६—रा० जै० छं० भू०, पृ० १-१४, जे० ए० एस० बी० १९१७, पृ० २३८-९, बी० रा० इ०, पृ० ९४ और ११९, रा० दू० (प्र०) पृ० ४४, रा० मा० सा०, पृ० १०८-९, रा० सा० रू०, पृ० ४३-४४, डि० वी० र०, पृ० ४० (भूमिका)।

रचना काल भी सन् १५३४-४१ ई० के मध्य है। साधारण रूप से देखने पर दोनों ग्रंथों में निम्नलिखित अंतर परिलक्षित होते हैं :—

(१) इसमें राव जैतसी का वंश वृक्ष राव सलालो से प्रारम्भ न होकर राव चूडो से होता है।

(२) युद्ध आरम्भ होने का दिन रविवार के स्थान पर शनिवार दिया है।

(३) इसमें जैतसी के अश्वारोहियों की संख्या दी है जो १००० है।

(४) इसमें बाबर की मृत्यु का उल्लेख भी किया गया है।

(५) विषय साम्य होते हुये भी ग्रन्थ पूर्णतया स्वतन्त्र ढंग से लिखा गया है तथा बहुत अंशों में दोनों रचनायें एक दूसरे की पूरक हैं।

इस ग्रंथ के छंदों की संख्या ४८५ है[1]।

१८७ गुण रूपक (अप्र०)—कवि केशवदास गाडण ने इसमें महाराजा गजसिंह की वीरता का भी वर्णन किया है। इसका विवरण प्रशंसात्मक काव्य के परिशिष्ट में दिया जा चुका है।

१८८ गुण भाषा चित्र (अप्र०)—ग्रन्थ के रचयिता ने जोधपुर के अधिपति महाराजा गजसिंह के वीरोचित कर्मों का वृतान्त भी लिखा है। इसका विशेष परिचय प्रशंसात्मक काव्य के अंतर्गत दिया जा चुका है।

१८९ हालां झालां रा कुंडलिया (प्रका०)—यह जोधपुर राज्य के अन्तर्गत स्थित भाद्रेस ग्रामवासी ईसरदास रोहड़िया की कृति है। इसका अन्य नाम सूर-सतसई भी है जो कि वस्तुतः भ्रमात्मक है क्योंकि इसमें केवल ५० कुंडलियाँ छंद हैं। कुछ लोगों के कथनानुसार यह ग्रंथ ईसरदास कृत न होकर आशानन्द द्वारा विरचित है जो कि मोतीलाल मेनारिया के अनुसार निराधार है[2]। इसका निर्माण काल सन् १५६३ ई० के लगभग है[3]। ग्रंथ का विषय ध्रोल राज्य के ठाकुर हाला जसाजी (जसवंत सिंह) और हलवद नरेश झाला रायसिंह का युद्ध वर्णन है। इसमें मुख्यतया जसाजी की वीरता वर्णित है जो कि इस रण में मृत्यु के शिकार बने थे। इसका विस्तृत परिचय अध्याय १ में दिया जा चुका है।

१९० विरुद छिहत्तरी (प्रका०)—इसमें राजस्थान के प्रसिद्ध कवि दुरसाजी आढा ने इतिहास प्रसिद्ध स्वतन्त्रता प्रेमी महाराणा प्रताप की वीरता का परिचय दिया है। इसका परिचय अध्याय १ में दिया जा चुका है।

१—रा० जै० छं० भू०, पृ० १३, रा० भा० सा०, पृ० १०८-९।

२—रा० भा० सा०, पृ० ११७ तथा हा० झा० कुं०, पृ० ६-१३ (भू०)।

३—हा० झा० कुं०, पृ० ८ और १२ (भू०)।

१६१ वचनिका राठौड़ रतन सिंह जी री महेसदासोतरी (प्रका०)—इसका दूसरा नाम रतन रासौ भी है[1]। इसका रचयिता जगमल (जग्गा जी) खिड़िया है। ग्रंथ का रचना काल सन् १६६० ई० के लगभग है[2]। जोधपुर के अधिपति महाराजा जसवन्त सिंह, जिन्होंने कि मुगल सम्राट् शाहजहाँ की ओर से उसके विद्रोही राजकुमारों को दबाने का प्रयत्न किया था, तथा शाहजहाँ के पुत्र औरंगजेब तथा मुराद के साथ उज्जैन की रणभूमि पर होने वाला युद्ध इस रचना का विषय है। इस युद्ध में महाराजा जसवन्त सिंह की पराजय हुई थी तथा इस युद्ध में मृत्यु का वरण करने वाले वीरों में रतलाम नरेश राठौड़ रतनसिंह भी थे। ग्रंथ का नामकरण वस्तुतः इन्हीं के नाम पर हुआ है। इस रचना में पद्य के साथ गद्य भी सम्मिश्रित है। इसका विस्तृत परिचय अध्याय १ में दिया जा चुका है।

१६२ रतनरासौ (अप्र०)—यह ग्रंथ कवि कुंभकर्ण सांदू द्वारा विरचित है। इसका सृजन काल सन् १६७५ ई० है। रचना का विषय मुगल सम्राट् शाहजहाँ के विद्रोही राजकुमारों का पारस्परिक युद्ध है[3]।

१६३ वचनिका (अप्र०)—यह हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि वृन्द की कृति है। इसका रचना काल सन् १७०५ ई० है[4]। इसकी रचना किशनगढ़ के महाराजा मानसिंह के आज्ञानुसार की गई थी। इसके आरम्भ के अंश में वंश क्रमानुसार कन्नौज के महाराज राव सीहाजी से महाराजा रूपसिंह...रचना के नायक पर्यन्त का उल्लेख है। ग्रंथ का विषय धौलपुर के क्षेत्र में होने वाले बादशाह शाहजहाँ के राजकुमारों दारा, शुजा, मुराद तथा औरंगजेब का दिल्ली के राजसिंहासन को हस्तगत करने का संग्राम है जो कि सन् १६५८ ई० में हुआ था। इस युद्ध में महाराजा रूपसिंह ने दारा को सहयोग प्रदान किया था और इन्हीं की वीरता और पराक्रम का वर्णन वचनिका का उद्देश्य है[5]।

१६४ सत्य स्वरूप (अप्र०)—यह भी वृन्द कवि की रचना है। इसका निर्माण काल सन् १७०७ ई० है[6]। इसका विषय राजकुमार मुअज़्ज़म, जो कि इतिहास में बहादुरशाह के नाम से विख्यात है, आज़म कामबख्श प्रभृति का पार-

---

१—रा० भा० सा०, पृ० १५८।

२—व० रा० र० म०, पृ० ८६, छं० सं० २६४, तथा हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २६०।

३—रा० भा० सा०, पृ० २१०।

४—वही, पृ० १६७-८।

५—वही।

६—रा० भा० सा०, पृ० १६८।

स्परिक युद्ध है। यह युद्ध औरंगजेब की मृत्यु के अनन्तर सन् १७०७-१७०६ ई० के मध्य हुआ था। इसमें किशनगढ के महाराजा राजसिंह ने मुअज़्ज़म का पक्ष ग्रहण किया था और यह उन्हीं के शौर्य तथा पराक्रम का प्रतिफल था कि मुअज़्ज़म को सफलता प्राप्त हो सकी थी[1]।

१६५ बरसलपुरगढ विजय (अप्र०)—यह ग्रंथ मथेन जोगीदास नामक कवि द्वारा निर्मित है। इसका रचना सन् १७१२ ई० के लगभग प्रतीत होता है[2]। इसमें महाराजा सुजानसिंह द्वारा वरसलपुर के राव लखधीर पर आक्रमण करने एवम् पराजित करने का उल्लेख है[3]। काव्य नायक के नाम पर इसका इतर नाम महाराजा सुजानसिंह रो रासो भी है। यहाँ यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि इस ग्रंथ में कथित घटना का इतिवृत्त ख्यातों में अप्राप्य है[4]।

१६६ राजरूपक (प्रका०)—यह काव्य जोधपुर के महाराजा अभय सिंह के समकालीन घड़ोई ग्रामवासी कवि वीरमांण रत्नू द्वारा विरचित है। इसका रचना काल सन् १७३०-३२ ई० के आस पास है[5]। अहमदाबाद के युद्ध में महाराजा अभयसिंह द्वारा शेर बिलंदखाँ का परास्त किया जाना इस ग्रंथ का विषय है। इस युद्ध में कवि स्वयं भी महाराजा के साथ थां, अतएव उसने घटनाओं का वास्तविक और सजीव अंकन किया है। उसने अपनी कृति में घटनाओं का संवत् देकर उसके ऐतिहासिक मूल्य में भी वृद्धि किया है[6]।

१६७ सूरज प्रकाश (प्रका०)—यह जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के कृपापात्र कवि करणीदान कवि द्वारा लिखा गया है। इसका रचना काल सन् १७३० ई० के लगभग किन्तु उससे पूर्व है। इसका विषय भी राज रूपक के समान ही शेर बिलंदखाँ का महाराजा अभयसिंह के द्वारा पराजित किया जाना है। इसमें साढ़े सात हजार छंद हैं[7]।

१—वही।

२—अ० स० पु० वी० की प्रति..."इति श्री महाराजाधिराज श्री ५ श्री सुजाणसिंह जी वरसलपुरगढ़ विजय नाम समयः मथेन जोगीदास कृत समाप्तः संवत् १७६६ वर्षे माघ सुदि ५ दिने लिखतं।"—हि० सा० आ० इ०, पृ० २६२।

३—वी० रा० इ०, भाग १, क्रमशः पृ० २६७ तथा २६६।

४—वही।

५—अ० ५२।

६—रा० रू० की भूमिका पृ० ३, रा० सा० रू०, पृ० २३५, रा० भा० सा०, पृ० १७८।

७—रा० रू० की भूमिका पृ० ३-४, रा० भा० सा०, पृ० १७६ तथा अ० ४०।

१९८ **सूर छत्तीसी** (प्रका०)—यह जोधपुर के महाराजा मानसिंह के विशेष कृपापात्र कविराजा बाँकीदास आशिया की रचना है। इसका निर्माण काल सन् १७९०-१८३३ ई० के मध्य है। इसमें अनेक वीरों एवं उनके वीरोचित कर्मों का उल्लेख है। रचना का प्रारंभ भीष्म पितामह की वीरता से होता है जिन्होंने श्रीकृष्ण को उनकी प्रतिज्ञा के विरुद्ध चक्रधारण करने पर विवश कर दिया था[१]।

१९९ **सीह छत्तीसी** (प्रका०)—यह भी बाँकीदास की कृति है। इसका निर्माण भी सन् १७९०-१८३३ ई० के मध्य है। इसमें सिंह के रूपक द्वारा वीर का परिचय दिया गया है[२]।

२००—**वीर विनोद** (प्रका०)—यह भी बाँकीदास द्वारा रचित है। इसके रचना का समय भी वही है जो सूर छत्तीसी अथवा सीह छत्तीसी का है। इसमें अनेक वीरों का परिचय है। इसके आरंभ का दोहा नरसिंहावतार की पौराणिक कथा से संबंधित है[३]।

२०१—**दातार बावनी** (प्रका०)—यह भी बाँकीदास कृत है। रचना का समय अन्य ग्रंथों के समान ही है। इसमें अनेक दाताओं की दान वीरता का परिचय दिया गया है। इसका प्रारम्भ राम और कृष्ण की दानवीरता से होता है[४]।

२०२ **वीर सतसई** (अपूर्ण, प्रका०)—यह बूँदी निवासी महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण द्वारा विनिर्मित है। इसकी रचना सन् १८५७ ई० में हुई थी। इसका विषय राजपूत वीरों एवं वीरांगनाओं का चित्रांकन एवम् अकर्मण्य राजपूतों को स्वतंत्रता संग्राम के निमित्त उनको कर्तव्योन्मुख करना है[५]। इसका विस्तृत परिचय अध्याय १ में दिया गया है।

२०३ **वीर सतसई** (अप्रका०)—इसका रचयिता मोड़जी म्हैयारिया हैं। इस कृति का रचना काल २० वीं शती ई० के प्रारम्भ के आस-पास है। इसमें वीर राजपूतों तथा राजपूतानियों के सुंदर चित्र सँजोये गये हैं[६]।

१—बाँ० ग्र०, भाग १, पृ० १-८।

२—वही, पृ० ९-१८।

३—वही, पृ० १८-३६।

४—वही, पृ० ४६-५१।

५—वी० स०, पृ० ७५, रा० भा० सा०, पृ० २३९-४० तथा अ० १७४-२१६ (अध्याय १)।

६—रा० भा० सा०, पृ० २७२।

२०४ वीर सतसई (अप्र०)—इसका प्रणयन नाथूदान म्हैयारिया ने किया है। इसका र० का० २० वीं शती ई० है। यह वीररस पर लिखा गया आधुनिकतम ग्रंथ है। कवि ने इसमें वीरों के अनेक सुंदर चित्र उपस्थित किये हैं। इसमें वीररस की मार्मिक अभिव्यंजना हुई है[१]।

१—रा० भा० सा०, पृ० २६३-६४।

श्रृंगारिक काव्य

विवेचन

२०५—डिंगल के श्रृंगारिक काव्य की रचना का क्षेत्र अत्यन्त सीमित और संकुचित है। इसका प्रमुख कारण यह है कि चारणों और भाटों ने, जिनसे कि प्रधानतया डिंगल-साहित्य का संबंध है, श्रृंगारविषयक काव्य रचना में नहीं के बराबर सहयोग प्रदान किया है। चारण और भाट कवियों के श्रृंगार विषयक काव्य न सृजन करने के कारण थे। प्रथम प्रमुख कारण तो यह था कि ये काव्य रचयिता, राजनैतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप युद्ध से पूर्ण संघर्षमय जीवन के कारण, श्रृंगार-पूर्ण रचनाओं को देश के तत्कालीन वातावरण के प्रतिकूल समझते थे। और द्वितीय, ऐसा प्रतीत होता है कि इन कवियों का नैतिक स्तर काव्य रचना की दृष्टि से उच्च था। ये कवि श्रृंगारमय रचनाओं द्वारा अपने आश्रयदाताओं की कुत्सित वासनात्मक प्रवृत्ति को संतुष्ट करके उनका मनोरंजन करना, अपने उत्तरदायित्व को देखते हुये श्रेयस्कर नहीं समझते थे क्योंकि इस प्रकार की रचनाओं से उन्हें अपने स्वामियों के कर्तव्य-च्युत होने का भय था।

अपने आश्रयदाता का नमक खाने के पश्चात् ये स्वामिभक्त कवि एक प्रकार से उनके लिये स्वजीवनोत्सर्ग कर देते थे। अपने स्वामी के दुख-सुख को वे अपना दुख-सुख मानते थे। अतएव, वे उनको पतन के गर्त्त में ढकेलना नितान्त अनुचित समझते थे। कवि होने के नाते अपना कवि कर्म करते हुये अपने आश्रयदाता को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने में वे सतत प्रयत्नशील रहते थे। यही कारण था कि जब वे उनके मनोरंजनार्थ भी काव्य रचना करते तो रचना के विषय आश्रयदाता का शौर्य, पराक्रम, ऐश्वर्य-वैभव तथा उदारता और दानशीलता प्रभृति होते थे।

उपर्युक्त वास्तविकता को देखते हुये भी, यह निष्कर्ष निकालना कि डिंगल में श्रृंगारिक काव्य का नितान्त अभाव है अथवा उच्चकोटि के श्रृंगार रस प्रधान काव्य ग्रंथ नहीं है, भ्रमात्मक होगा। किन्तु साथ ही यह भी सच है कि कुछ थोड़े से ही कवियों ने श्रृंगार को अपने काव्य का विषय बनाया। इन कवियों ने श्रृंगारिकता की अभिव्यक्ति कृष्ण, रुक्मिणी, राधा और स्वदेश के ऐतिहासिक अथवा सामान्य व्यक्तियों के माध्यम से किया। कृष्ण-रुक्मिणी से संबंधित रचनाओं के उदाहरण स्वरूप पृथ्वीराज राठौड़ कृत वेलिक्रिसन रुक्मिणी री तथा सांया झूला कृत रुक्मिणी हरण, राधा कृष्ण से संबंधित रचना के उदाहरण स्वरूप जोगीदास विरचित राधा किसन जी रा दूहा, केवल राधा से संबंधित रचना के उदाहरण स्वरूप बाँकीदास

का भमाल राधिका सिख नख वर्णन के नाम उल्लेखनीय हैं। इतिहास से संबंधित रचनाओं के परिचय की दृष्टि से ढोला मारू रा दूहा तथा कवि राव बख्तावर कृत केहर प्रकाश और सामान्य व्यक्तियों से संबंधित रचनाओं में प्रेमपत्री रा दूहा, बाँकीदास लिखित हेमरोट छत्तीसी तथा इसी प्रकार की अन्य स्फुट रचनायें उल्लेखनीय हैं। इन रचनाओं में बाँकीदास की भमाल राधिका सिख नख वर्णन और हेमरोट छत्तीसी, जिनका विषय कि प्रधानतया सिख नख वर्णन है, के अतिरिक्त सभी रचनाओं में शृंगार रस का परिपाक मिलता है।

२०६—साहित्यिक महत्व की दृष्टि से कल्लोल, महाराज पृथ्वीराज, कविराजा बाँकीदास और कविराव बख्तावर की रचनायें विशेषता अवलोकनीय हैं। ढो० मा० दू० में रति का भावपक्ष लौकिक है। कवि ने ढोला मारवणी के प्रेम का विकास अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से कराया है। दोनों के प्रेम का बीज उनकी बाल्यावस्था में व्याह होने पर होता है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि मारवणी के युवती होने पर उसके पति की चर्चा उसके सम्मुख अवश्य हुआ करती रही होगी। फलतः. वह स्वप्न में अपने पति का दर्शन करती है और विरह की पूर्वराग अवस्था को प्राप्त होती है। दूसरी ओर ढोला और मालवणी के व्याह के कारण, ढोला और मारवणी के संयोग में बाधायें उपस्थित होती हैं। मालवणी पति से वियुक्त होने पर विप्रलंभ की एकादश अवस्थाओं की यातनाओं को सहन करती है, जिनका उल्लेख किया जा चुका है। अंत में ढोला से मारवणी और मालवणी दोनों का संयोग होता है। कहना न होगा कि कवि ने अपने काव्य में संयोग और वियोग दोनों के ही सुन्दरतम मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित कर कला कुशलता का परिचय दिया है। रस के कलात्मक पक्ष की दृष्टि से इसमें स्थायीभाव रति के अतिरिक्त ३३ संचारी भाव[1], आलंबन विभाव के रूप में ढोला तथा उसकी दोनों पत्नियाँ, उद्दीपन विभाव के रूप में सखियाँ, नायिका का सुसज्जित होना, क्रीड़ा करना, परस्पर हास विनोद करना और सरस आलाप इत्यादि और अनुभवों में स्नेह-स्निग्ध परस्पर अवलोकन, प्रेमपूर्ण वार्तालाप, चुंबन, आलिंगन, रोमांच, स्वेद प्रभृति सभी उपादान प्रत्यक्ष अथवा सांकेतिक रूप में संघटित हैं। यहाँ यह भी बता देना अप्रासंगिक न होगा कि कवि विप्रलंभ शृंगार की दृष्टि से

---

१. संचारी भाव—शारीरिक अवस्था के निर्देशक—ग्लानि, मद, श्रम, आलस्य, जड़ता, मोह, अपस्मार, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध, उन्माद, व्याधि, मरण (१३); यथार्थ भावना प्रधान—औत्सुक्य, दैन्य, विषाद, हर्ष, धृति, चिन्ता, निर्वेद (७); स्थायी भाव के मूलस्वरूप —शङ्का, हास, अमर्ष, गर्व (५); ज्ञानमूलक मनोऽवस्था संबंधी—मति, स्मृति, वितर्क, अवहित्था (४); मिश्रित भावना संबंधी—व्रीड़ा, असूया (२); और भावना को तीव्र करने वाले—चपलता, आवेग, उग्रता (३)।

मालवणी और संयोग श्रृंगार की दृष्टि से मारवणी के रूप चित्रण में पूर्णतया सफल है।

ढो० मा० दू० का नख-शिख-वर्णन भी अत्यन्त आकर्षक है। यह नख-शिखवर्णन वीसू चारण के द्वारा किये गये मारवणी रूप वर्णन (दो० सं० ४५१-४८४) के अन्तर्गत विशेषतया दर्शनीय है। यह नखशिख वर्णन यद्यपि रीति-कालीन नखशिख वर्णन से बहुत पूर्व का है किन्तु उससे किसी भी दशा में उन्नीस नहीं है। नवीनता अथवा मौलिकता की दृष्टि से 'कटि करल' (मुष्टिग्राह्य), 'डींमू लंक', 'नासिका दीप सिखा जिसी' और मारवणी का 'कसतूरी कड़ि केवड़ों मसकत जाय महक्क' होना विशेषतया उल्लेखनीय है।

२०७—वेलि क्रिसन रुक्मिणी री के प्रेम में अलौकिकता अधिक है। उसमें रुक्मिणी के हृदय में रति भाव का उदय केवल अध्ययन के आधार पर होता है। वह अपने जन्म-जन्मान्तर के संसर्ग की प्रेरणा से कृष्ण के पास पत्र भेज देती है। इन्हीं स्थलों में वह विप्रलंभ के पूर्वराग की अवस्था को प्राप्त होती है। उनके पत्र के आधार पर कृष्ण आकर उनका हरण कर उन्हें द्वारिकापुरी ले जाते हैं और व्याह कर लेते हैं। इस प्रकार रुक्मणी और कृष्ण का संयोग होता है। कृष्ण-रुक्मिणी का यह संयोग वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक, वास्तविकता के निकट, मनो-विज्ञान सम्मत और वेलि का सुन्दरतम स्थल है।

रसात्मकता की दृष्टि से पृथ्वीराज ने संयोग श्रृंगार के इस वर्णन में रतिभाव के अतिरिक्त ग्लानि, मोह, औत्सुक्य, दैन्य, विषाद, हर्ष, धृति, चिंता, शंका, मति, स्मृति, व्रीड़ा, चपलता, आवेग, आदि व्यभिचारी भावों, आलंबन विभाव में कृष्ण और रुक्मिणी, उद्दीपन विभाव में नायक की सखियाँ, नायिका का अलंकरण, दृष्टि विनिमय, क्रीड़ा, पारस्परिक हास और विनोद तथा सरस आलाप प्रभृति एवं अनुभावों में कृष्ण का सेज द्वारा चित्र अटन, स्नेह, स्निग्ध पारस्परिक अवलोकन, चुँबन, आलिंगन, रोमांच, स्वेद, कंप, स्वरभंग, निश्चेष्टता तथा प्रेमपूर्ण आलाप इत्यादि को स्थान दिया है। कवि श्रृंगार रस के संयोग पक्ष के चित्रण में अपूर्व रूप से सफल हुआ है।

पृथ्वीराज ने अपने इस ग्रन्थ में रुक्मिणी के रूप सौंदर्य का भी वर्णन किया है (छं० सं० २०-२७)। यह रूप वर्णन नखशिख वर्णन के परंपरागत उपमानों से ओत-प्रोत है और कवि की व्यक्तिगत सौंदर्य प्रशंसा की भावना का परिचायक है। अन्य स्थल पर भी कवि ने रुक्मणी की श्रृंगार क्रिया का वर्णन किया है (छं० सं० ८१-१००) जो कि उसके सौंदर्यानुभूति का अभिव्यंजक है।

२०८—ऊपर उल्लेख किये गये कवियों के श्रृंगार वर्णन से यह देखा जा चुका है कि उन्होंने श्रृंगार के अंतर्गत नखशिख वर्णन को स्थान दिया है। किन्तु

नख शिख वर्णन को स्वतन्त्र रूप से काव्य का विषय बनाने का श्रेय डिंगल साहित्य में केवल कविराजा बाँकीदास को प्राप्त है। उनकी श्रृंगार संबंधी दो रचनायें भमाल राधिका शिखनख वर्णन और हेमरोट छत्तीसी, इस दृष्टि से विशेषतया उल्लेखनीय हैं। लेखक का अनुमान है कि स्वतन्त्र रूप से नख शिख वर्णन संबंधी काव्य लिखने की प्रेरणा कवि ने रीतिकालीन कवियों से ग्रहण किया होगा।

प्रथम रचना में कविराजा ने, जैसा कि उसके नाम से सुव्यक्त है, राधा के मिस शिखनख वर्णन किया है। कवि ने इस रचना को अलौकिकता का स्पर्श आदि और अंत में अवश्य प्रदान किया है किन्तु वास्तव में शिख नख वर्णन का स्वरूप पार्थिव है। रचना के अधिकांश उपमान रूढिगत हैं यद्यपि यत्र-तत्र हमें कवि की नवीन भावनाओं के निदर्शन हो जाते हैं। केशों के वर्णन में वह लिखता है कि मानो वे 'हिए कांम पावक' का 'धुँवाँ' है (छं० सं० २)। 'कुसुमां गूँथी वेणी' के संबंध में वह कहता है कि मानों वे 'खीर समंद सांपड़ि (स्नान करने) नीसरी नागणि' हैं (छं० सं० ३)। दांतों के संबन्ध में उसकी उक्ति है कि वे 'वसीसां लच्छणां सही लिया अवतार' के प्रतीक हैं (छं० सं० ११)। कुचों के विषय में उसका कथन है कि वे 'दोय चकवा दुड़िया' (दुबके हुये) हैं (छं० सं० १७)। और 'सुच्छम रोमावलि' की व्याख्या उसने 'सिणगार रस री सांप्रति (प्रकट) विस्तार कियों वेल' द्वारा किया है (छं० सं० १८)।

राधिका के रूप सौंदर्य के वर्णन में कवि ने विभिन्न प्रदेशों के स्त्रियों के विविध अंगों की विशिष्टता की ओर संकेत किया है जिसे पढ़कर हमें बरबस देव कवि की तत्सम्बन्धी रचना का स्मरण हो आता है। उसके अनुसार राधिका की कटि, उरू, उरज, केश और नितंब क्रमशः करनाटक, उत्कल, गुजरात, केरल अथवा तिरहुत अथवा कच्छ और तैलंग की रमणियों के सदृश हैं तथा उनके शरीर की सुवास के समक्ष सिंहलद्वीप की कामिनियों के शरीर की सुगन्धि तुच्छ हैं (छं० सं० २२)। और बाँकीदास के निम्नलिखित अवतरण में—

> **सहज ललाई सांपरत, प्रीतम प्यारी पाय।**
> **निरखे भरमै नायणी, जावक ठे मिलि जाय॥**

तो स्पष्ट ही बिहारी के निम्नांकित दोहे—

> **कोहर सी एड़ीन की लाली देखि सुभाय।**
> **पांव महावर देन को आप भई वेपाय॥**

के भाव की छाया है।

२०६—कविराजा की इतर रचना हेमरीट छत्तीसी में (दो० सं० १७-३६) पर्यन्त ऊमरकोट की पद्मिनी स्त्रियों के रूप सौंदर्य का वर्णन है जो कि नख शिख

वर्णन की शैली पर लिखा गया है। इस रचना में केवल दो स्थलों पर नवीनता की झलक मिलती है। एक तो वह स्थल है जहाँ कि कवि ललाट की उपमा अष्टमी के चन्द्र से देता है और द्वितीय वह स्थल है जहाँ कि वह कामिनियों के पूर्णिमा के चन्द्र को चीर कर निकाले जाने का उल्लेख करता है (क्रमशः दो० सं० २४ और ३०)। भावाभिव्यंजना की दृष्टि से इस रचना में कोई और विशेषता नहीं दिखाई देती।

२१०—केहर प्रकाश में कमल प्रसन्न के हृदय में कुंवर केसरी सिंह के प्रति होने वाले प्रेम का प्रस्फुटन और उसका विकास कवि राव बख्तावर ने अत्यन्त सूक्ष्म एवं सुंदर ढंग से दिखाया है। कमल के हृदय में केसरी सिंह के प्रति राग का उदय एक सन्यासिनी द्वारा उसकी रूप प्रशंसा सुनकर होता है। वह अनुराग क्रमशः स्वप्न-दर्शन, चित्र दर्शन और प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा पल्लवित और पुष्पित होता है। कहना न होगा कि इस क्रमिक प्रेम के विकास द्वारा कवि ने पूर्वानुराग की अवस्था का मनोहर अभिव्यक्ति किया है। कमल प्रसन्न के सौंदर्य एवं उसकी नृत्य कला को देखकर कुंवर भी उसकी ओर आकृष्ट होता है। फलस्वरूप दोनों का मिलन होता है। दोनों के संयोग का कवि ने सुंदर तथा मर्यादित वर्णन किया है। कमला की रूपराशि दोनों को अनेक संकटपूर्ण परिस्थितियों में उलझा देती है किन्तु उन संकटों पर विजय करके वे सदैव के लिये एक-दूसरे के हो जाते हैं।

संपूर्ण रचना के १० प्रकरणों में केवल जांगलू एवं मिलण प्रकरणों में श्रृंगार रस का कवि ने विशेष चित्रण किया है जिसमें कि उसे पर्याप्त सफलता मिल सकी है। शेष रचना में केवल कहीं-कहीं श्रृंगार का प्रासंगिक उल्लेख है। वस्तुतः रचना में अन्य अनेक प्रसंगों के आ जाने के कारण केवल कथित दो प्रकरणों को छोड़कर काव्य का श्रृंगारिक पक्ष अत्यन्त विकृत एवं दबा सा है।

२११—इस प्रकार श्रृंगारिक काव्य के उपर्युक्त चारों प्रमुख काव्यकारों की रचनाओं के पर्यवेक्षण के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इन कवियों का श्रृंगार वर्णन आध्यात्मिक कम, पार्थिव अधिक है। आध्यात्मिकता अथवा धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर भी जो श्रृंगारिक काव्य रचा गया है उसमें भी लौकिक पक्ष का ही प्राधान्य है। इस कोटि के काव्य के केन्द्र-विंदु राधा, रुक्मिणी और कृष्ण हैं। शेष समस्त रचनायें नरकाव्य से संबंधित हैं।

२१२—डिंगल के श्रृंगार संबंधी काव्य की विशेषता यह है कि उसमें ऐहिकता के होते हुये भी सामाजिक मर्यादा की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं किया गया हैं। साधारण रूप से अति ऐन्द्रिकता अथवा अश्लीलता का समावेश नहीं के बराबर हुआ है, यद्यपि इसके अपवाद अवश्य उपलब्ध होते हैं। सच तो यह है कि डिंगल-

साहित्य के कवियों ने भी शृंगार एवं शृंगार रस का स्वाभाविक और सांगोपांग निरूपण किया है। नायक-नायिकाओं के सुंदर रूपचित्र और नख शिख वर्णन आदि की मनोमुग्धकर तथा मौलिक अभिव्यंजना डिंगल के शृंगारिक काव्य में विभिन्न बहुमूल्य मणियों की भाँति जटित हैं।

शृंगार विषयक उपलब्ध कृतियों का आगे के पृष्ठों में दिया गया संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण अवलोकनीय है।

ग्रन्थ-परिचय

२१३ ढोला मारू रा दूहा (प्रका०)—यह कल्लोल नामक कवि कृत रचना है। कुछ विद्वान् इसे कल्लोल की कृति न मान कर अज्ञात कवि द्वारा विरचित होना स्वीकार करते हैं। ग्रंथ का निर्माण काल सन् १४७३ ई० है[1]। इसका विषय मालवणी और ढोला तथा ढोला और मालवणी का प्रेम है। रचना के प्रमुख पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति प्रतीत होते हैं किन्तु इनकी घटनाओं और वर्णनों में कल्पना का पुट विशेष रूप से होने के कारण उनकी ऐतिहासिकता पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। इसके संपादकों ने मूल रचना के रूप में ६७४ दोहों सोरठों का होना स्वीकार किया है। इसकी विस्तृत परीक्षा अध्याय १ में की गई है।

२१४ वेलि क्रिसन रुक्मिणी री (प्रका०)—यह बीकानेर नरेश रायसिंह के अनुज महाराज पृथ्वीराज राठौड़ द्वारा विनिर्मित है। इसका र० का० अंतिम दोहले के आधार पर सन् १५८० ई० है[2]। रुक्मिणी और श्रीकृष्ण का प्रेम रचना का विषय है। यह डिंगल के शृंगार साहित्य का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ-रत्न है। यह ३०५ दोहलों में समाप्त हुआ है[3]। इसका विस्तृत परिचय अध्याय १ में दिया गया है।

२१५ रुक्मिणी हरण (अप्र०)—यह ईडर राज्य के लीलछा ग्रामवासी सांया झूला की रचना है। इसकी निश्चित रचना तिथि तो ज्ञात नहीं है किन्तु यह निस्संदिग्ध है कि ग्रंथ सन् १५७५-१६४६ ई० के मध्य रचा गया है[4]। इसका विषय रुक्मिणी और कृष्ण का प्रेम तथा परिणय है। यह वर्णन-प्रधान रचना है। इसके छंदों की संख्या ४३६ है[5]।

२१६ राधा किसन जी रा दूहा (अप्र०)—यह जोगीदास नामक कवि द्वारा प्रणीत है। इसका रचना काल सन् १६५३ ई० है[6]। यह ग्रंथ भ्रमरगीत विषयक

१—पनरह से तीसे बरस कथा कही गुण जांण।
वदि वैसाखे वार गुरु, तीज जाण सुभ वांण॥

रा० भा० सा०, पृ० १०१।

२—वस अकल (७), गुण (३), अंग (६), ससी (१), संवति।

३—अ० ६५-१११ (अध्याय १)।

४—सन् १५७५-१६४६ ई० दोनों तिथियाँ क्रमशः कवि के जन्म और मृत्यु की हैं।

५—रा० भा० सा०, पृ० १३२ तथा अ० ८१-६१ (प्रा०)।

६—अ० सा० पु० बी० की प्रति।

है। इसमें ८६ दोहे हैं। इस रचना के लिपिकार ने इसे जोगीदास रा दूहा नाम दिया है[1]।

२१७ **प्रेम पत्री रा दूहा (अप्र०)**—इसके रचयिता का नाम अज्ञात है। इसका र० का० सन् १७३१ ई० है[2]। इसमें एक वियोगिनी ने अपने प्रियतम के प्रति अपने हृदय की अनुभूति का निवेदन किया है। इसमें ७१ छंद हैं[3]।

२१८ **झमाल राधिका सिख नख वर्णन (प्रका०)**—यह रचना कविराजा बाँकीदास आसिया द्वारा विनिर्मित है। इसका रचना काल सन् १७६०-१८३३ ई० के लगभग है[4]। इसमें कवि ने राधिका के व्याज से नायिका के समस्त अवयवों का उल्लेख किया है। इस रचना में २७ झमाल छंद हैं[5]।

२१९ **हेमरोट[6] छत्तीसी (प्रका०)**—यह भी बाँकीदास की कृति है। इसका रचना काल भी सन् १७६०-१८३३ ई० के आस-पास अनुमान किया जा सकता है। उमरकोट के स्त्री-पुरुषों के वर्णन में श्रृंगार रस का श्रेष्ठ निरूपण कवि ने किया है। इसमें ४० दोहा छंद हैं[7]।

२२० **चंद्र दूषण दर्पण (अप्र०)**—इसका प्रणयन भी बाँकीदास ने किया है। इसके रचना काल की समस्या भी उपरोक्त रचनाओं के समान है। यह विप्रलंभ श्रृंगार सम्बन्धी रचना है। इसमें वियोगिनी ने चन्द्र के दोषों का वर्णन किया है[8]।

२२१ **केहर प्रकाश (प्रका०)**—यह मेवाड़ राज्य के बसी ग्रामवासी बख्तावर जी द्वारा विरचित है। इसका रचनाकाल सन् १८७९ ई० है[9]। इस रचना का विषय कमलप्रसन्न नामक वेश्या तथा उसके प्रेमी केसरीसिंह की प्रेम कथा है। इसमें १४८६ छन्द हैं तथा उनके अतिरिक्त बीच-बीच में गद्य भी सम्मिश्रित हैं[10]।

१—प्र० १३९-४० (प्रका०)।

२—संवत् १७८८...ठासी ये आसुभास मझार।
सुदि तेरस पष ऊजलो, वाचंता हुवै जयकार ॥

३—अ० सा० पु० वी की प्रति।

४—अ० ५६ (अध्याय २)।

५—बाँ० ग्रं०, भाग ३, पृ० ३५-३७ (भूमिका) तथा पृ० ३०-४३।

६—हैमरोट हमीरकोट, (हमीर को उमर भी कहते हैं) ऊमरकोट।

७—बाँ० ग्रं० भाग ३, पृ० ६१-६६ (भूमिका) तथा पृ० ८७-९७।

८—वही, पृ० ४ (भूमिका)।

९—'उगणी से छत्तीस औ शुक्ल तीज वैशाख' केहर प्रकाश, पृ० ३।

१०—रा० भा० सा०, पृ० २४७ तथा केहर प्रकाश की भूमिका।

२२२—ऊपर जिन कृतियों का संक्षिप्त विवरण दिया जा चुका है, उनके अलावा कुछ और भी शृंगार रस की रचनायें प्राप्य हैं किन्तु इनके रचना काल ज्ञात नहीं हैं तथा अधिकांश के रचयिताओं के नाम भी अज्ञात हैं। इन रचनाओं में वीरदास खिड़िया द्वारा प्रणीत झमाल,[१] ऊजली नामक चारणी द्वारा रचित जेठवा के दूहे,[२] पदमण कृत प्रीत पंचाल्यो,[३] केसोदास द्वारा निर्मित भमर बत्तीसी,[४] बाघरा के दूहे, नागड़ा के दूहे, पनरे तिथि रा दूहा, सातवार रा दूहा, परसतावीक रा दूहा, बारै मासा रा दूहा परिहां तथा इसी नाम की अन्य रचनाएँ[५] विशेषतया उल्लेखनीय हैं। ये समस्त रचनायें अद्यावधि अप्रकाशित हैं।

१—इसकी एक प्रति अ० सं० पु० बी० में है।

२—रा० भा० सा०, पृ० ६०, रा० दू० (क० ना०) पृ० १७, अ० स० पु० बी० की प्रति।

३—अ० स० पु० बी० की प्रति।

४—वही।

५—अ० स० पु० बी० की तथा पु० प्र० जी० की प्रतियाँ।

घ—भक्तिकाव्य

विवेचन

२२३—डिंगल साहित्य में भक्ति विषयक काव्य का सृजन तो अवश्य हुआ है किन्तु परिमाण में यह अल्प और सीमित है। चारणों तथा भाटों का इस दिशा में ध्यान न दे सकना परिमाण की इस अल्पता और सीमिता का प्रमुख कारण है जिसके मूल में उनकी जीवन संबंधी विशिष्ट परिस्थितियाँ हैं। कहना न होगा कि डिंगल के कवि विशेषतया राजा-महाराजाओं के संपर्क में रहने वाले थे। फलतः भक्ति जैसी वस्तु, जिसके लिये सांसारिक आकर्षणों से ऊपर उठकर साधना करने की अपेक्षा थी, उनके लिये संभवनीय न थी। तन्मय होकर चिंतन एवं मनन करने के लिये उनके पास अवकाश न था। उन्हें तो आश्रयदाताओं के दैनिक जीवन, गति-विधि, कार्य-क्रम और प्रत्येक संकेत का ध्यान रखना पड़ता था। व्यावहारिकता के दृष्टिकोण से यह वांछनीय भी था। साथ ही राजस्थानी नरेशों का जीवन तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों द्वारा सुनियंत्रित था। अतएव, यदि वे राजाश्रित कवि उन्हें भक्ति और ज्ञान संबंधी रचनायें सुनाते तथा विश्व के विषय माया जाल को तोड़कर वैराग्य ग्रहण करने एवं ईश्वरोन्मुख होने का उपदेश देते तो वह केवल बेवक्त की शहनाई तो होती ही, साथ ही नक्कारखाने में तूती की आवाज का होना चरितार्थ करती। वस्तुत: समय की माँग नितान्त भिन्न थी। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि डिंगल के काव्य निर्माताओं का भक्ति साहित्य में सहयोग न देने का प्रमुख कारण अनुकूल वातावरण का अभाव था।

राजस्थान के राजा-महाराजाओं में, जो कि वहाँ की तात्कालिक जनता के अधिनायकों के रूप में प्रतिष्ठित थे, वीरता और साहस का अभाव न था। केवल पारस्परिक वैमनस्य, द्वेष और फूट के परिणाम स्वरूप उन्हें नीति कुशल मुसलमान शासक वर्ग की राजनीति का अवांछनीय अंकुश स्वीकार करना पड़ा था। अस्तु, डिंगल के भक्ति साहित्य के प्रादुर्भाव के मूल में पराजय के कारण आध्यात्मिक उत्कृष्टता का प्रदर्शन न था जो कि प्रायः भक्ति साहित्य के जन्म का कारण स्वीकार किया जाता है। जिन कवियों ने भक्ति साहित्य की सर्जना की है उसे स्वान्तः सुखाय ही प्रधानतया समझना चाहिये, यद्यपि लोक कल्याणाय की भावना स्वतः उसके अंतर्गत अंतर्हित है। इन काव्यकारों की ये रचनायें लौकिक प्रलोभनों एवं प्रभावों से परे होकर लिखी गई हैं।

२२४—डिंगल-भक्तिकाव्य में भी निर्गुण और सगुण दोनों उपासना पद्धतियाँ प्राप्य हैं। निर्गुण धारा का प्रस्फुटन तो अवश्य हुआ है किन्तु इसके विकास का नितान्त अभाव है। इस धारा में महात्मा ईश्वरदास का नाम केवल विशेषतया उल्लेखनीय है। सगुण धारा में राम शाखा तथा कृष्ण शाखा के अवतार-वाद की कल्पना विद्यमान है। इनके अतिरिक्त अन्य देवी देवताओं में गंगा जी के भक्ति से संबंधित रचनायें भी उपलब्ध होती हैं। इन कवियों के भक्ति की प्रेरणा के पीछे स्वामी-सेवक का भाव साधारणतया सन्निहित है। इस भक्ति काव्य में भक्ति की मूल और प्राथमिक प्रेरणायें नाम-माहात्म्य, गुरु की महत्ता, भक्ति भाव की प्रधानता, अहंभाव का परित्याग और शील तथा सदाचार की प्रवृत्ति भी उपलब्ध है। इन कवियों ने भक्ति को सरल और निश्छल हृदय से अपनाया है। अतएव इनकी रचनाओं में मस्तिष्क पक्ष अथवा दूसरे शब्दों में दार्शनिकता का समावेश सामान्यतः नहीं हुआ है।

२२५—ऊपर कहा जा चुका है कि डिंगल-भक्तिकाव्य की निर्गुण धारा के अंतर्गत महात्मा ईश्वरदास का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। इनकी प्रसिद्धि का श्रेय मुख्यतः भक्त के रूप में, इनके 'हरिरस' को प्राप्त है। भक्ति काव्य की दृष्टि से यह इनकी सर्वाधिक प्रौढ़ रचना है। इसमें कवि ने कर्म, उपासना और ज्ञान का सुंदर सामंजस्य उपस्थित किया है। कर्म की मीमांसा करते हुये कवि ने कई अपने आंतरिक खोज पूर्ण प्रश्न उपस्थित किये हैं। वह प्रश्न करता है कि हमारे साथ कर्म का बंधन क्यों है। पाप-पुण्य का बंधन हमारे साथ भगवान ने लगाया अथवा जीवात्मा ने। और उत्तर में वह कहता है कि जीवात्मा को उत्पन्न कर भगवान ने पाप पुण्य को उसके साथ पार्श्व रक्षक के रूप में लगा दिया है। वह स्पष्ट रूप से कहता है कि जीवात्मा की सृष्टि भगवान ने किया है। अस्तु, ऊँच-नीच, धनी-दरिद्र के लिये भाग्य को दोषी ठहराना निष्प्रयोजन है। वह भगवान से प्रार्थना करता है कि वह कर्म बंधन या प्रारब्ध को मिथ्या कर दे। उसकी अन्य समस्या है कि प्रथम जीवात्मा की सृष्टि हुई अथवा कर्मों की तथा आदि का क्या अभिप्राय है। और जीवात्मा में उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणी का विभाजन क्यों है। इनके उत्तर में उसे एक ही वस्तु ज्ञात होती है कि केवल ईश्वर आदि है। सृष्टि के आदि में केवल वही था और कुछ भी नहीं। आत्मा और कर्म सादि हैं। अपने कर्म मीमांसा संबंधी समस्या को अधिक सुलझाने में असमर्थ होकर वह स्वीकार कर लेता है कि भगवान से कर्मों की गति पूंछना उसकी मूर्खता है। वस्तुतः भगवान की गति को कोई नहीं जानता।

उपासना के क्षेत्र में आकर वह नाम महिमा पर विशेष बल देता है। नाम को वह जन्म-मरण की औषधि मानता है। नाम के स्मरण के लिये वह कहता है

कि अज्ञान में भी उसका स्मरण अपेक्षित है क्योंकि अनंत का एक नाम पापों का नाश करने वाला है। नाम के स्मरण और जप द्वारा ही मुक्ति संभव है। अस्तु, भगवान का पूजन, गुण कथन आदि सभी आवश्यक हैं। नाम की महिमा के उल्लेखार्थ वह भगवान के विभिन्न अवतारों का वर्णन करता है जिनमें कि राम और कृष्ण के अवतार संबंधी प्रसंग सर्वाधिक हैं। इन अवतारों का वर्णन करते हुये वह स्पष्ट कहता है कि भगवान के अवतारों की कोई सीमा नहीं। उनको कोई भी नहीं जानता।

अंत में वह ज्ञान के गूढ़ विषय पर आता है। वह कहता है कि शास्त्र, वेद और पुराण में बताया गया है कि नामाक्षर सारभूत है। भगवान के ज्ञान प्राप्त करने के लिये वेदादि का अध्ययन वांछनीय है। वह नेति है। उसकी व्याख्या करना संभव नहीं है। उसने विराट के द्वारा ब्रह्मा की सृष्टि की। उसी ने विष्णु की सृष्टि की। वह आदि स्वरूप है। उसके जन्म के विषय में ब्रह्मा और शिव को भी संदेह है। उसने अनंत बार ब्रह्मा विष्णु आदि को जन्म दिया।

ईश्वरदास को ब्रह्म संबंधी ज्ञान उनके गुरु पीतांबर से प्राप्त हुआ था, यह उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है (छं० सं० ६)। गुरु के ज्ञान द्वारा ही उन्हें भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हुआ था जिसका कि उल्लेख उन्होंने हरिरस में सविस्तार किया है। फलतः स्वामी और सेवक का एकीकरण हो गया। उन्होंने अपने में अजपा गायत्री के जप का अनुभव किया। भगवान की ध्वनि को श्रवण किया। उनको यह भी ज्ञान हुआ कि भगवान का पूजन तो स्वयमेव हो रहा है। उसका पूजन अन्य कोई कैसे कर सकता है। और इस प्रकार ईश्वरदास को परमानंद की उपलब्धि होती है। किशोरसिंह बार्हस्पत्य जी के शब्दों में 'इस समय के निःसृत कवि के उद्‍गार बहुत अंश में प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले स्वामी रामतीर्थ के उद्‍गारों से होती है'।

महात्मा ईश्वरदास का हरिरस भक्ति रस की दृष्टि से एक पूर्ण सफल रचना है। इसमें भक्ति रस का स्थायी भाव ईश्वरानुराग, व्यभिचारी भाव औत्सुक्य, हर्ष, गर्व, निर्वेद, मति, आलंबन विभाव ईश्वर तथा उसके अवतार, ईश्वर के अद्‍भुत कार्य, अनुपम गुणावली, तथा अनुभाव के रूप में रोमांच, गद्‍गद वचन प्रभृति सभी उपलब्ध हैं।

२२६—सगुण धारा के अंतर्गत राम भक्ति शाखा में पृथ्वीराज राठौड़ कृत दशरथ रावउत, माधोदास दधिवाड़िया विरचित राम रासो, कल्याणदास भाट विनिर्मित गुण गोव्यंद, मनसाराम द्वारा लिखित रघुनाथ रूपक गीतांरो और किसन जी आढा प्रणीत रघुवर जस प्रकास के नाम उल्लेखनीय हैं। पृथ्वीराज ने दशरथ रावउत में श्रीराम के प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति के प्रदर्शनार्थ ५० के लगभग

सोरठे लिखे हैं जिसमें उनके जन्म के अतिरिक्त कुछ लीलाओं का वर्णन किया है। राम रासो एक बृहद् ग्रंथ है। इसमें राम कथा का सविस्तार वर्णन है। गुण गोव्यंद में आंशिक रूप में रामावतार की कथा वर्णित है। रघुनाथ रूपक गीतांर में प्राप्य राम कथा पर हम यथेष्ठ प्रकाश अध्याय १ में डाल चुके हैं। रघुवर जस प्रकाश भी राक कथा से संबंधित एक महत्वपूर्ण रचना है।

इस धारा के प्रतिनिधि कवियों में माधोदास दधिवाड़िया, मनसाराम तथा किसन जी आढ़ा प्रतीत होते हैं। इनमें प्रथम तथा तृतीय की रचनायें महत्वपूर्ण होते हुये भी अद्यावधि अप्रकाशित है और जब तक उनकी रचनायें प्रकाशित नहीं हो जातीं उनके संबंध में, तुलनात्मक अध्ययन के बिना, किसी निश्चित मत का प्रतिपादन संभवनीय नहीं है। वैसे राम भक्ति संबंधी काव्य की रचना करने वालों में मनसाराम सर्वाधिक ख्याति लाभ कर चुके हैं। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक सा प्रतीत होता है कि उपरोक्त तीनों प्रमुख कवियों की रचनायें भक्ति एवं भक्ति रस की दृष्टि से पूर्ण सफल हैं।

२२७—कृष्ण शाखा की रचनायें डिंगल भक्ति साहित्य में सब से अधिक हुई हैं। इनमें विशेष उल्लेखनीय पृथ्वीराज राठौड़ कृत वेलि क्रिसन रुक्मिणी री, दसम भागवत रा दूहा तथा वसुदेरावउत, माधोदास दधिवाड़िया प्रणीत गजमोष, सांया भूला निर्मित नाग दमण, कल्याणदास भाट का गुण गोव्यंद, सोढी नाथी लिखित भगत भाव रा चंद्रायणा, खेतसी सांदू विरचित भाषा भारथ और कविराजा बाँकीदास विरचित कृष्ण चंद्रिका एवं झमाल राधिका नख शिख हैं।

२२८—महाराजा पृथ्वीराज भगवान कृष्ण के अनन्य भक्त थे। कृष्ण की भक्ति से सम्बन्धित वेलि क्रिसन रुक्मिणी री उनकी सबसे अधिक प्रौढ़ रचना है। वह भागवत के दशम स्कंध के ५२-५३ तथा ५४-५५ अध्यायों की कथा पर आधारित है। उसमें प्राप्य अलौकिक कथा का विस्तृत विवेचन अध्याय १ में प्रस्तुत किया जा चुका है। द्वितीय रचना दसम भागवत रा दूहा का विषय भी कृष्ण की अलौकिक लीलाओं का गान है। तृतीय रचना वसुदेरावउत में कवि ने अपनी अनुभूति को व्यक्त किया है। उनका कथन है कि कृष्ण के पूजन, कीर्तन, और गुणानुवाद से उनका जीवन सफल हो गया। इसके अतिरिक्त उन्होंने उसमें उनकी नागदमन, गज-गोक्ष तथा वंशी-वादन आदि संबंधी लीलाओं का गान किया है और मनुष्य को भगवद्भक्ति में विलंब न करने के लिये चेतावनी दी है।

२२६—माधोदास के गज मोष का विषय नाम से ही प्रकट है। इसी प्रकार सांया भूला ने कृष्ण के नाग नाथने की कथा को उठाया है। इसमें कृष्ण की यौवनावस्था, यशोदा के पुत्र-प्रेम तथा गोपियों के कृष्ण-प्रेम एवं कालिय मर्दन का

मनोरम वर्णन हुआ है। गुण गोव्यंद में भी आंशिक रूप में कृष्णावतार की कुछ लीलाओं का उल्लेख है। भाषा भारत एक अत्यन्त बृहद् ग्रंथ है। इसमें महाभारत के अष्टादश पर्वों का अनुवाद किया गया है। इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण का लीलागान इसमें भी प्रस्तुत किया गया है। कृष्णचन्द्र चंद्रिका में गोपी-कृष्ण, राधा-कृष्ण तथा कुछ इतर अलौकिक लीलाओं का वर्णन है। झमाल राधिका शिख नख वर्णन में यत्र-तत्र युगल स्वरूप राधाकृष्ण का संकेत है। कहना न होगा कि इस शाखा की रचनाओं में विविधता अधिक है। इस शाखा के कवियों में सर्वाधिक प्रसिद्धि महाराज पृथ्वीराज को प्राप्त हुई है।

२३०—गंगाजी की भक्ति से संबंधित केवल दो कवियों, महाराज पृथ्वीराज और कविराजा बाँकीदास की रचनायें प्राप्त होती हैं। इन दोनों ही कवियों की रचनाओं का नाम 'गंगा लहरी' है। पृथ्वीराज ने अपनी गंगा लहरी में गंगावतरण की कथा का उल्लेख किया है। उन्होंने गंगा की महिमा का वर्णन करते हुये कहा है कि उनका यश सप्तद्वीपों, नवखंडों, चतुर्दिकों और चतुर्दश भुवनों में व्याप्त है। वे पापों का प्रक्षालन करने वाली तथा मोक्षदायिनी हैं। वह शिव के मस्तक की शोभा हैं और देवताओं की पूज्या भी। गंगा स्नान और सेवा के समक्ष जप, तप, तीर्थ, दान और योग तुच्छ है। वे नारायण के बराबर हैं। गंगाजला के नित्य आचमन न करने का परिणाम भूत होना है। और अंत में कवि ने कीट तथा कंकड़ बन कर गंगा के निकट निवास करने की इच्छा प्रकट की है एवं अपने को मोक्ष प्रदान करने की प्रार्थना की है।

२३१—बाँकीदास ने अपनी गंगा लहरी में जो भाव प्रकट किये हैं वे पृथ्वीराज के विचारों से पर्याप्त साम्य रखते हैं। किन्तु साथ ही उनमें भावों की उत्कृष्टता भी है। बाँकीदास ने भी गंगावतरण की कथा का उल्लेख किया है किन्तु उन्होंने भागीरथी का उपकार भी स्वीकार किया है। उनके माहात्म्य का गान करते हुये, उन्होंने कहा है कि गंगाजल विष्णु चरण के सरोज का मकरन्द है। गंगा जहाँ भी गई वह स्थान तीर्थ बन गया है। शिव के नारायण होने का कारण गंगा स्नान बताया है। गंगा की पापहारिणी क्षमता को बाँकीदास ने भी स्वीकार किया है। परन्तु इस सम्बन्ध में उनका विशेष कथन है कि वे पल मात्र में जितना पाप हरण कर लेती हैं उतना संपूर्ण जन्म में भी कोई पाप संचय नहीं कर सकता। कवि ने उन्हें त्रिविध तापों को नष्ट करने वाली भी कहा है। गंगा की मोक्षदायिनी क्षमता का उल्लेख करते हुये उन्होंने बताया है कि वे सुरों-असुरों तक को मुक्ति प्रदान करती हैं। वह नाविक विहीन अनोखी नौका स्वरूपा हैं। और मनुष्य से उन्होंने गंगा स्नान करने को कहा है जिससे कि उसे बार-बार जन्म ग्रहण कर दुग्धपान न करना पड़े। शिव की मस्तक की शोभा के रूप में गंगा की प्रशंसा करते हुये बाँकीदास ने कहा है

कि औरों से अपनी पूजा कराने वाले अपावन साज शंकर वस्तुतः गंगा के प्रभाव के कारण ही पवित्र हैं। उन्होंने गंगा को त्रिदेवों की आदरणीया बताया है और नारायण के समान प्रभावशालिनी अंगीकार किया है। कवि ने स्वयं भी मीन बनकर गंगा के पास रहने की इच्छा प्रकट किया है। उन्होंने मानव मात्र को गंगा स्नान की शिक्षा प्रदान किया है। अन्त में उन्होंने यह सन्देह प्रकट किया है कि गंगा हरि के चरणों को पावन करने वाली हैं अथवा हरि चरणों ने उन्हें पवित्र किया है।

इस प्रकार पृथ्वीराज और बाँकीदास की गंगा लहरी के भावों की तुलना करने पर प्रथम को सरल और निष्कपट पाते हैं किन्तु द्वितीय की उक्तियों को विचित्रतापूर्ण। प्रथम व्यक्तिगत कल्याण के लिये अधिक प्रयत्नशील और विशेष प्रार्थी है किन्तु द्वितीय सर्वसाधारण के कल्याण के लिये विशेष उत्सुक है।

२३२—संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि डिंगल के भक्तिकाव्य में भक्ति एवं भक्ति रस का सम्यक्, सफल एवं सुन्दर निरूपण हुआ है। ये रचनायें यद्यपि संख्या में कम हैं तथापि इन रचनाओं में उपलब्ध भावाभिव्यंजना और रसात्मकता उच्चकोटि की एवं प्रभावपूर्ण है।

डिंगल-भक्तिकाव्य सम्बन्धी रचनाओं का संक्षिप्त विवरण आगे के पृष्ठों में अवलोकनीय है।

ग्रन्थ-परिचय

२३३ हरिरस (प्रका०)—इसका प्रणयन जोधपुर राज्य के माद्रेस ग्रामवासी महात्मा ईश्वरदास रोहड़िया ने किया है। इसकी निश्चित रचना तिथि तो ज्ञात नहीं है किन्तु यह निश्चित है कि यह सन् १५३८-१६१२ के मध्य रचा गया है[१]। सागरशायी श्री अखिलेश्वर का गुणानुवाद वर्णन रचना का विषय है। इसमें धर्म के तीनों अंगों—कर्म, उपासना और ज्ञान का उल्लेख है। इसके पदों की संख्या ३६० है[२]। हरिरस को संक्षिप्त करके कवि ने छोटा हरि रस नामक एक अन्य ग्रंथ भी निर्माण किया है[३] जो कि अभी अप्रकाशित है।

इनके अतिरिक्त बाल लीला, गुण भगवंत हंस, गरुड़ पुराण और गुण आगम प्रभृति ईश्वर विषयक रचनायें ईश्वरदास द्वारा लिखित हैं किन्तु साहित्यिक दृष्टि से ये विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं[४]। ये सभी अप्रकाशित हैं।

२३४ वेलि क्रिसन रुक्मिणी री—इसका विस्तृत परिचय अध्याय १ में दिया गया है।

२३५ दसम भागवत रा दूहा (अप्रा०)—यह बीकानेर के महाराजा रायसिंह के लघु भ्राता महाराज पृथ्वीराज राठौड़ की कृति है। इसका रचना काल कवि के श्रृंगार रस प्रधान ग्रंथ वेलि क्रिसन रुक्मिणी री के रचना काल सन् १५८० ई० के आस-पास समझा जा सकता है। ग्रंथ का विषय श्री कृष्ण की भक्ति है। इसमें १८४ दोहे हैं[५]।

२३६ दसरथरावउत (अप्रा०)—इसका अन्य नाम श्री रामचन्द्र जी रा दूहा है। इसके रचयिता भी पृथ्वीराज राठौड़ हैं। इसका रचना काल भी सन्

१—हरिरस की भूमिका 'महात्मा ईश्वर दास का जीवन चरित' रा० भा० सा०, पृ० ११५-१६।

२—हरिरस की भूमिका।

३—वही, (रा० सा० रू०, पृ० २२४) रा० हि० ह० ग्रं० खो०, भाग १ पृ० २७।

४—रा० भा० सा०, पृ० ११७, हरिरस की भूमिका, पृ० २२४।

५—स० म० उ० की प्रति, रा० हि० ह० ग्रं० खो० भाग १, पृ० ४१, रा० भा० सा०, पृ० १३०।

१५८० ई० के लगभग समझा जा सकता है। रामचन्द्र की स्तुति रचना का विषय है। इसमें लगभग ५० दोहे हैं[1]।

२३७ **वसुदेरावउत** (अप्र०)—इसका दूसरा नाम ठाकुर जी रा दूहा भी है। इसके भी प्रणयन कर्त्ता पृथ्वीराज राठौड़ ही हैं और इसका रचना काल भी सन् १५८० ई० के निकट स्वीकार किया जा सकता है। इसका विषय श्रीकृष्ण का गुण गान है। इसमें श्रीकृष्ण से संबद्ध अनेक मौलिक उक्तियाँ हैं। इसमें लगभग १६५ दोहे हैं[2]।

२३८ **गंगा लहरी** (अप्र०)—इसके इतर नाम जाह्नवी रा दूहा और गंगा जी रा दूहा है। यह भी सन् १५८० ई० के समीप रचित पृथ्वीराज राठौड़ की कृति है। इसका विषय श्री गंगा जी का महिमा-गान है। इसमें लगभग ८० दोहे हैं[3]।

२३६ **राम रासो** (अप्र०)—इसका नाम गुणराम रासो भी है। यह माधोदास दधवड़िया द्वारा प्रणीत रचना है। ग्रंथ का नि० का० सन् १७०७ ई० के लगभग है।[4] इसमें श्री रामावतार की कथा का सविस्तार वर्णन किया गया है। इसके छंदों की संख्या १८०० से अधिक है[5]।

२४० **गजमोष** (अप्र०)—यह माधोदास दधवड़िया की द्वितीय रचना है। इसका र० का० अनुमानतः सन् १७०७ ई० के आस-पास है। ग्रंथ का विषय श्रीकृष्ण द्वारा गजराज के मोक्ष की कथा है[6]।

२४१ **नागदमण** (अप्र०)—यह ईडर नरेश राव कल्याणमल के लीलछा ग्रामवासी कवि सांया भूला द्वारा विनिर्मित है। यह सन् १५७५-१६४३ ई० के मध्य का लिखा हुआ है। इसका विषय, जैसा कि नाम से ही प्रकट है, शेष नाग के मर्दन की कथा है। यह एक लघु खंड काव्य है। इसमें कृष्ण तथा नागराज के युद्ध का वर्णन चित्रोपम है। इसमें १२६ छंद (१२४ भुजंग प्रयात, ४ दोहे और १ छप्पय) हैं[7]।

१—अ० स० पु० बी० की ३ प्रतियाँ, रा० भा० सा०, पृ० १३०।

२—अ० स० पु० बी० की २ प्रतियाँ, रा० भा० सा०, पृ० १३०।

३—वही।

४—रा० हि० ह० ग्रं० क०, भाग १, पृ० १२०। स० भ० की० प्रति।

५—पु० प्र० जो० की २ प्रतियाँ, अ० स० पु० बी० की ३ प्रतियाँ, रा० भा० सा०, पृ० १४३।

६—अ० स० पु० बी० की प्रति, रा० हि० ह० ग्र० क० भाग १, पृ० (प० १७३-१७४।

७—अ० स० पु० बी० की ८ प्रतियाँ, स० भ० उ० की प्रति, रा० भा० सा०, पृ० १३३।

२४२ गुण गोविन्द (अप्र०)—यह मेवाड़ राज्य के समेला ग्रामवासी वाघ जी के पुत्र कल्याणदास की रचना है। इसका र० का० सन् १६४३ ई० है[1]। रामावतार तथा कृष्णावतार की विविध लीलाओं का वर्णन इसका विषय है। इसकी समाप्ति १६६ छंदों में हुई है[2]।

२४३ भगत भावरा चंद्रायणा (अप्र०)—यह सोढी नाथी नामक कवि द्वारा रचित है। इसका नि० का० सन् १६७३ ई० है[3]। रचना का विषय सीतापति श्री रामचन्द्र की भक्ति है। इसमें २१० छंद हैं[4]।

२४४ भाषा भारथ (अप्र०)—यह जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के आश्रित कवि खेतसी सांदू काव्योपनाम 'सीह' द्वारा लिखित है। इसका सृजन काल सन् १७३३ ई० है[5]। रचना का विषय महाभारत के १८ पर्वों का सारांश है। यह डिंगल-साहित्य की एक अनुपम कृति है। लिपिकार के कथनानुसार इसमें १२६०० छंद हैं[6]।

२४५ रघुनाथ रूपक गीतांरो (प्रका०)—इसका विस्तृत परिचय अध्याय १ में दिया जा चुका है।

२४६ गंगा लहरी (प्रका०)—यह कविराजा बाँकीदास द्वारा निर्मित है। इसका रचना काल अनुमानतः सन् १७६०-१८३३ ई० के आस-पास है। इसमें गंगा जी की स्तुति, गुणावली तथा मनोकामना की सिद्धि की प्रार्थना है[7]।

मोह मर्दन, कृष्ण चन्द्रिका तथा महाभारत छंदोंऽनुवाद बाँकीदास की अन्य भक्ति विषयक रचनायें हैं जो कि अप्रकाशित हैं।

१—सतरा सै संवतां वरीष पहिलैं मै बखांणं।
मास चैत सुद्दी दसमी पुष्य रविवार प्रमांणं ॥

२—स० भ० उ० की प्रति, रा० भा० सा०, पृ० १५७। रा० हि० ह० ग्रं० खो० भाग १, पृ० २६-२७।

३—संमंत सतरंसवत्रीस (१७३०) वरष को वासरे।
भजनाथी भगवंतहु बुध को वासरे ॥
मास जेठ शुदि त्रीज मणो भृगुवासरे।
भोज सुता कहतो भाव भगति विलासरे ॥

४—अ० स० पु० बी० की प्रति।

५—रा० भा० सा०, पृ० १८४।

६—वही, और रा० हि० ह० ग्रं० खो० भाग १, पृ० ६७-६८। स० भ० उ० की प्रति।

७—बाँ० ग्र० भाग २, पृ० १०८-११६ तथा भू० पृ० ३३-३६।

२४७ **रघुवर जस प्रकास** (अप्र०)—इसके रचयिता किशन जी आढा हैं। इसका रचना काल सन् १८२४ ई० है[1]। यह रघुनाथ रूपक गीतांरो के समान ही एक लक्षण ग्रंथ है जिसके उदाहरणों में रामावतार की कथा का वर्णन है[2]। यह ग्रंथ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुये भी अद्यावधि अप्रकाशित है।

२४८ उपरोक्त भक्ति संबंधी रचनाओं के अतिरिक्त अलू जी चारण (र० का० अनुमानतः १६ वीं शती ई० का अंत अथवा १७ वीं शती ई० का प्रारम्भ)[3] और ओपा जी आढा (र० का० सन् १८०३-३३ ई०)[4] तथा सेवादास (र० का० अज्ञात) कृत पिसण सिंगार जोग[5] उल्लेखनीय हैं। ये सभी रचनायें अप्रकाशित हैं।

१—रा० भा० सा०, पृ० २०६।

२—वही, तथा रा० हि० ग्रं० खो० भा० १, पृ० १०३।

३—रा० भा० सा०, पृ० १७, १२०।

४—वही, पृ० १६८।

५—अ० स० पु० बी० की प्रति।

रीतिकाव्य

विवेचन

२४६—डिंगल के रीति ग्रन्थ प्रणेताओं को उनके आलेखन की प्रेरणा कहाँ से मिली अथवा दूसरे शब्दों में, किस आधार पर इन्होंने इन ग्रंथों के रचने की परम्परा का प्रारम्भ किया, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। वैसे इस संबंध में लेखक का अनुमान है कि अपने पूर्ववर्त्ती संस्कृत, गुजराती और ब्रज आदि भाषाओं के लक्षण ग्रन्थों को देख कर ही इन्होंने अपने साहित्य के इस अंग की पूर्ति के निमित्त रीति ग्रंथों के निर्माण की चेष्टा किया है। डिंगल में रीति काव्य परम्परा से संबंधित प्रथम ग्रंथ सन् १६६४ ई० का मिलता है। यह प्रतापगढ़ राज्य के महारावत हरि सिंह के आश्रित कवि जोगीदास का लिखा हरि पिंगल प्रबन्ध है। इसे छन्द शास्त्र अथवा अधिक उपयुक्त, गीत शास्त्र का ग्रंथ कहा जा-सकता है, क्योंकि इसमें ६६ प्रकार के गीतों तथा अनेक छन्दों का प्रमुख रूप से लक्षण उदाहरण के साथ उल्लेख मिलता है। डिंगल के इतने अधिक गीतों का उल्लेख किसी ने भी नहीं किया है। इन ६६ प्रकार के गीतों का मूल उद्गम क्या है, यह वास्तव में खोज का विषय है। जो कुछ भी हो, गीतों की इस बड़ी संख्या को देखते हुये यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि डिंगल में जोगीदास के पूर्व भी कवियों ने इस ढंग के ग्रंथ अवश्य ही रचे होंगे। उनका उपलब्ध अथवा अनुपलब्ध होना एक इतर विषय है। जोगीदास के पश्चात् जो ग्रंथ इस दिशा में रचे गये उनकी गणना उंगलियों पर की जा सकती है।

२५०—हरि पिंगल प्रबन्ध के उपरांत लिखित द्वितीय ग्रंथ लखपत पिंगल अथवा लखपत गुण पिंगल है। इसके रचयिता हम्मीर रत्नू ने इसमें छन्दों एवं गीतों की अनेकानेक जातियों का वर्णन किया है। छंदों में वर्णिक, मात्रिक तथा गाहा छंदों के भेद तथा लक्षण उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। यह भी डिंगल के छंद-शास्त्र से संबन्धित एक वृहद् ग्रंथ है। कहना न होगा कि विषय की दृष्टि से दोनों रचनाओं का संबंध छंद शास्त्र से है।

२५१—डिंगल रीति काव्य की विशेष रूप से उल्लेखनीय रचना मनसाराम 'मंछ' विनिर्मित रघुनाथ रूपक गीतांरो हैं। इसका प्रमुख विषय डिंगल के गीत हैं। कवि ने इसमें ७२ प्रकार के गीतों का उल्लेख किया है। गीतों के निर्माण करने की रीति को बताने के लिये मंछ ने लघु, गुरु, दोषरहित वर्ण, दग्धाक्षर, शुभ-अशुभ गण और द्विगण जैसे प्रारम्भिक तत्त्वों का परिचय दिया है। ये तथा इस प्रकार

की अन्य प्राथमिक सूचनायें छंद शास्त्र के अध्ययन के प्रारम्भ करने वाले विद्यार्थियों के लिये ही वस्तुतः उपादेय हैं और यही कवि का अभीष्ट भी प्रतीत होता है।

इनके अतिरिक्त मंछ ने काव्यदोष, वयण सगाई, उक्ति, रस, दवावैत, वचनिका, जथा, निसाणी, और कुंडलिया का अपने विचार से यथेष्ट परिचयात्मक विश्लेषण लक्षण उदाहरण सहित प्रदान किया है। डिंगल साहित्य से अपरिचित विद्यार्थी के लिये इसमें अधिकांश वस्तुयें नवीन हैं।

२५२—डिंगल में प्राप्य काव्यदोष नितान्त नवीन एवं प्रत्यक्षतः हिन्दी के काव्य दोषों से पृथक् प्रतीत होते हैं। मंछ[1] तथा मुरारिदान[2] ने इनकी संख्या १० ही मानी है किन्तु मोतीलाल मेनारिया[3] ने इनकी संख्या एकादश स्वीकार की है जिनमें अमंगल दोष अतिरिक्त है। यह अमंगल दोष मेनारिया जी ने कहाँ से लिया है, इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया। इन दोषों के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य बात यह है कि ये वाह्य दोष हैं। हिन्दी साहित्य के दोषों से तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि डिंगल के हीण तथा बहरी दोष अर्थ दोष के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। निनंग दोष हिन्दी के अक्रमत्व वाक्यदोष का ही रूपांतर है जो कि डिंगल में पद्य के लिये लागू किया गया है। पांगलो गति अथवा यति भंग दोष का समकक्ष है। पांगलो, जाति विरोध तथा परवलूट, दोषों को छंद संबन्धी दोष के अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है। अपस हिंदी के क्लिष्टत्व शब्द दोष के समान है। तथा अमंगल को वर्णगत दोष समझा जा सकता है। यहाँ यह ध्यान दिला देना अनपेक्षित न होगा कि ये समस्त काव्यगत दोष विशेष महत्वपूर्ण नहीं है और इनका परिहार अत्यन्त सुगमतापूर्वक किया जा सकता है।

२५३—वयण सगाई डिंगल की अपनी काव्यगत मौलिक विशेषता है। डिंगल में इसे इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि जहाँ इसका उपयोग होता है वहाँ समग्र काव्यगत दोषों का परिहार हो जाता है। वयण सगाई अथवा वर्णों के संबंध पर मंछ ने पूर्ण रूप से प्रकाश डाला है। उक्तियों में यद्यपि कोई नवीनता नहीं है किन्तु इनके भेदों का उल्लेख कर मंछ ने नवीन ढंग का प्रकाश डाला है। मंछ ने ६ रसों के केवल नाम और उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। कदाचित् काव्य में रसों के व्यवहार के कारण उसे बहु परिचित अंग मान कर रस के विभिन्न अंगों का परिचय देना कवि ने आवश्यक नहीं समझा। दवावैत, वचनिका, निसाणी और कुंडलियां के ५ भेद...छंदों की दृष्टि से मौलिक प्रयोग हैं। जथा डिंगल की वर्णन रीति का

१—र० रू० गी०, पृ० १४।
२—डिंगल कोष, प्रथम खंड, पृ० ३८, ३६।
३—रा० भा० सा०, पृ० ७२-७६।

निर्वाह है। यह डिंगल की अपनी विशिष्ट मौलिकता है। मनसाराम ने इसका सविस्तार वर्णन किया है। तात्पर्य यह है कि मनसाराम ने डिंगल काव्य में प्रयुक्त विभिन्न विशिष्ट अंगों के उल्लेख द्वारा अपने आचार्य रूप का परिचय दिया है।

२५४—स्व० पुरोहित हरि नारायण का अनुमान है कि कवि राजा बाँकीदास ने रस तथा अलंकार का ग्रंथ लिखा था[1] और उस ग्रन्थ की बानगी के रूप में ३७ पद (गीत) बाँकीदास ग्रंथावली के तृतीय भाग में उद्धृत भी किये गये हैं[2]। बाँकीदास की संदिग्ध रचना होने के कारण यह विचारणीय तो नहीं है किन्तु प्रसंग वश यहाँ इतना बता देना अनुचित न होगा कि ग्रंथ की जो बानगी प्रस्तुत की गई है उसका विषय साहित्य में दोषपूर्ण प्रयोगों को स्थान न देना है। पुरोहित जी ने कविराजा के एक अन्य ग्रंथ 'वृत्तरत्नाकर भाषा व व्याख्या' के होने का भी अनुमान किया है[3] और उसके भी उद्धरण बाँकीदास ग्रंथावली में अवतरित हैं[4]। ये उद्धरण गद्य में हैं। अस्तु, अवांतर विषयक होने के कारण विचारणीय नहीं है।

२५५—डिंगल काव्य का अन्य लक्षण ग्रंथ रघुबर जस प्रकाश है जो कि किशन जी आढा द्वारा रचा गया है। यह प्रधानतया छन्द शास्त्र से संबंधित ग्रन्थ है। इसमें डिंगल के छन्दों के लक्षण तथा छंद शास्त्र से सम्बद्ध मात्रा, गण, प्रस्तार आदि का वर्णन है। छंदों के अतिरिक्त अन्य विषय वयण सगाई तथा दोष हैं। कवि ने इनका सुन्दर और सविस्तार उल्लेख किया है।

२५६—डिंगल साहित्य के रीतिकाव्य-विषयक उपरोक्त ग्रंथों के अतिरिक्त मुरारिदान कृत डिंगल कोश तथा रण_पिंगल के नाम भी उल्लेखनीय हैं। डिंगल कोश का विषय केवल रीति काव्य नहीं है वरन् इसमें आंशिक रूप में रीति शास्त्र का भी विवेचन मिलता है। तद्विषयक कुछ अंश रघुनाथ रूपक गीतांरो में परिशिष्ट के रूप में दिया गया है[5]। इसमें डिंगल में प्रयुक्त विविध छंदों, अनेक गीतों, अलंकार, काव्य दोष, वयण सगाई अथवा वर्ण सम्बन्ध प्रभृति का विश्लेषण किया गया है। रण पिंगल डिंगल का नहीं वरन् गुजराती भाषा का ग्रंथ है जिसमें कि डिंगल के ३३ प्रकार के गीतों का परिचय दिया गया है।

२५७—रीति काव्य से सम्बन्धित इन अल्प संख्यक रचनाओं को देखते हुये विवश होकर यह कहना पड़ता है कि डिंगल की रीति काव्य परम्परा का उद्भव,

---

१—बाँ० ग्रं० तृतीय भाग (भू०), पृ० ४।

२—वही, पृ० १४६-१५२।

३—वही, (भू०) पृ० ४।

४—वही, पृ० १५३-१६४।

५—र० रू० गी०, परिशिष्ट पृ० १-३४।

विकास और अंत सभी अत्यन्त आकस्मिक तथा अप्रत्याशित सा है। इसका सर्व प्रथम कारण तो यह प्रतीत होता है कि इन लक्षण ग्रंथों को लिखने वाले व्यक्ति आचार्य न होकर केवल सहृदय और भावुक कवि थे। इन्होंने प्रमुखतया छंदशास्त्र, गीत, वयण सगाई और काव्य दोषों को ही अपने लक्षण ग्रंथों का विषय बनाया। अन्य विषयों को यदि किसी ने उठाया भी तो वे उसका स्पर्श मात्र करके रह गये। इन्होंने रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति जैसे गूढ विषयों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। फलतः, ये रीति शास्त्र के जानने वाले आचार्यों का ध्यान ही आकृष्ट न कर सके। द्वितीय राजस्थान की तत्कालीन अनिश्चित, अव्यवस्थित एवं असन्तोषपूर्ण राजनैतिक परिस्थितियाँ आचार्यत्व को विशेष प्रोत्साहन देने योग्य न थीं। और तृतीय, राजस्थान का शासक वर्ग, जो कि प्रधानतया प्रशंसात्मक तथा सिंधुरागात्मक रचनाओं के सुनने का अभ्यस्त था, सीधे मस्तिष्क से सम्बन्ध रखने वाले शुष्क और नीरस लक्षण प्रधान काव्य को बढ़ावा देने में असमर्थ-सा था।

चूँकि डिंगल में लक्षण ग्रंथों की रचना की ओर कुछ ही व्यक्तियों का ध्यान आकृष्ट हो सका, अतएव इसके काव्यशास्त्र का सम्यक् विवेचन सम्भव नहीं हो सका। फलस्वरूप रस, रीति, अलंकार, ध्वनि और वक्रोक्ति आदि विषय वस्तुतः नितांत अछूते रह गये। किन्तु साथ ही यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जिन थोड़े से काव्यांगों की ओर इन कवियों का ध्यान गया, उनका उन्होंने सुस्पष्ट प्रकाशन किया और अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार समुचित मीमांसा भी किया। इन व्यक्तियों ने काव्य के जिन अंगों की व्याख्या किया है उसमें मौलिकता को पर्याप्त स्थान मिला है जो कि इनकी विकासोन्मुख प्रतिभा का प्रत्यक्ष परिचय और प्रमाण है। यहाँ यह भी उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि डिंगल के इन कवि आचार्यों ने अपने लक्षण ग्रन्थों में काव्यांगों के विश्लेषण सम्बन्धी उदाहरण प्रस्तुत करने में अपनी काव्य शक्ति का यथेष्ट उपयोग किया है। सच तो यह है कि अनुकूल परिस्थितियों के अभाव में भी जिन व्यक्तियों ने रीति ग्रन्थों का सृजन कर डिंगल साहित्य के भंडार की श्री वृद्धि में सहयोग दिया है, वे सराहना और श्रेय के पात्र हैं।

आगे के पृष्ठों में डिंगल के रीति काव्य संबंधी ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है जो कि अवलोकनीय है।

ग्रन्थ-परिचय

२५८ हरि पिंगल प्रबंध (अप्र०)—यह ग्रंथ प्रतापगढ़ राज्य के महारावत हरिसिंह के आश्रित कवि जोगीदास द्वारा प्रणीत है। इसका रचना काल सन् १६६४ ई० है जैसाकि निम्नलिखित दोहे से प्रमाणित है :—

संवत सतर इकतीस में कातिक सुभ पख चंद।
हरि पिंगल हरिचंद जस वणियौ खीर समंद॥

यह ग्रंथ तीन परिच्छेदों में विभाजित है। इसका मुख्य विषय छंद शास्त्र है। इसमें डिंगल के ६६ प्रकार के गीतों तथा छंदों के अतिरिक्त संस्कृत और हिन्दी के प्रमुख छंदों का लक्षण उदाहरण सहित विवेचन किया गया है। अंतिम परिच्छेद में प्रधानतया महारावत हरिसिंह के वंश गौरव का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है जिससे कि यह ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण और उपादेय हो गया है[1]।

२५६ लखपत पिंगल अथवा लखपत गुण पिंगल (अप्र०)—यह कच्छभुज के राजा महाराव श्री देवल जी प्रथम (शा० का० सन् १७१७-५१ ई०) के युवराज महाराज कुमार लखपत के कृपापात्र कवि हम्मीर रत्नू द्वारा विनिर्मित है। ग्रंथ का नि० का० सन् १७३६ ई० है[2]। इसमें ४ प्रकरण हैं। प्रथम में वर्णिक छंद, द्वितीय में मात्रिक छंद, तृतीय में गाछा छंद और उसके विविध भेद तथा चतुर्थ में गीतों की विविध जातियों का विस्तृत वर्णन है। इसमें छंदों और गीतों के विवेचन के साथ ही उदाहरणों में महाराज कुमार लखपत का गुण कथित है। इसके समस्त छंदों की संख्या ४६६ है[3]।

२६० रघुनाथ रूपक गीतांरो (प्रका०)—यह जोधपुर के महाराजा मानसिंह के प्रश्रित कवि मनसाराम, काव्योपनाम 'मंछ' द्वारा विरचित है। इसका

१—रा० भा० सा०, पृ० १६०।

२—संवत सत्तर छिनुऔ षणां तस बरस पटंतर।
तिथि उत्तिम सातिभ्भ वार उत्तिम गुरु वासर॥
माह मास व्रतमान अरक बैठो उतराइणि।
सुक्ल पष्य रिति सिसिर महा सुभ जोग सिरोमणि॥

३—राजस्थानी भाग ३, अंक ४, अप्रैल सन् १६४० ई०, पृ० ५७-६०, रा० भा० सा०, पृ० १६१।

सृ० का० सन् १८०७ ई० है[1]। यह ग्रंथ ६ विलासों में विभक्त है। प्रथम दो विलासों में काव्य की रीतियाँ, छंद भेद, छंद लक्षण, अलंकार, गुण दोष और रस सभी कुछ वर्णित है। शेष सात विलासों में डिंगल के ७२ गीतों के लक्षण और उदाहरणों में भगवान रामचन्द्र की कथा कही गई है। राम कथा का वर्णन वाल्मीकीय रामायण तथा तुलसीदास कृत रामचरित मानस दोनों ही पर आंशिक रूप में आधारित है। डा० सर जार्ज ग्रियर्सन के कथनानुसार डिंगल की सर्वाधिक प्रशंसनीय रचना १६ वीं शती ई० के प्रारम्भ में लिखित मनसाराम का रघुनाथ रूपक है। यह एक काव्य शास्त्र है जिसमें बहुत पर्याप्त मौलिक उदाहरण हैं जो कि इस क्रम से संजोये गये हैं कि वे आद्योपांत राम के जीवन का इतिहास प्रस्तुत करते हैं[2]। वस्तुतः डिंगल साहित्य को समझने के लिये इस ग्रंथ का अध्ययन अनिवार्य-सा है[3]। इसका विस्तृत परिचय अध्याय १ में दिया गया है।

२६१ कृष्ण चन्द्र चन्द्रिका (अप्र०)—यह रचना कविराजा बाँकीदास विरचित कही जाती है। इसका रचना काल ज्ञात नहीं है। अनुमानतः इसका रचना काल १८ वीं शती ई० का अंत अथवा १६ वीं शती ई० का पूर्वार्ध के अंतर्गत होना चाहिये। इसका परिचय देते हुये स्व० पुरोहित हरि नारायण ने लिखा है कि "अलंकारों का वर्णन कृष्ण कथा में है, बा० सीताराम जी लालस जोधपुर वालों से ज्ञात हुआ[4]।" इसके ५ गीत बाँकीदास ग्रंथावली तृतीय भाग के 'स्फुट संग्रह' में देखने को लेखक को मिले,[5] जिनका विषय शृंगार वर्णन है। इसमें अलंकारों के वर्णन होने का कोई संकेत नहीं है। हो सकता है कि मूल रचना में अलंकारों का वर्णन हो।

२६२ रस तथा अलंकार का ग्रंथ (अप्र०)—इसके विवरण में पुरोहित हरि नारायण ने लिखा है "उपरिलिखित खंडांश से अनुमान है[6]।" इसके कुछ अंश बाँकीदास ग्रंथावली तीसरा भाग में उद्धृत है[7] जिनका विषय रस अथवा अलंकार न होकर काव्य में वर्जित दोषों के त्याग का वर्णन है। कहना न होगा

१—संवत् ठारै सतक वरस तैसठौ ब चाणौं।
सुक्ल भादवी दसम वार ससि हर वरताणौं॥
२—र० रू० गी०, पृ० २८२।
३—वही, (भू०) पृ० १७ तथा रा० भा० सा०, पृ० २०४-५।
४—बाँ० ग्र० तीसरा भाग, (भू०) पृ० ३।
५—वही, पृ० ११६-१२५।
६—वही, (भू०) पृ० ४।
७—वही, पृ० १४६-१५२।

कि यह रचना भी कविराजा बाँकीदास की रची होने का अनुमान किया जाता है जिसके रचना काल की समस्या भी उपरोक्त रचना के समान समझना चाहिये।

२६३ **रघुवर जस प्रकास** (अप्र०)—यह मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह के अनुकंपापात्र किशन जी आढा द्वारा लिखित है। इस ग्रंथ की रचना सन् १८२४ ई० में हुई थी[१]। इसमें डिंगल के छंदः शास्त्र का विस्तारमय विवेचन है। इस रचना में डिंगल के छंदों के लक्षण, मात्रा, गण, प्रस्तार वयण सगाई और काव्य-दोष प्रभृति की सुंदर व्याख्या हुई है। डिंगल के अतिरिक्त इसमें संस्कृत और हिन्दी में प्रयोग होने वाले प्रमुख छंदों के लक्षण भी बताये गये हैं। उदाहरणों में भगवान रामचन्द्र के अवतार का यश वर्णित है[२]।

२६४—उपरोक्त ग्रंथों के अतिरिक्त कविराजा मुरारिदान कृत डिंगल कोष[३] तथा रण पिंगल[४] के नाम भी उल्लेखनीय हैं क्योंकि इनके द्वारा भी डिंगल के काव्य शास्त्र पर कुछ प्रकाश पड़ता है। अन्य ग्रंथ रण पिंगल जो कि गुजराती भाषा में ३ भागों में है और दीवाण रणछोड़ जी द्वारा संकलित है, में डिंगल के ३३ गीतों का उल्लेख है।

रघुनाथ रूपक गीतांरो के भूमिका लेखक के शब्दों में "डिंगल भाषा के रीति ग्रंथ, इस भाषा के परम मान्य आचार्यों के बनाये बहुत कम मिलते हैं, जो हैं भी उनको चारण लोग या तो छिपाते हैं या सहसा दूसरों को बताना या धीजना पसंद ही नहीं करते हैं[५]।" अतः संभव है कि भविष्य की खोजों में अन्य कुछ लक्षण ग्रंथ और भी प्रकाश में आ सकें।

१—रा० भा० सा०, पृ० २०६, रा० हि० ह० ग्र० खो०, भाग १, पृ० १०३-४।

२—रा० भा० सा०, पृ० २०६, रा० हि० ह० ग्र० खो०, भाग १, पृ० १०३-४।

३—रा० भा० सा०, पृ० २५२,।र० रू० गी० भू०, पृ० २३ तथा परिशिष्ट पृ० १-३४।

४—वही, पृ० ३१, वही, पृ० २०-२३।

५—रा० रू० गी० भू०, पृ० १।

अन्य विषयों के काव्य-ग्रन्थ

विवेचन

२६५—पूर्व पृष्ठों में डिंगल साहित्य की प्रमुख विषयों से संबंधित काव्य धाराओं का परिचय दिया जा चुका है। किन्तु उनके अंतर्गत अन्य विषयों की रचनाओं अथवा उनमें प्राप्य रचनायें जिनका कि अन्य विषयों से भी संबंध है, की ओर प्रकाश नहीं डाला जा सका है। अस्तु, ऐसे विषयों का भी निर्देश कर देना आवश्यक है। इस प्रकार के इतर विषय, नीति और उपदेश, विशेष प्रकार के चरित्र, आखेट, सामाजिक कुरीतियों का चित्रण, पृथ्वी का मूल्य और राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण हैं।

२६६—नीति और उपदेश संबंधी रचनायें प्रायः साहित्य का एक विषय हुआ करती है। डिंगल साहित्य में इस विषय की रचनाओं का उपलब्ध होना कोई नवीनता नहीं है। इस प्रकार की रचनाओं के लिखे जाने का प्रयोजन 'नीति और उपदेश' शब्दों से पूर्णतया व्यंजित होता है। अतएव कहने की अपेक्षा नहीं कि इस प्रकार की रचनाओं का उद्देश्य मानव मात्र को व्यवहार कुशल बनाना और अन्ततः लोक कल्याण करना है।

२६७—डिंगल की नीति एवं उपदेश संबंधी रचनाओं में विशेष उल्लेखनीय नाम 'राजिया के सोरठे' तथा 'नीति मंजरी' के हैं। राजिया के सोरठे किसी एक विशेष विषय से संबंधित नहीं है। उनके विषय अनेक हैं जिनके पीछे जीवन का सूक्ष्म अध्ययन है और जीवन के संचित अनुभव हैं। इन सोरठों के संबंध में जोधपुर के महाराजा मानसिंह के कहे हुये शब्द अक्षरशः सत्य हैं—

सोने री साजाँह, नग कण सूं जड़िया जकै।
कीनो कवियराजांह, राजा माखम राजिया[1] ॥

अर्थात् राजिया के सोरठे नग कणों से जटित स्वर्ण आभरणों की भाँति हैं जिनके कारण कि वह राजा महाराजाओं में भी प्रसिद्ध है। इन सोरठों की प्रशंसा में कर्नल पी० डब्ल्यु० वावलिट ने लिखा है कि "राजिया के द्विछत्रमयपद मारवाड़ी साहित्य की विरल वस्तु हैं[2]।" राजिया के सोरठों के पारायण से भी कुछ इसी प्रकार

१—राजिया के सोरठे की भूमिका—प्रकाशक—हिन्दी साहित्य मंदिर, घंटाघर, जोधपुर।

२—राजिया के सोरठे की भूमिका—प्रकाशक—हिन्दी साहित्य मंदिर, घंटाघर, जोधपुर।

का निष्कर्ष निकलता है। 'राजिया के सोरठे' में संग्रहीत प्रथम सोरठा ही जीवन के गंभीर निरीक्षण का परिचायक है जिसके अनुसार कि समझदार चतुर मनुष्य अवसर आने पर चूकता नहीं। स्पष्ट शब्दों में वह अवसर से पूर्ण लाभ उठाता है और इस प्रकार अवसर का उपकार मनुष्य पर बहुत दिनों तक रहता है। निस्संदेह जीवन के निगूढ़ रहस्य का सरलतम ढंग से किया गया प्रकाशन श्लाघ्य है।

आज कल और सदैव ही यह होता आया है कि जो खल जिसका अन्न जल खाता है उसी का वह बुरा करता है, किन्तु राम ऐसे व्यक्ति की रक्षा नहीं करता और उसका समूल विनाश हो जाता है (छं० सं० २)। कटु वचनों की मर्मस्पर्शिता के संबंध में कवि की भावाभिव्यंजना दर्शनीय है—

पाटा पीड़ उपाव, तन लागां तरवारियां।
बहै जीभ रा घाव, रती,न ओषद राजिया॥

वैरियों की पारस्परिक प्रीति की अभिव्यक्ति निम्नलिखित सोरठे में लक्षणीय है—

मूसा ने मंजार, हितकर बैठो हेकठा।
सो जाणै संसार, रस नहँ रहसी राजिया॥

राजिया के सोरठे सभी इसी प्रकार के हैं। प्रत्येक में जीवन के किसी न किसी अंग की व्याख्या है। उसके व्याख्या की पृष्ठभूमि में अनुभूति है जिसका अध्ययन और मनन ज्ञान-वर्धक है।

२६८—कविराजा बाँकीदास कृत नीति मंजरी का क्षेत्र राजिया के सोरठे में आये हुये नीति तथा उपदेश संबंधी सोरठों की अपेक्षा सीमित है, कारण कि उनका विषय केवल वैर तथा वैरियों से सम्बन्धित है। किन्तु नीति मंजरी के वैर तथा वैरियों से सम्बन्धित उक्तियों की विशेषता यह है कि वे स्वयं अपने में भी पर्याप्त पूर्ण हैं। राजिया के सोरठों का अध्ययन करने वाला तो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित नीति तथा उपदेश से परिचित मात्र हो सकता है किन्तु नीति मंजरी का अध्ययन कर्ता एक विशिष्ट क्षेत्र का पूर्ण ज्ञाता हो सकता है। इस प्रकार उपयोगिता और महत्त्व की दृष्टि से दोनों ही रचनायें उत्कृष्ट हैं परन्तु लेखक का व्यक्तिगत मत है कि व्यावहारिक ज्ञान के लिये राजिया के सोरठे का स्थान उच्चतर है, क्योंकि सफल जीवन व्यतीत करने के लिये उसके हर एक पहलू का थोड़ा बहुत परिचय आवश्यक है। अस्तु, नीति तथा उपदेश विषयक रचनाओं में राजिया के सोरठे को प्रतिनिधि माना जा सकता है।

२६९—चरित्र काव्य की दृष्टि से कविराजा बाँकीदास कृत मावड़िया मिजाज तथा ऊमरदान लालस विरचित संत असंत सार का उल्लेख किया जाता है। मावाड़िया मिजाज में 'मावड़िया' शब्द विशिष्टता का सूचक तथा विषय का

परिचायक है। पुरोहित हरिनारायण के शब्दों में "जो माता या किसी स्त्री को अवलंबन मान कर स्वावलंबन को छोड़ चुके हैं, ऐसे पुरुषों को 'मावड़िया' नाम की पदवी दी है।" दूसरे शब्दों में स्वर्ण पुरुषों का चरित्र चित्रण ही इस रचना का मुख्य विषय है। स्त्रैण पुरुष की कवि ने अनेक विशेषतायें बताई हैं। मावड़िया को उसने महबूबों का प्रधान, निपट कोमल अवयवों वाला, नेत्रों से सौगंध खाने वाला, गुड़ियों में रमने वाला, और स्तनहीन नारी प्रभृति विशेषणों से आभूषित किया है। रचना के विषय के स्पष्टीकरण के विचार से यह बानगी पर्याप्त होगी। कदाचित् कहना न होगा कि कविराजा ने अपनी इस रचना में एक विशेष कोटि के व्यक्तियों का चरित्र चित्रण किया है जिनका कि अपना एक वर्ग है।

२७०—संत असंत सार में ऊमर दान ने अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर असंतों का चरित्र चित्रित किया है। उनकी इस स्फुट रचना से स्पष्ट है कि उन्हें अपने जीवन काल में छद्मवेशी सतगुरु मिला था। रचना के अधिकांश में कवि ने उसी के वास्तविक स्वरूप को खचित किया है[1]। तथा उसी के आधार पर उन्होंने संतों से असंतों का भेद करने के लिये असंतों के कुछ सामान्य लक्षण भी बताये हैं। उनके अनुसार वह प्रकट में तो राम नाम का उच्चारण करता है किन्तु हृदय में कंचन और कामिनी का चिंतन किया करता है। वह गेरुवा वस्त्र धारण किये हुये अपना वाग्जाल फैलाता रहता है। अनहद का उसे रंच मात्र भी ज्ञान नहीं होता। वह विषय-विकारों से परिपूर्ण होता है। वह केवल 'नाणो (अर्थ) नारायण प्रद यारायण' की प्राप्ति के लिये 'रामायण रोसन्दा (कीर्तन) है' तथा लोगों को धोखा देता है।

मावड़िया मिजाज तथा संत असन्त सार रचनाओं के विषय को देखने से यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनों ही रचनाओं में एक विशेष वर्ग के चरित्रों का उल्लेख है। दोनो ही वर्ग के चरित्र निम्नस्तर के हैं। किन्तु मावड़िया स्वयं अपने लिये बुरा है। समाज पर उसके कुप्रभाव की संभावना अपेक्षाकृत अल्पतर है। असंत स्वयं तो बुरा है ही किन्तु उसके द्वारा प्रतिपल सामाजिक अहित की संभावना है। पतित तो दोनों ही हैं किन्तु असन्त के द्वारा समाज के अन्य व्यक्तियों विशेषतया नारी वर्ग, के चारित्रिक पतन की सम्भावना अधिक है। दोनों ही सामाजिक रोग हैं किन्तु द्वितीय संक्रामक है। कहना न होगा कि समाज के इन निर्बल पक्षों को उद्घाटित कर बाँकीदास और ऊमरदान ने दोनों ही प्रकार के विशिष्टता संपन्न चरित्रों,

---

१—ऊमर काव्य, पृ० १४३-१६१, प्रकाशक, मेसर्स अचलू प्रसाद न्यायी ऐन्ड को० जोधपुर, सन् १६३० ई० का संस्करण।

तथा उनके प्रति सामाजिक व्यक्तियों को सावधान रहने के लिये आगाह किया है। यहाँ यह भी ध्यान रखने की अपेक्षा है कि इन चरित्रों के उद्घाटन पीछे के लोकहित की भावना भी विद्यमान है।

१७१—इतर काव्य विषयक अन्य उल्लेखनीय रचनाओं में उदयराज उज्वल विनिर्मित धूड़सार अथवा धूड़ री बेड़ी, भारत आंदोलन, और स्वराज्यशतक प्रभृति हैं। ये समस्त रचनायें गत १०-१५ वर्षों के अन्तर्गत लिखित हैं। इनमें स्वदेश के स्वतन्त्र होने के पूर्व की सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों की अवस्था का उल्लेख है। धूड़सार में मातृभूमि के सुरक्षा का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। धूड़ अथवा पृथ्वी के महत्त्व को दिखाने के लिये उज्जवल जी ने प्रसंगवश महाराणा प्रताप, दुर्गादास और शिवाजी सरीखे वीरों का उल्लेख किया है और बताया है कि वे वस्तुतः मातृभूमि के मूल्य को समझते थे। रचना का एक लक्ष्य धूड़ री वेड़ी के प्रचलित अर्थ, पं० रामकर्ण के शब्दों में "जिसके पास धूड़ अर्थात् भूमि है वह एक प्रकार की बेड़ी है उससे बँधे हुये जागीर वाले लोग भूमि रक्षार्थ भय के मारे लोकोपकारी कार्य करने में असमर्थ अनुपयुक्त रहते हैं क्योंकि वे समझ रहे हैं कि यदि हम किसी प्रकार लोकोपकारी कार्य का उद्योग करेंगे अथवा तादृश उद्योग करने वालों में सम्मिलित होवेंगे तो हमारी हानि होगी[१]" के भ्रम का दूरीकरण भी है।

भारत आन्दोलन का विषय यों तो स्वतः स्पष्ट है किन्तु इस संबंध में उज्वल जी के शब्दों को उद्धृत कर देना रचना के स्पष्टीकरण की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण होगा—

"वीर बंगालियों ने सर्व प्रथम हिंसात्मक आन्दोलन प्रारंभ किया, सैकडां वरसां से सुप्त कालीदेवी को जगाया, तिलक महाराज ने मौका देखकर स्वराज्य का मंत्र जपकर उसको खड़ा कर दिया, वह सन्तान की दुर्दशा देखकर कुपित होने ही वाली थी कि झट गाँधीजी ने पूजा द्वारा प्रसन्न करके उसको अहिंसा पर मोड़ दिया तब सत्याग्रह व असहयोग शस्त्र लेकर वह देवी कांग्रेस में प्रगटी और सबको अपनी तरफ करती गई, आदि भाव इस कविता में है[२]।"

उज्ज्वल जी ने स्पष्ट शब्दों में भारत आन्दोलन के पीछे कांग्रेस के होने का उल्लेख किया है जिसमें कि हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, जैन, पारसी तथा ईसाई आदि सम्मिलित थे। इस संस्था की महान् विभूतियाँ तिलक और गाँधी थे। अहिंसा इस आन्दोलन का मार्ग और सत्याग्रह इसकी शक्ति थी। संक्षेप में यह कहा जा सकता

१—धूड़सार, पृ० ३, प्रथम संस्करण, सन् १९४८ ई०।

२—लेखक को प्रेषित हस्तलिखित कविता संग्रह से उद्धृत।

है कि कवि ने अपनी काव्य प्रतिभा द्वारा इस आन्दोलन को वाणी प्रदान कर एक राजनैतिक तथा ऐतिहासिक सत्य को प्रकाशमान् किया है।

स्वराजशतक में उज्वल जी ने स्वतंत्र भारत की शिक्षित तथा अशिक्षित जनता की भावनाओं को मुखरित किया है। भारतवर्ष का अशिक्षित वर्ग स्वतन्त्रता के मूल को न समझने के कारण, कष्ट होने पर, देश की दुर्गति का रोना रोता है। वह कहता है कि स्वराज्य के कारण देश का विभाजन हुआ, हिन्दू, मुसलमान और सिक्खों में दंगे हुये, नारीत्व का निरादर हुआ, धन धर्म का नाश हुआ, अनेक नगर और ग्राम मिट गये, रजवाड़ों का अंत हो गया, राजाओं पर विपत्ति आई, प्रजा दुखित हुई, जमीदारों पर संकट आया, गाँधी की हत्या हुई, काश्मीर में कलह हुई और हैदराबाद में विद्रोह हुआ। इन सब कार्यों के कारण भारत को लज्जित होना पड़ा। भविष्य में क्या होगा, कौन जाने।

शिक्षित व्यक्ति अशिक्षित को समझाता है कि स्वराज्य स्वर्ग के समान है। गाँधी इस कार्य को संपन्न कर गये। स्वराज्य के माध्यम से वह भारतभूमि पर सतयुग ले आये। देश के लिये दुख सहना और स्वार्थ त्याग करना प्रत्येक देशवासी का कर्तव्य है। परतंत्रता का अंत हो गया है। जो कारागार में बन्द रहते थे वे अब दिल्ली के राजसिंहासन पर आरूढ हैं। यह स्वतंत्रता का खेल है। शीघ्र ही सुख का साम्राज्य होगा। संपत्ति का समान रूप से वितरण होगा। गुणियों का मान होगा। निर्गुणों का निर्वाह कठिन हो जायगा। धर्म को विशेष महत्व न मिलेगा। देश के झगड़ों की इति होगी। चिन्ता की चिता बन जायगी। सब समान हो जायँगे। गोहत्या का वर्जन हो जायगा। काश्मीर की कलह की समाप्ति होगी। निजाम का नाम लुप्त हो जायगा। राजसत्ता प्रजा के साथ होगी। अत्याचारों का दमन होगा। क्रमशः देश उन्नति करेगा तथा संसार के महान राष्ट्रों में प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा।

उज्वल जी की उपर्युक्त तीनों रचनाएँ देश की राजनैतिक और सामाजिक अवस्थाओं की तीन कड़ियाँ हैं। प्रथम में देशप्रेम के लिये जन जागरण का मधुर संगीत है और उसके लिये बलिदान होने का आह्वान है। द्वितीय में प्रथम के प्रति-क्रिया स्वरूप देशवासियों का मातृभूमि के लिये हिंसात्मक तथा अहिंसात्मक आंदोलन द्वारा अपने को न्योछावर करना है। और तृतीय में स्वराज्य की उपलब्धि, उससे सद्यः प्राप्त प्रतिफल तथा भावी भारत का भव्य कल्पना चित्र है। कहना न होगा कि ये समस्त रचनायें प्रगतिशील हैं। नरोत्तम दास स्वामी के शब्दों में उदयराज उज्जवल "नव जागरण के कवि हैं, अवस्था में वृद्ध होते हुये भी आपकी रचनाओं में नवयुवकों की सी आग है। देश, जाति और विशेषतया क्षत्रिय समाज की हीन दशा से

आपका हृदय अत्यन्त व्यथित है, उससे अग्नि प्रज्जवलित कर रखी है। वही अग्नि का कभी-कभी कविता के रूप में फूट पड़ती है।

२७२—आगे के पृष्ठों में विभिन्न प्रकार की इतर विषयक काव्य संबंधी रचनाओं का संक्षिप्त विवरण विशेष परिचय के लिये दिया गया है जो कि अवलोकनीय है।

ग्रन्थ-परिचय

प्रथम श्रेणी—वे रचनायें जो पूर्व कथित विजय संबंधी वर्गीकरण में नहीं आ सकी हैं। इनके विषय साधारणतया नीति, उपदेश, सामाजिक कुरीतियाँ तथा चरित्र, एवं सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ इत्यादि है।

२७३—राजिया के सोरठे (प्रका०)—यह सीकर के राजा देवीसिंह के आश्रित कवि कृपाराम खिड़िया की रचना है। एक अन्य मत के अनुसार इन दोहों-सोरठों का रचयिता राजाराम चौहान को माना जाता है[1]। इसका रचना काल लगभग सन् १८०८ ई० है[2]। इन दोहों-सोरठों का विषय नीति और उपदेश है। कृपाराम खिड़िया ने ये दोहें अपने चाकर राजिया को संबोधन करके कहे हैं। इन दोहों-सोरठों की संख्या, कहा जाता है कि ५०० के लगभग थी किन्तु आज कल केवल १५० के लगभग उपलब्ध हैं[3]।

२७४—धवल पच्चीसी (प्रका०)—इसमें धवल बैल के वर्णन द्वारा उज्ज्वल वर्ण से संबंधित समस्त वस्तुओं के धवल पक्ष की मार्मिक अभिव्यंजना प्रस्तुत की गई है। इसमें ३४ दोहे-सोरठे हैं[4]। इसका रचना काल सन् १८२६ ई० है। इसका विस्तृत परिचय अध्याय १ में दिया गया है।

२७५—नीति मंजरी (प्रका०)—जैसा कि नाम से ही प्रकट है इसमें नीति विषयक दोहे-सोरठे हैं जिनकी संख्या ३६ है[5]। इसका रचना काल सन् १८२१ ई० है। इसका विस्तृत परिचय अध्याय १ में दिया जा चुका है।

२७६—वैसक वार्ता (प्रका०)—इसका विषय वेश्या, वेश्यागामी पुरुष, वेश्या प्रसंग से हानि, सतीत्व का अवांतर रूप और सतीत्व रक्षण प्रतिलोम साधन हैं। इसके दोहों-सोरठों की संख्या ५६ है[6]।

१—राजिया के सोरठे की भूमिका।

२—रा० भा० सा०, पृ० १६४।

३—राजिया के सोरठे की भूमिका, रा० भा० सा०, पृ० १६४-१६६।

४—बाँ० ग्रं० भाग १, पृ० ४५, हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ७, अंक १, सं० २०११, पृ० २६।

५—वही, पृ० ६६।

६—बाँ० ग्रं० भाग २ की भूमिका, पृ० ८-६ और पृ० १-१२ (मूल) तथा वही।

२७७—भावड़िया मिजाज (प्रका०)—इसमें स्त्रैण स्वभाव वाले मनुष्यों का यथार्थ स्वरूप खचित किया गया है। भावड़िया शब्द विशेषतया उन पुरुषों के लिये प्रयोग किया गया है जो माता अथवा पत्नी को अवलंब मानकर स्वावलंबन का त्याग कर चुके हैं। इसमें ८८ दोहे-सोरठे हैं[1]।

२७८—कृपण दर्पण (प्रका०)—इसका विषय अर्थलोलुप कृपण व्यक्तियों का चरित्र चित्रण है। इसका अंत ४५ दोहों-सोरठों में हुआ है[2]।

२७९—चुगलमुख चपेटिका (प्रका०)—इसमें स्वार्थ वश अथवा निष्प्रयोजन सरदारों, अमात्यों तथा राजाओं से किसी व्यक्ति के विरुद्ध सत्य अथवा मिथ्या कान भरने वाले, चुगली करने वाले व्यक्तियों का चरित्रांकन तथा उनके प्रति व्यंग्य है। इसके दोहों-सोरठों की संख्या ५२ है[3]।

२८०—वैस वार्ता (प्रका०)—वणिकों और विशेष रूप से अप्रतिष्ठित जैन महाजनों का चित्रांकन एवं उन पर कटाक्ष ग्रंथ का विषय है। इसमें ७७ दोहे-सोरठे है[4]।

२८१—कुकवि बत्तीसी (प्रका०)—इस रचना का विषय काव्य शास्त्र से अनभिज्ञ कविता करने वाले कुपाठक एवं पर-रचना अपहरण करने वाले कवि हैं। बाँकीदास ने इनकी मीठी चुटकी ली है। इसके दोहों-सोरठों की संख्या ३६ है[5]।

२८२—विदुर बत्तीसी (प्रका०)—कवि ने इस रचना में दासी पुत्रों के लक्षण, स्वभाव, व्यवहार, प्रभाव प्रभृति का हास्यपूर्ण वर्णन किया है। विदुर शब्द वस्तुतः इसमें खवासिणों, दासों तथा दोगलों का सूचक है। इसकी समाप्ति ३५ दोहों में हुई है[6]।

२८३—कायर बावनी (प्रका०)—इसका विषय कायरों के लक्षण, उनके बहिष्कार का निर्देश तथा उनका उपहास आदि है। इसमें ५४ दोहे हैं। इसका रचना काल सन् १८१४ ई० है[7]।

१—बाँ० ग्रं० भाग २ मू० पृ० ६-१०, पृ० १३-३० (मूल) तथा हिं० अ०, वर्ष ७, अंक १, सं० २०११, पृ० २६।

२—वही, पृ० १०-१३ पृ० ३१-३६ (मूल) तथा हिं० अ०, वर्ष ७, अंक १, सं० २०११, पृ० २६।

३—वही, पृ० १४-१६ पृ० ४८-५८ (मूल) वही पृ०।

४—वही, पृ० १६-१८ पृ० ५६-७५ (मूल) वही पृ०।

५—वही, पृ० १८-१६ पृ० ७६-८४ (मूल) वही पृ०।

६—वही, पृ० १६-२१ पृ० ८५-६२ (मूल) वही पृ०।

७—वही भाग ३ भू० पृ० ३३-३५ पृ० १६-२६ (मूल), हिं० अ०, वर्ष ७, अं० १, सं० २०११, पृ० ३०।

२८४—**सुजस छत्तीसी** (प्रका०)—इसमें यशस्वी, वीर और दानी व्यक्तियों के गुण तथा अनुदार और कृपण व्यक्तियों के दुर्गुण कथित हैं। इसमें ३४ दोहे और ४ सोरठे हैं[१]।

२८५ **संतोष बावनी** (प्रका०)—संतोष की उत्कृष्टता एवम् लोभ और असंतोष की निकृष्टता इस रचना का विषय है। इसके दोहों सोरठों की संख्या ५५ है[२]।

२८६ **वचन विवेक पच्चीसी** (प्रका०)—इस रचना में अशुभ, अश्लील और असभ्य तथा शुभ सभ्य एवं शिष्ट वचनों के व्यवहार करने वालों के गुणावगुण तथा उनके हानि लाभ पर प्रकाश डाला गया है। यह २८ दोहों में समाप्त हुई है[३]।

२८७ **कृपण पच्चीसी** (प्रका०)—इसका विषय वही है जो कृपण दर्पण का है। इसमें दोहों का उपयोग हुआ है। इस रचना के बाँकीदास द्वारा रचित होने में संदेह है[४]। उपरोक्त (ख) से (ढ) तक समस्त रचनायें कविराजा बांकीदास द्वारा प्रणीत हैं। इनमें (ट) और (फ) का रचना काल सन् १८१४ ई० है तथा (ग) और (ड) का सन् १८२१ ई० है[५]।

२८८ **संत असंत सार** (प्रका०)—इसमें पाखंडी संतों के वास्तविक रहस्य का उद्‌घाटन किया गया है। इसमें ४२ गगर निसाणी छंद और ६ दोहे हैं।

२८९ **तमाखू री ताड़ना** (प्रका०)—रचना का विषय स्पष्ट ही है। यह २१ छप्पय, १ कुंडलियां और १ दोहा की निर्मित रचना है।

२९० **अमल रा ओगण** (प्रका०)—रचना का विषय अफीम के अवगुण हैं। इसके छंदों की संख्या (५३ छप्पय, ६ दोहे, १ कुंडलियां) ६० है।

२९१ **छपनारो छंद** (प्रका०) इसका विषय संवत् १९५६ का अकाल है। यह २९३ सिलोका छंदों में लिखित है।

ऊपर की (त) से (ध) पर्यन्त रचनायें कवि ऊमरदान लालस कृत हैं। इनकी खोटों संतारों खुलासो, ओलम्मा (उपालंभ) दुनियारा साचा गुण, अवार रा राज-

---

१—वही, पृ० ३७-३९ पृ० ४४-५२, वही पृ०।

२—वही, पृ० ३९-४० पृ० ५३-६४, वही पृ०।

३—वही, पृ० ५६-५८ पृ० ७५-८०, वही पृ०।

४—वही, पृ० ५९-६१, पृ० ८१-८८, वही पृ०।

५—अ० स० पु० बी० की प्रतियाँ।

पुरुषां रा आचरण, मसकरी की माँ, चेटक चतुर्दशी, तथा दासी द्वादशी रचनायें भी डिंगल में है तथा इनके अतिरिक्त भी जो हैं उन पर डिंगल का अधिक या कम प्रभाव है[1]। इन रचनाओं का निर्माण काल सन् १८७२-१९०३ ई० के मध्य अनुमानित किया जा सकता है[2]।

२९४—घूड़सारी (घूड़री बेड़ी) (प्रका०)—इस रचना के निर्माणकर्ता उदयराज उज्ज्वल हैं। इस ग्रंथ का सृजन काल सन् १९४३ ई० है[3]। घूड़री बेडी का भावार्थ 'जागीर अथवा जमीन का उत्तरदायित्व राजपूत पर' है स्वार्थमय दृष्टिकोण से इस भाव को ग्रहण करना राजपूतों के लिये हानिकारक सिद्ध हुआ है। कवि के मतानुसार इसका अर्थ भूमि को दृढ़ करने वाली क्रिया है अर्थात् मातृभूमि के रूप में वह सब प्रकार से रक्षणीय है। इसी भाव के स्पष्टीकरण के निमित्त कवि ने घूड़सार की रचना किया है। इसमें १५३ दोहे हैं।

२९३ **राजपूताँ को चेतावनी (अप्र०)**—यह भी उदयराज उज्ज्वल की रचना है। इसका विषय प्रकट ही है। इसका नि० का० सन् १९३९ ई० है। इसमें ३७ दोहे हैं[4]।

२९४ **भारत आन्दोलन (अप्र०)**—यह रचना भी उदयराज उज्ज्वल कृत है। यह भी सन् १९३९ ई० की रचित है। रचना का विषय स्पष्ट ही है[5]।

२९५ **मानिये रा दूहा (अप्र०)** इसका निर्माण भी उदयराज उज्ज्वल के द्वारा हुआ है। इसमें महात्मा गाँधी तथा पंडित जवाहर लाल नेहरू का भारतीय समाज पर प्रभाव दिखाया गया है। इसका नि० का० सन् १९४५ ई० है[6]।

२९६ **साँवरे रा दूहा (अप्र०)**—यह उदयराज उज्ज्वल की सन् १९४५ ई० की रचना है। इसमें वर्तमानकालीन संसार के वातावरण का चित्रांकन है[7]।

१—ऊमर काव्य में यह रचनायें संग्रहीत हैं। संपादक—जगदीश सिंह गहलौत, प्रकाशक, मेसर्स अचलप्रताप एन्ड को०, जोधपुर, सन् १९३० ई० का संस्करण।

२—उमर काव्य, पृ० २६, रा० भा० सा०, पृ० २५५-६।

३—उदयराज उज्ज्वल रची, 'घूड़सार' चित धार।
चैत सुदी आठम चवों, संमत दोय हजार॥ (घूड़सार, पृ०९५)।

४—कवि द्वारा लेखक के पास प्रेषित प्रति।

५—कवि द्वारा लेखक के पास प्रेषित रचना की बानगी।

६—कवि द्वारा लेखक के पास प्रेषित रचना की बानगी।

७—कवि द्वारा लेखक के पास प्रेषित रचना की बानगी।

२६७ स्वराजशतक (अप्र०)——इसकी रचना उदयराज उज्ज्वल ने सन् १६४८ ई० में किया था। इसमें भारतीय समाज का स्वराज्य संबंधी दृष्टिकोण स्पष्ट किया गया है। इसके दोहों की संख्या १०१ है[1]।

ऊपर लिखित रचनाओं के अतिरिक्त उज्ज्वल जी की २६ रचनायें डिंगल में हैं और अभी आप अपने करों से डिंगल-साहित्य का भंडार भरने में संलग्न हैं।

———

१—कवि द्वारा लेखक के पास प्रेषित प्रति।

परिशिष्ट

द्वितीय श्रेणी—ये कृतियाँ लेखक के देखने में नहीं आ सकी हैं, अतएव इनके साथ न्याय नहीं किया जा सका है—

(क) राव रिणमल रो रूपक—(ख) राव रिणमल रा कवित्त—(ग) गुण जोधायण[1]—ये गाडण पसाइत द्वारा निर्माण की हुई रचनायें हैं तथा इनका रचना काल सन् १४३३ ई० है[2]।

(घ) सूर दातार रौ संवाद[3]—यह बारहठ शंकर या साँकर द्वारा लिखित है। इसका नि० काल सन् १५८८ ई० है[4]।

(ङ) राव रणमल कवित्त[5]—यह अल्लू जी चारण विरचित है। इसका रचना काल सन् १६४३ ई० है[6]।

(च) नाथ चंद्रिका (छ) भ्रमविहंडन—यह ओसवाल उत्तमचंद भंडारी द्वारा विनिर्मित है। इसका सृजन काल सन् १८०३ ई० के लगभग है[7]।

(ज) नाथ चंद्रिका—ये जोधपुर के महाराजा मानसिंह की कृति है। इसका सृजनकाल सन् १७८२-१८४३ ई० के मध्य होना निश्चित है[8]।

तृतीय श्रेणी—इसमें आशानन्द, उम्मेदराम पाल्हावत तथा बालाबख्श के नाम उल्लेखनीय है। इनकी रचनाओं के नाम तो ज्ञात हैं[9] किन्तु यह नहीं पता कि उनमें से डिंगल के ग्रंथ कौन से हैं, क्योंकि इन व्यक्तियों ने डिंगल तथा पिंगल भाषाओं में अपनी रचनाएँ लिखी हैं।

१—अ० स० पु० बी० में इनकी प्रतियाँ सुरक्षित हैं। हि० सा० आ० इ०, पृ० २६५।

२—रा० भा० सा०, पृ० १४४।

३—इसकी एक प्रति अ० स० पु० बी० में है।

४—रा० भा० सा०, पृ० १४४।

५—इसकी एक प्रति अ० स० पु० बी० में है।

६—रा० भा० सा०, पृ० १२०।

७—रा० भा० सा०, पृ० २१२।

८—रा० भा० सा०, पृ० १६७, रा० रू० की भू०, पृ० ४।

९—रा० भा० सा०, क्रमशः पृ० ११३-४, तथा २६०।

चतुर्थ श्रेणी—इसमें उदयपुर निवासी कविराव मोहनसिंह का नाम उल्लेखनीय है। आपकी विशेषता यह है कि आपने बिहारी के दोहे, सूर के पद और रसखान के कवित्त सवैयों का डिंगल में रूपांतर किया है[1]।

पंचम श्रेणी—इसमें स्फुट काव्य रचयिताओं का नाम आता है जिनका उल्लेख भूमिका में हो चुका है[2]। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे नाम ख्यातों में तथा इतिहासों में मिलते हैं जिनके डिंगल कवि होने का संकेत मिलता है। उनके संबंध में इनकी रचनाओं के उपलब्ध होने पर ही कुछ कहना सम्भव है।

१—रा० भा० सा०, पृ० २६६।

अध्याय 3

अलंकारों का प्रयोग

२६८—डिंगल पद्य साहित्य के अध्ययन से ऐसा विदित होता है कि डिंगल के कवि साधारणतया काव्य के स्वाभाविक स्वरूप के विकसित करने में विश्वास करते थे। काव्य को वाह्य उपकरणों द्वारा अलंकृत कर चमत्कृत करना कदाचित् वे अनावश्यक समझते थे। और संभवतः यही विशेष कारण है कि डिंगल पद्य की अधिकांश रचनाओं में अलंकारों के प्रयोग अल्प मात्रा में मिलते हैं। इस संबंध में यह समझ लेना अनपेक्षित न होगा कि डिंगल पद्य साहित्य में जहाँ कहीं भी अलंकारों के प्रयोग उपलब्ध होते हैं, वे अधिकतर स्वभावतः आये हैं। इसमें संदेह नहीं कि इन कवियों के काव्य रचना में उपयोग न करने अथवा दूसरे शब्दों में, अलंकारों के प्रति उदासीन रहने का एक महान् दुष्परिणाम यह हुआ कि न तो डिंगल साहित्य में अलंकार शास्त्र संबंधी कृतियों का सृजन हुआ और न लक्षण ग्रंथों में ही इनको समुचित स्थान प्राप्त हुआ, विशेषतया जब कि उसी कालांतर में ब्रजभाषा साहित्य में एक बड़ी संख्या में अलंकार संबंधी ग्रंथ निर्मित हुये। किन्तु अलंकारों के प्रति प्रदर्शित की गई इस उदासीनता को लक्ष्य कर यह अनुमान करना अथवा किसी इस प्रकार के परिणाम पर पहुँचना कि डिंगल के कवि पूर्ण रूप से अलंकारों से अपरिचित अथवा अनभिज्ञ थे, भ्रामक, त्रुटिपूर्ण और अनुपयुक्त होगा। हाँ, यह अवश्य है कि इस दिशा में बहुत थोड़े से इने गिने कवियों ने ध्यान दिया। पुरोहित हरिनारायण ने बाँकीदास द्वारा रचित अलंकार संबंधी दो ग्रंथों की ओर संकेत किया है। प्रथम, कृष्ण चन्द्र चंद्रिका के संबंध में उन्होने लिखा है "अलंकारों का वर्णन कृष्ण कथा में है, बा० सीताराम जी लालस जोधपुर वालों से ज्ञात हुआ। इसी के कुछ छंद स्यात् 'स्फुट संग्रह' में भी आये हैं[1]।" जो गीत स्फुट संग्रह में प्रस्तुत किये गये हैं उनके संबंध में भी पादटिप्पणियों में पुरोहित जी ने लिखा है "यह गीत कृष्णचन्द्र चंद्रिका का प्रतीत होता है[2]।" कहना न होगा कि पुरोहित जी का कथन स्वयं अपने में अनिश्चयात्मक है। द्वितीय यह, कि कृष्णचन्द्र चंद्रिका के स्फुट संग्रह में उद्धृत कथित गीतों का अलंकार वर्णन से कोई संबंध नहीं है। द्वितीय रचना रस तथा

१—बा० ग्रं० के तीसरे भाग की भू०, पृ० ३।

२—वही, पृ० ११६-१२५ (मूल)।

अलंकार का ग्रंथ है जिसका आधार केवल अनुमान है[1] । वास्तविक बात यह है कि जब तक दोनों अलंकार संबंधी रचनायें प्राप्त न हो जायँ उनके संबंध में कोई प्रकाश डालना संभव नहीं है । बूंदी के कवि मुरारिदान ने, ऐसा प्रतीत होता है कि अपने डिंगल कोश में अलङ्कारों पर कुछ विचार अवश्य किया है जैसाकि 'रघुनाथ रूपक गीतांरों' में उद्धृत परिशिष्ट से प्रकट होता है[2] ।

२९९— अन्य कवियों ने केवल अपनी रचनाओं में अलङ्कारों का प्रयोग किया है । अलङ्कार शास्त्र सम्बन्धी कोई पृथक् ग्रन्थ नहीं रचे । इनमें से कुछ कवियों ने अपनी कविता कामिनी को विशेष रूप से अलङ्कारों से आभूषित कर अपनी तत्सम्बन्धी क्षमता का पूर्ण परिचय दिया है । ऐसे कवियों में पृथ्वीराज, बाँकीदास और सूर्यमल के नाम मुख्यतया उल्लेखनीय हैं । सच तो यह है कि राजस्थान के काव्य निर्माता चारण और भाट सरल हृदय के भावुक कवि थे । उनकी कविता उनके मनोमय स्रोत से निःसृत होती थी । अतएव वह अधिकांश अकृत्रिम और आडंबरहीन है । संक्षेप में, यह निस्संकोच और निष्पक्ष होकर कहा जा सकता है कि डिंगल के कवियों ने कम ही अलंकारों का प्रयोग किया है । ये अलंकार अपने स्वाभाविक रूप में आये हैं । अधिकांश कवियों ने अलंकारों के प्रयोग के लिये प्रयत्न नहीं किया है ।

इन कवियों 'द्वारा प्रयुक्त अलंकार साधारणतया वही हैं जो संस्कृत व हिन्दी में प्राप्य हैं । अतः कहने की आवश्यकता न होगी कि डिंगल में प्रयोग किये गये अलंकारों का वर्गीकरण भी शब्द, अर्थ और उभय में किया जा सकता है । शब्दा-लंकारों में सर्वाधिक प्रयुक्त अलंकार वैण सगाई है । यह डिंगल साहित्य का अपना मौलिक अलंकार है । संस्कृत हिन्दी में इसका नाम नहीं मिलता । अस्तु, इस पर विशेष प्रकाश डाल देना उचित और न्याय संगत होगा ।

वैण सगाई या वरण (वर्ण) संबंध

३००—डिंगल के इस अलंकार का प्रयोग कब से प्रारंभ हुआ, निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, विशेषतया इसलिये और भी, कि जब से डिंगल पद्य संबंधी रचनायें मिलती हैं तभी से इस अलंकार का प्रयोग देखने में आता है । डिंगल के रीति ग्रंथों में वैण सगाई का निर्वाह न किया जाना कोई दोष नहीं माना गया है तथापि प्राचीन कवियों ने और विशेषतया मध्यकालीन कवियों ने इसका प्रयोग इतनी कट्टरता के साथ किया है कि परवर्त्ती कवियों के लिये यह एक अनिवार्य नियम-सा बन गया

१—बा० ग्रं० के तीसरे भाग की भू०, पृ० ४ ।
२—र० रू० गी० (प०) पृ० १-३ ।

था। यहाँ तक कि वैण सगाई के निर्वाह का अभाव कवित्व शक्ति की निर्बलता का चिह्न समझा जाने लगा था। वस्तुतः, डिंगल पद्य रचना में वैण सगाई के प्रयोग की एक परंपरा-सी बन गई थी जो कि बहुत समय तक प्रचलित रही। इस स्वतः आरोपित, अलिखित, किन्तु सर्वमान्य नियम के अनिवार्यता और अनावश्यक बँधन का अनुभव बहुत समय के उपरांत स्वच्छंद प्रकृति के कवि सूर्यमल मिश्रण ने अपनी वीर सतसई (अपूर्ण) की रचना करते समय किया और उसके प्रतिरोधस्वरूप उन्होंने घोषणा किया कि—

वैण सगाई वालियां पेखीजै रस पोस।
वीर हुतासण बोल मैं दीसै हैक न दोष॥

अर्थात् वैण सगाई के नियम के उपयोग से सामान्यतः रस की पुष्टि होती है किन्तु अग्नि के सदृश ज्वलनशील वीररसात्मक उक्तियों में वैण सगाई के अभाव में भी कोई दोष दृष्टिगत नहीं होता। साथ ही इसे थोड़ा बहुत कार्यान्वित करने का यत्र-तत्र प्रयास भी हुआ। फल यह हुआ कि सूर्यमल के समय से ही वैण सगाई के नियमित प्रयोग में शैथिल्य के लक्षण परिलक्षित होने लगे। परन्तु सूर्यमल के इस एकाकी स्वर का कोई विशेष प्रभाव न हो सका। वस्तुतः आज भी वैण सगाई का प्रयोग डिंगल के कवि पूर्ववत् करते जा रहे हैं।

साधारणतः डिंगल के प्रमुख विद्वान् वैणसगाई को अनुप्रास का भेद मानते हैं[1]। इसके विपरीत मुरारिदान ने अपने डिंगल कोश में इसका निरूपण अनुप्रास के अंतर्गत न करके पृथक् किया है। इसमें संदेह नहीं, कि वैण सगाई अनुप्रास के निकट की वस्तु है किन्तु 'यह अनुप्रास का भेद है' यह मत वैज्ञानिक नहीं प्रतीत होता जैसाकि इस संबंध में प्रस्तुत की गई निम्नलिखित व्याख्या से प्रकट है।

वैण सगाई का अर्थ वर्णों का संबंध है। नरोत्तमदास स्वामी के शब्दों में "वैण सगाई कविता के किसी चरण के दो शब्दों में, प्रायः करके प्रथम और अंतिम शब्दों में संबंध स्थापित करती है[2]।" यह संबंध एक ही वर्ण अथवा मित्र वर्णों के द्वारा किया जाता है। इस वर्ण संबंध के आधार पर वैण सगाई को तीन कोटियों में विभाजित किया गया है[3] :—

१—गजराज ओझा—'डिं० भा०'—ना० प्र० प० भाग १४, पृ० १३१-३४, नरोत्तमदास स्वामी—'वैण सगाई', राजस्थान, वाल्यूम २, संवत् १६६३, रा० भा० सा०, पृ० ६४।

२—स्वामी—'वैण सगाई' लेख, राजस्थान वाल्यूम २, सम्वत् १६६३।

३—वही।

(अ) उत्तम अथवा अधिक

(आ) मध्यम अथवा सम

(इ) अधम अथवा न्यून।

कविता के किसी चरण या पद के प्रथम और अंतिम शब्दों के प्रथम वर्ण जब एक ही होते हैं तो उसे उत्तम कोटि की वैण सगाई माना जाता है, यथा—

जुतै गढ़ सनढ़ अणजीत जीता[1]।

किसी चरण या पद के समस्त असमान स्वरों, य और व तथा समस्त स्वरों अथवा य और व का वर्णगत संबंध जब घटित होता है तो उसे मध्यम अथवा सम कोटि की वैण सगाई समझा जाता है—जैसे

आप रालियां परिग्रह उजासै[2]।

जब किसी चरण या पद में तवर्ग तथा उनके समयोगी (Corresponding) टवर्ग के वर्णों (अर्थात् त और ट, थ और ठ, द और ड, ध और ढ तथा न और ण), अल्प प्राण तथा उनके समयोगी महाप्राण (अर्थात् क और ख, च और छ, ट और ठ, त और थ, प और फ, ग और घ, ज और झ, ड और ढ, द और ध तथा ब और भ) और व और ब का वर्णगत संबंध स्थापित होता है तो उसे अधम या न्यून कोटि की वर्ण सगाई कहा जाता है। उदाहरण—

घट खैम जकै नर भाग गया[3]।

जिस प्रकार वैण सगाई की तीन कोटियाँ है उसी प्रकार वैण सगाई के धारण की तीन विधियाँ हैं। प्रकारांतर से इन्हें वैण सगाई के तीन भेद हैं, कहा जा सकता है[4]।

(अ) आदि मेल या अधिक

(आ) मध्य मेल या सम

(इ) अंत मेल या न्यून

जब कविता के किसी चरण या पद के प्रथम शब्द का प्रथम वर्ण अंतिम शब्द के आदि सवर्ण अथवा मित्रवर्ण से संबंध हो, तो उसे आदि मेल अथवा अधिक वैण सगाई माना जाता है, उदाहरण—

१—गीति मंजरी, पृ० २७।

२—राजस्थानी वीरगीत, भाग १, पृ० १११।

३—पाबू प्रकाशः बड़ा, पृ० २७६, मौड़जी आसिया कृत।

४—र० रू० गी० पृ० ३४, डि० को०, पृ० ३६, राजस्थान वाल्यूम २ में प्रकाशित 'वैण सगाई' निबंध स्वामी जी लिखित।

हूलैं हसन्ति हिक्कली हरम्म को हुलावनी[1] ।

किसी पद या चरण के प्रथम वर्ण की आवृत्ति जब अंतिम शब्द के मध्य में सवर्ण या मित्रवर्ण के रूप में होती है तो उसे मध्यमेल या सम वैण सगाई कहते हैं। यथा—

कहर राणा तणी वार मझ अैकठा[2] ।

जब किसी चरण के प्रथम सवर्ण अथवा मित्रवर्ण की आवृत्ति चरणांतस्थ अंतिम वर्ण में होती है तो उसे अंत मेल या न्यून वैण सगाई के नाम से अभिहित किया जाता है, जैसे—

मोहण अंबखास विचै जुध पदमा[3] ।

वैण सगाई के उपरोक्त भेदों के अतिरिक्त एक चतुर्थ भेद भी है जिसे मनसाराम ने अरध मेल कहा है। नरोत्तमदास स्वामी ने इसी अरध मेल वैणसगाई तथा असाधारण वैण सगाई, दो भागों में विभाजित कर दिया है। वैण सगाई के इस भेद में किसी चरण में वर्णावृत्ति मध्य में ही हो जाती है। यह किसी चरण को दो भागों में बाँटकर दो बार हो सकती है, कभी प्रथम तथा उपान्त्य शब्द में हो सकती है तथा द्वितीय शब्द और अंतिम शब्द में हो सकती है। वस्तुस्थिति यह है कि इस प्रकार की वैण सगाई एक प्रकार से अपवाद स्वरूप है। इसे असाधारण वैण सगाई की संज्ञा देना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

यथा, एक ही चरण में दो बार वैण सगाई का प्रयोग—

राखि रनथंभराज सौंपन समाह्यौना ।

कदाचित् कहना न होगा कि यह वस्तुतः—छेकानुप्रास है।

चरण के प्रथम वर्ण की उपांत्य शब्द में आवृत्ति—

कल हेवा वकं कूंमकन राणा ।

चरण के द्वितीय शब्दस्थ प्रथम वर्ण की अंतिम शब्द में आवृत्ति—

इते हिलोर जोवनं हिराय-दें हुलासियं ।

यहाँ उपरोक्त प्रयोग के सम्बन्ध में ध्यान देने की वस्तु यह है कि इस प्रकार के उदाहरणों में प्रथम शब्द प्रायः अव्यय, उपसर्ग, अथवा सर्वनाम हुआ करता है।

३०१—वैण सगाई के विस्तृत उल्लेख के पश्चात् अब हम डिंगल पद्य साहित्य में प्रयुक्त संस्कृत हिन्दी में उपलब्ध अलङ्कारों पर प्रकाश डालेंगे। इन अलङ्कारों के प्रयोग की दृष्टि से डिंगल की रचनाओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता

१—ऊमर काव्य पृ० २५२।

२—राजस्थानी वीरगीत, पृ० ७२।

३—गीत मंजरी, पृ० ८१।

है। प्रथम, वे रचनायें, जिनमें कि कवियों ने जान बूझकर अलङ्कारों का प्रयोग काव्य चमत्कार के लिये किया है। और द्वितीय, वे रचनायें जिनमें कि अलङ्कार अपने आप आ गये हैं। कहना न होगा कि प्रथम प्रकार की रचनाओं में कवियों ने अलङ्कारों के प्रयोग के लिये प्रयास किया है अतएव उनकी रचनाओं में अलङ्कारों की बहुलता और विविधता है, और द्वितीय प्रकार की रचनाओं में पहले तो अलङ्कारों का अधिक प्रयोग ही नहीं है और यदि किसी रचना में ऐसा है भी तो उसमें सामान्यतः विविधता नहीं है। पहले हम प्रथम कोटि की कुछ रचनाओं का आलङ्कारिक विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

३०२—वेलि क्रिसन रुक्मणी री में कवि ने अलङ्कारों का प्रयोग अत्यन्त प्रचुरता के साथ किया है। इनमें शब्द और अर्थ उभय प्रकार के अलङ्कार प्रयुक्त हैं। शब्दालङ्कारों में वयण सगाई का प्रायः सम्पूर्ण ग्रन्थ में उपयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति और चित्रालङ्कार क्रमशः १३ (छन्द ७, १७, १८ दोस्थलों पर) ४६, १०५, १०६, ११६, १४६, १४७, २३२, २६३, २६४, और २८३), १० (छन्द ३, २६, ३५, ३८, १२१, १२६, १४६, १४७, १८० और १९३), ९ (छन्द ९८, १२४-१२७, १८८, २१२, २५६ और २६२), ७ (छंद ३७, ६१-६४, १३५ और ३०३) और १ (छंद २२३) स्थलों पर संघटित हुये हैं।

अर्थालङ्कारों में रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा, स्वभावोक्ति, दीपक, अपह्नुति, यथा-संख्य अथवा क्रम, व्याघात, परिकर, उल्लेख, विरोधाभास, सन्देह, उदात्त, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, हेतु, समुच्चय, विभावना, व्यतिरेक, प्रतीप, निदर्शना, काव्यार्थापत्ति, अत्युक्ति, भ्रान्तिमान, परिकरांकुर, पर्याय, दृष्टान्त, सार, पर्यायोक्ति, पुनरुक्ति प्रकाश, एकावलि, मीलित, अन्योन्य, विशेष, अनुमान प्रमाण, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, अधिक, उदाहरण, सहोक्ति, प्रहर्षण और सूक्ष्म क्रमानुसार ५८ (छंद १९-२३, २५, २७, ४०, ४३, ४९, ६२, ८६, ८९, ९०, ११७-१२१, १२३, १२४, १२६-१२८, १३२, १४०, १४४, १४६, १७१, १८४, १९५, १९८-२००, २२२, २२५, २३१-२३४, २३९, २४०, २४३-२५१, २५३, २६३, २७७, २९१, २९२, २९४ और ३०१), ४४ (छंद २, ३, १६, २४, २७, ४२, ८१, ८२, ८४, ८६, ८८-९४, ९६-९९, १०१, १०३, १०७, ११०, ११३, ११५, ११७, १२५, १४१, १४३, १४४, १५५, १५६, १७४, १७५, १९७, २२४, २३५, २३७, २४२, २५४ और २५५), ३७ (छंद ४, १२, १४, १५, २२, २६, ३०, ३३, ४२, ४९, ८९, ९५, ९९, १०४, १०५, १४५, १६६, १६७, १७०, १७७, १८१, १८२ (दो स्थलों में) २०१, २०७, २०८, २१३, २१८, २२०, २२१, २२८, २३६, २४१, २५७, २६१, २८२, और २९६), १६ (छंद १८, ४१, ४४, ४६, ४९, ५७, ६८,

११५, ११६, १२२, १२५, १३६, १६५, १७२, २२६ और २५८), १० (छंद २६, ४८, ७६, १३१, १३२, १६२, १६३, १७६, २०६ और २८१), १० (छंद १००, १५८-१६०, १६४, २२५, २३१, २४६, २५०, और २६३), ६ (छंद १२, ५५, ५६, १०६, १३१, १८०, १८५, १८६ और २६५), ६ (छंद ४२, १३७, १८३, १८५, १८७, २१२, २१८ और २२२), ८ (छंद ५४, ५८, ५६, ६४, ११२, १८८, २३८, और २५८), ७ (छंद २७, ७६, ६०, १०२, २५६, २६४, और ३००), ६ (छंद १३७, १७०, १८२, २१४, २२३ और २७१), ६ (छंद ४, २७, ४१, ५१, ८४ और ८६), ६ (छंद ३६, १८६, १६२, २०४, २६७ और २६८), ६ (छंद २०६, २२६, २५१, २५६, २६२ और ३०१), ६ (छंद ३६, १२६, १६८, २४२, २५०, और २७२), ५ (छंद ५३, ७०, २०२, २१२ और २६०), ५ (छंद ६५, ७४, १३६, १७६ और २५८), ४ (छंद १८, ४७, २२४ और २२८), ४ (छंद ८७, १६०, २५५ और २६५), ४ (छंद २६ और २८८-२६०), ३ (छन्द ६, ५६ और ६०), ३ (छंद ५, ७३, और ७८), ३ (छंद १८, ६६, और २८७), ३ (छंद १११, २०१ और २५७), ३ (छंद ५, २१७ और २५२), ३ (छंद २८, १६४ और १६६), २ (छंद २ और २६५), २ (छंद ५ और ४८), २ (छंद १६७ और २५४), २ (छंद ५ और ३६), २ (छंद ५० और १४५), २ (छंद २१० और २११), २ (छंद २६६ और २८१), २ (छंद २८२ और २८४), २ (छंद ७० और २८३), १ (छंद ४), १ (छंद ४८), १ (छंद १६६), १ (छंद २६७), १ (छंद २३), १ (छंद १६६), और १ (छंद १७२), स्थलों पर प्रयोग किये गये हैं। इस प्रकार वैण सगाई को छोड़कर ४७ प्रकार के अलङ्कारों को लेकर कवि ने अपने काव्य ग्रन्थ में ३४३ विभिन्न स्थानों में मणियों की भाँति जड़ दिया है। इतने अधिक अलङ्कारों से आभूषित होने पर भी काव्य की रसात्मकता में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं होता। कवि की यह आश्चर्यजनक सफलता उसके प्रौढ़ एवम् असाधारण कला कुशलता की परिचायक है।

३०३—कवि राजा बाँकीदास ने अपनी कुछ रचनाओं में अलङ्कारों का प्रयोग समुचित मात्रा में किया है। उनकी धवलपचीसी और नीतिमंजरी इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। धवलपचीसी के प्रत्येक दोहे अथवा सोरठे में एक या एक से अधिक अलङ्कार को कवि ने घटित किया है। ये अलङ्कार सभी अर्थ से सम्बन्धित हैं। समस्त अलङ्कार १४ प्रकार के हैं। इनके नाम हेतु, विचित्र, सम, आक्षेप, अप्रस्तुत, प्रशंसा, समुच्चय, विधि, उदात्त, अधिक, अनन्वय, सम्भव, निरुक्ति, विषाद और विनोक्ति हैं। ये क्रमानुसार ८ (छंद सं० ३, ६, १४, १७, २४, २६, ३० और ३२), ८ (छं० सं० ७, ८, १३, १८, २०, २१, २२ और २८), ४ (छं० सं० १६, १६, २३ और २५), ३ (छं० सं० ११, २७ और २६), २ (छं० सं० ४ और ११),

२ (छं० सं० ४ और ११), २ (छं० सं० ४ और २५), २ (छंद सं० ६ और १२), १ (छं० सं० १), १ (छं० सं० २), १ (छं० सं० ५), १ (छं० सं० १०), १ (छं० सं० २५), १ (छं० सं० ३१) तथा १ (छं० सं० ३३) स्थलों पर प्रयुक्त हुये हैं।

३०४—नीतिमंजरी में भी अलंकारों का प्राचुर्य धवलपचीसी के समान ही है। इसका भी प्रत्येक दोहा कम से कम एक अलंकार से चमत्कृत अवश्य है। ये भी अर्थालंकार हैं। ये संख्या में १२ प्रकार के हैं जो कि समुच्चय, विचित्र, उदाहरण, दृष्टांत, सम, हेतु, अप्रस्तुत, प्रशंसा, उदात्त, परिणाम, उपमा, क्रम एवं व्याघात हैं। ये यथाक्रम १० (छं० सं० २-६, १५ और २५), ६ (छं० सं० १, १८, २६, २७, २६ और ३५), ६ (छं० सं० ११-१३, १६, २० और २८), ४ (छं० सं० १८, ३०, ३४ और ३७), ३ (छं० सं० १, १४ और २१), ३ (छं० सं० २, १४ और २४), ३ (छं० सं० ३१-३३), २ (छं० सं० १ और १७), २ (छं० सं० १० और १६), २ (छं० सं० ६ और ३८), २ (छं० सं० २३ और ३६) और १ (छं० सं० ३६) स्थानों पर कवि द्वारा उपयोग किये गये हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बाँकीदास ने केवल दो रचनाओं में ७६ स्थलों पर २० प्रकार के अर्थालंकारों का प्रयोग किया है जो कि निस्संदेह श्लाघनीय कार्य-संपादन है।

३०५—अलंकारों के प्रचुर प्रयोग की दृष्टि से चतुर्थ विशेष उल्लेखनीय रचना सूर्यमल मिश्रण कृत वीर सतसई (अपूर्ण) है। इस ग्रन्थ रत्न में कदाचित् ही कोई ऐसा दोहा होगा जिसमें कि अलंकार का अभाव हो। इस ग्रन्थ के पारायण से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि कवि की प्रवृत्ति कविता स्वरूपा कामिनी को निरलंकार देखने की नहीं थी। कदाचित् यही कारण था कि उसने अपनी कविता कामिनी के दोहे रूपी अवयवों को अलंकारों से आभूषित किया है।

सूर्यमल मिश्रण विरचित इस काव्य ग्रंथ में वैण सगाई और अनुप्रास, जिनका कि उन्होंने बहुलता के साथ प्रयोग किया है, के अतिरिक्त शब्दालंकारों में उत्प्रेक्षा और यमक एवं अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, परिकराङ्कुर, काव्यलिंग, अपह्नुति, दीपक, अनुमान, विषम, चपलातिशयोक्ति, प्रहर्षण, विभावना, दृष्टांत, उदात्त, स्वभावोक्ति, रूपकातिशयोक्ति, पर्यायोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, असंगति, प्रश्नोत्तर, अन्योक्ति, समासोक्ति, वक्रोक्ति, अत्युक्ति, सन्देह, अद्भुत, व्यत्तिरेक, विशेषोक्ति, परिवृत्ति, विकल्प, उल्लास, सम, व्याजस्तुति, भ्रान्तिमान, निदर्शना, मानवीकरण, कोमल कृत व्यंजना और ध्वन्यार्थव्यंजना संघटित हुये हैं। ये क्रमशः १० (दो० सं० ४८, ७१, ६४, ६५, १०७, १८६, १८६, २२६, २३१ और २३६ आदि), ३ (दो० सं० ४५, १५३, और २८४), ५ (दो० सं० ५३, ५४, १३४, १६२, और २४६),

७ (दो० सं० २८, ५०, ६०, २१२, १४०, २४६, और २७६) २ (दो० सं० १ और १२७), ५ (दो० सं० १०, १८, १८१, १८८, और २१३), २ (दो० सं० ११ और १८२), ४ (दो० सं० १२, १३, ४० और २४५), ४ (दो० सं० १६, ६३, १५४ और १८३), २ (दो० सं० १६ और २०६), ४ (दो० सं० २०, २२५, २३८ और २५३), १ (दो० सं० २२), १ (दो० सं० २२३), १ (दो० सं० २४०), १ (दो० सं० २५), ५ (दो० सं० २७, १६७, २१०; २३५ और २७४), ३ (दो० सं० ३३, ६०, १२३), ३ (दो० सं० ३६, १३८ और २०६), २ (दो० सं० ३७ और ५८), १ (दो० सं० ४४), ४ (दो० सं० ४७, ८०, ८२ और १५३), ५ (दो० सं० ५५, २६७, २८०, २८६ और २८८), ४ (दो० सं० ५६, ५७, १२५, और १२६), ३ (दो० सं० ६०, ६५ और ८१), ६ (दो० सं० ६७, ६८, १०६, १५२, १५४, १६४, २००, २१५ और २३१), १ (दो० सं० ६६), १ (दो० सं० ६६), ४ (दो० सं० ७६, १८४, १८७ और २३३), १ (दो० सं० ६६), १ (दो० सं० १००), १ (दो० सं० १४६), १ (दो० सं० १६१), १ (दो० सं० १६१). १ (दो० सं० २१८), १ (दो० सं० २१८), १ (दो० सं०), १ (दो० सं० २२८), १ (दो० सं० २०४) और १ (दो० सं०), स्थलों पर प्रयुक्त हुये हैं और कोष्ठकों में निर्देश किये गये दोहों में विशेष रूप से देखे जा सकते हैं।

यहाँ पर संकेत कर देना आवश्यक है कि ऊपर उल्लेख किये गये अंतिम तीन अलंकार—मानवीकरण, कोमल कृत व्यंजना, और ध्वन्यार्थ व्यंजना, अंग्रेजी साहित्य से संबंधित हैं, अस्तु, इनके प्रयोगों पर प्रकाश डाल देना अवांछनीय न होगा।

मानवीकरण—personification का प्रयोग वीर सतसई में निम्नलिखित दोहे में हुआ है :—

> **गोला किम मांडो गजर, होतां फजर हमाम।**
> **नीठ हियां आया नजर, जाणो धजर दुजाम॥**

ऊपर के दोहे में वीरता को मूर्त्त वीर के रूप में उपस्थित किया गया है। पारिभाविक शब्दों में अव्यक्त वस्तु वीरता पर वीर का रूप आरोपित किया गया है। अतएव यहाँ मानवीकरण अलंकार है।

कोमल कृत व्यंजना—Euphemism का प्रयोग नीचे अवतरित दोहे में लक्षणीय है :—

> **पोता रै बेटा थिया, घर में वधियो जाल।**
> **अब तो छोड़ो पागणों, कंत लुमावो काल॥**

इस दोहे में पत्नी ने अपने वयोवृद्ध पति पर अत्यन्त मधुर एवं कोमल शब्दावली में विषाक्त व्यंग्य किया है। पति के चरित्रगत भीरु पक्ष को, जो कि निस्संदेह अप्रिय और कुरूप है, पत्नी द्वारा रुचिकर एवं सुन्दर रूप देने की प्रवृत्ति इस दोहे में स्पष्टतया दृष्टिगत होती है। अस्तु, यहाँ कोमल कृत व्यंजना अलंकार है।

ध्वन्यार्थ व्यंजना—(Onomatopocio) का अभिप्राय काव्यगत शब्दों की उस ध्वनि से है जो शब्द सामर्थ्य से ही प्रसंग और अर्थ का उद्बोधन करा कर एक चित्र खड़ा कर देती है। यही नहीं, काव्य के आन्तरिक गुणों से अपरिचित रहने पर भी भाषा का वाह्य सौंदर्य श्रोता और पाठक के हृदय में एक आकर्षण पैदा कर देता है। इसमें भाव तथा भाषा के सामंजस्य और स्वरैक्य की आवश्यकता होती है। यद्यपि उसमें यमक और अनुप्रास का ही आभास रहता है पर उससे यह एक विचित्र वस्तु है और इसके रहते हुये भी उनकी ओर ध्यान न जाकर वह ध्वन्यार्थ व्यंजना की ओर खिंच जाता है[1]। पोप ने भी ध्वन्यार्थ-व्यंजना के सम्बन्ध में कहा है कि "ध्वनि मस्तिष्क को प्रतिध्वनि प्रतीत होना चाहिये[2]।" नीचे के उद्धरण में स्पष्टतया ध्वनि के द्वारा अर्थ की प्रतीति होती है :—

तोमाँ घर दरजा पड़े, झड़े गिरां सिर झाट।
जाणे सागर खीर रै, मन्दर रौ अरराट॥

३०६—द्वितीय प्रकार की रचनाओं में कल्लोल कवि कृत ढो० मा० दू०, वीठू सूजा कृत रा० जै० छ०, ईसरदास रचित हा० झा० कु०, जग्गा खिड़िया विनिर्मित व० रा० र० म० और मनसाराम लिखित र० रू० गी० आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अतएव अलंकारों के प्रयोग की दृष्टि से इनका विशेष परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

ढो० मा० दू० में ४१ प्रकार के विविध अलंकारों का प्रयोग हुआ है जिनमें सर्वाधिक उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा-साहश्य मूलक अलंकार हैं। ढो० मा० दू० में केवल उपमा अलंकार का प्रयोग १०६ स्थलों पर हुआ है। रूपक और उत्प्रेक्षा का प्रयोग क्रमशः ३७ और ३२ स्थलों पर हुआ है जिनका विवरण इस प्रकार है— (उपमा) दो० सं० १३ (७), १५, १६, १९, २६, ५६, ८७ (४), १४३, १५९, १६३, १९२, १९३, १९८, १९९, २०४, २०५, २०७, २१२, २६७, २९९, ३५३-५५, ३६७, ३७१, ३७२, ३७७, ३८०, ३९३, ४०३, ४१८, ४४७, ४५१-५३, ४५४ (६), ४५७ (२), ४५८, ४५९, (४), ४६० (४), ४६२ (३), ४६६ (३),

१—वी० स०।
२—वही।

४६६, (३) ४७१-४७३, ४७४ (४), ४७६, ४७६, (५), ४८०, ४८३, ४८४, ४६५, ४६७, ४६८, ५०४, ५१३, ५२१, ५४० (३), ५४५, ५८२, ६०४, ६३६, ६६६, (२) और ६६६=१०२ तथा ७ मालोपमा—दो० सं० १६१, १६८, १७२, ५६२, (२), ५६४ और ६७३। रूपक—दो० सं० ५४, ७७, ११५, ११६, ११८-१३५, १५८, १६६, २४८, २५५, ३४६, ३६०, ५३६, ५४३, ५५०, ५६०, ५८३, ५८४, ५८७, ६०० और ६०१। उत्प्रेक्षा—दो० सं० ३७, ५५, ६८, ८६, २०६, २३६, २६७, २८२, ३८१, ४६१, ४६३, ४६५, ४७०, ४७३, ४८३, ५०४, ५३७ (२), ५३८, ५३६, ५५१, ५५२, ५५४, ५६१, ५६२ (२), ५६६ (२), ६२२, ६३६ और ६४८।

उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त अलंकारों में भाविक, स्मरण, सूक्ष्म, विरोधाभास, स्वभावोक्ति, विनोक्ति, प्रहर्षण, विचित्र, ललित, अप्रस्तुतप्रशंसा, अन्योक्ति, पुनरुक्ति प्रकाश, प्रश्न, मानवीकरण, प्रश्नोत्तर, व्याघात, अतिशयोक्ति, दीपक, विशेष, विषाद, आक्षेप, संभव, मीलित, भ्रान्तिमान्, संदेह, अत्युक्ति, पर्यायोक्ति, लोकोक्ति, विकल्प, असंगति, अधिक, विषेषक, अपह्नुति, उन्मीलित, परिणाम, प्रतिवस्तूपमा, विषम और व्यतिरेक का प्रयोग हुआ है जो कि यथाक्रम २८ (दो० सं० ३७, ७२, ७३, १४५, १४७, १४६-१५१, १५४, १५७, १७४, २११, २१५, ३६८, ३६६, ३८३—८७, ४१४-१६, ४६४, ५०३, ५०६, ५१२ और ५१३), २० (दो० सं० १८, ३०, ३४, ३८, ४१, ४४-४६, ५६, ३५६, ३६६, ३७५, ३७६, ३८२, ३८८, ४६७, ५०५, और ६१०-१२), १७ (दो० सं० ७८, ६६, १३७, १४४, २१६, २३७, २६८, २६६, २७१, २८५, २८७, ३०३, ३०४, ३६१, ३६६, ३६५ और ५६१), १७ (दो० सं० ५०, ७६, १८०, २८८—२६२, २६४, २६६, २६८, ३०१, ३५०, ३५१, ३६३, ४२० और ४८८), १६ (दो० सं० २७, ४१, ५१, ५८, १५८, १६५, १६६, २३६, २६४, ३००, ३४६, ३५८, ३६२, ३६४, ३७८, और ३७६), १४ (दो० सं० १३६, १५५, १६३, १६६, १७३, १६३, २५५, २५६, २७६, ३७०, ३७४, ३६३, ३६६ और ४०३), ११ (दो० सं० ४०, २८०, ५०४-५०८, ५२८, ५२६, ५३३ और ५३४), ११ दो० सं० ६५, ७५, १४३, १६०, ४६६, ५७०, ५७२, और ५७५-७८), ८ (दो० सं० ४१, ४५८, ५०६, ५५४, ५७६, ५७८, ५८०, और ५६१), ७ (दो० सं० ११२, ४६३, ४६४, ४६८, ४७७, ४८७, और ४८८), ७ (दो० सं० २०१, २०२, ३८६-६१, ५४८ और ५४६), ६ (दो० सं० ३०५, ३४४, ३४८, ४३४, ६०७ और ६११), ६ (दो० सं० ३३, ५३, १४८, २८१, २८३ और २८४), ६ (दो० सं० २१६, ३७३, ३६४, ५१०, ५१४ और ५४१), ४ (दो० सं० ३२, ४२, १४० और ५५६), ४ (दो० सं० ४७-४६ और १६२), ४ (दो० सं० ६३, १५६, ३५७,

और ५४५), ४ (दो० सं० ४७०, ४७५, ४७६ और ४६५), ३ (दो० सं० ३६, ७४ और १७१), ३ (दो० सं० ४१२, ५११ और ५१४), २ (दो० सं० ३३८ और ३३६), २ (दो० सं० ३१ और ३५), २ (दो० सं० ३५३ और ५७२), २ (दो० सं० ४७८ और ५४२), (दो० सं० ५७२ और ५७३), २ (दो० सं० सं० ६३ और २००), २ (दो० सं० १४२ और १६७), २ (दो० स० २५३ और २५६), १ (दो० सं० २६५); १ (दो० सं० ४१३), १ (दो० सं० ६२), १ (दो० सं० ७१), १ (दो० सं० ११३), १ (दो० सं० १७६), १ (दो० सं० १८१), १ (दो० सं० २०१), १ (दो० सं० २५१), और १ (दो० सं० २५८) स्थलों पर प्रयुक्त हुये हैं।

ऊपर उल्लेख किये गये अलंकारों के अतिरिक्त दो जगहों पर विशिष्ट प्रयोग के निदर्शन होते हैं। एक में कवि ने उपमानों के माध्यम से मारवणी का रूपसौंदर्य वर्णन किया है। ये उपमान कीर, भ्रमर, कोकिल, कमल, चंद्र, सिंह, हाथी, और फणीन्द्र है जो कि क्रमशः नासिका, भ्रू, वाणी, नेत्र, मुख, कटि, गति अथवा ऊरु और वेणी के लाक्षणिक हैं[1]। दूसरी जगह में दृष्टकूट का प्रभाव है—

इन्द्रां-वाहण-नासिका, तासु तणइ उणिहार।
तस भख हूवउ प्राहुणउ, तिणि सिणगार उतार ॥४८०॥

अर्थात् नायिका ने अपने शृंगार के उपकरण इसलिये उतार दिये, क्योंकि प्रापूर्ण (प्राहुणउ) इन्द्र के वाहन हाथी की नासिका अर्थात् शुण्ड के सदृश आकृति वाले सर्प का भक्ष्य हो गया। यहाँ प्रसंगात् यह निर्देश कर देना आवश्यक है कि प्रथम दोहे में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

६०७—वीठू सूजा कृत रा० जै० छं० में अलंकारों की विविधता नहीं है। केवल कुछ इने-गिने अलंकारों के प्रयोग इस रचना में उपलब्ध होते हैं जिनमें अधिकाँश सादृश्यमूलक अलंकार हैं। सादृश्यमूलक अलंकारों में उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपक का प्रयोग सर्वाधिक मिलता है। इनके प्रयोग लगभग क्रमशः २३ (छं० सं० ४६, ८६, ६०, १५५, १६६, १७०, १८०, १८३, २०१-३, २०५, २०६ (२), २२२, २४०, २८०, ३६३, ३६७, ३६८, (२), और ३८८) (२), २० (छं सं० ६, २६, २६, ५०, ५२, ५३, ८७, ६२, ६७, ६६, २०४, २०६, २१२, २६६, २६४, २६६, ३६१, और ३६६) और ६ (छं० सं० ३२, ५०, १०३, ३८३, ३६५, और ३६६) स्थलों पर अवलोकनीय हैं। अन्य अलंकारों में अत्युक्ति, अनन्वय, विशेष, यमक और मानवीकरण हैं। इनके प्रयोग केवल नाम मात्र के लिये हुये हैं जो कि छं० सं० २००, १५५, २०२, ३८७, और ३७० में लक्षणीय हैं। संक्षेप में रा० जै० छं० में केवल ८ प्रकार के अलंकार मिलते हैं।

---

[1]—ढो० मा० दू०, दो० सं० ४५५।

३०८—महात्मा ईसरदास द्वारा प्रणयन की गई रचना हा० झा० कुं० भी अलंकारों के प्रयोग की दृष्टि से विशेष संपन्न नहीं हैं। इसमें सब मिलाकर १३ प्रकार के अलंकार प्राप्य हैं जिनमें उपमा, व्याजस्तुति, रूपक, अन्योक्ति, विरोधाभास, काव्यार्थापत्ति, स्मरण, अत्युक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, भाविक, लोकोक्ति, स्वभावोक्ति और काव्यलिंग हैं। इन अलंकारों में प्रथम पाँच का उपयोग यथाक्रम १० (कुं० सं० ६, ७ (२), १८, २१, ३१, ३३, ४६, ४६ और ५०), ८ (कुं० सं० १३, १७, १६, ३०, ३३, ३६, ४५ और ४७), ४ (कुं० सं० २२, २३, २४, और ४८), ३ (कुं० सं० ६-११), और २ (कुं० सं० १७ और १६) स्थानों पर हुआ है। शेष ८ अलंकारों का प्रयोग केवल एक बार क्रमानुसार (कुं० सं० १, २१, ८, १२, २५, ३४, और ४८) में प्राप्त होता है।

३०६—अलङ्कारों के व्यवहार की अनेकरूपता का ध्यान रखते हुये जग्गा खिड़िया विरचित व० रा० र० म० को भी एक दीन रचना समझना चाहिये क्योंकि इसमें केवल १० प्रकार के अलङ्कार प्रयुक्त हुये हैं। किन्तु इन १० प्रकार के अलङ्कारों में उपमा और उत्प्रेक्षा का उपयोग अन्य अलंकारों की अपेक्षा प्रचुर मात्रा में मिलता है। इन दोनों अलंकारों का प्रयोग ४७ (छं० सं० ४, २२, २८, ४७, ५२, ६४, ६७, ६६, ७६—८०, ८२, ८३, ६७, १०१, १०५, १०६, ११३, ११४, ११७, १२२, १२६, १३०, १४२, १४३, १४६, १५०, १५३, १५४, १६६, १७२, २२७, २४६ (५), २४७, (५), २४८ और २५५ (२) और ३७ (छं० सं० २१ (२), २२, २७ (२), ३३, ३६, ४५, ८२; ६३ (२), ६६—६८, ६६ (२), १००, १०४, १२३, १२७, १२८, १३३, (२) १३६, १४७, १६२, १८६, १६८, २२५, २२६, २२८, २३३, २३४, २३६, २३६, २४० और २४३) बार हुआ है। शेष आठ अलंकारों में विशेष, स्मरण, रूपक, श्लेष, पुनरुक्तिप्रकाश, यथासंख्य, ललित और अनन्वय व्यवहृत हुये हैं जो कि क्रमशः ८ (छं० सं० ४४, १३२, (२), १३३, १३६, १५६, २४४ और २५६), ६ (छं० सं० ६२, ६७, ८६, १०४, १४६ और १६१), ४ (छं० सं० ८६, १०३, १३३ और १३७), २ (छं० सं० ५६ और ६२), २ (छं० सं० ८६ और १३४), १ (छं० सं० १३०) तथा १ (छं० सं० १६४) बार प्रयुक्त हुये हैं।

३१०—मनसाराम विनिर्मित र० रू० गी० अलंकारों के प्रयोग की दृष्टि से एक सामान्य कोटि की रचना है। इसमें अनेक प्रकार के अलंकार देखने को मिलते हैं किन्तु किसी भी अलंकार का प्रयोग विशेष बहुलता के साथ नहीं हुआ है। यहाँ तक कि उपमा और उत्प्रेक्षा भी जिसका कि रचना में सर्वाधिक उपयोग हुआ है, ग्रंथ के कलेवर को देखते हुये अल्पसंख्यक ही हैं। इसमें सब मिलाकर २२ प्रकार के विविध अलंकारों का संग्रटन हुआ है जो कि इस प्रकार हैं—उपमा (इसके अंत-

गंत उपमा के विभिन्न प्रभेदों के साथ मालोपमा भी है), उत्प्रेक्षा, विशेष, रूपक, क्रम, अप्रस्तुतप्रशंसा, असंगति, स्मरण, उल्लेख, व्यतिरेक, भाविक, सूक्ष्म, प्रश्न, स्वभावोक्ति, विनोक्ति, विरोधाभास, यमक, विधि, विषाद, विभावना, ललित, दृष्टान्त और उत्तर। इनका प्रयोग क्रमानुसार २७ (छं० सं० ७ प्र० वि०, छं० सं० ७ द्वि० वि०, छं० सं० ३१ तृ० वि०, छं० सं० ४, १०, (२), च० वि०, छं० सं० १२, १८, २२ पं० वि०, छं० सं० ६ (२) प० वि०, छं० सं० ३, ११ (३), २३, २६ अ० वि०, पृ० २५१ पंक्ति ३, पृ० २७० पंक्ति २ और १८ न० वि० २२ तथा ५ मालोपमा—छं० सं० १, ६, २७ प्र० वि०, छं० सं० ८ तृ० वि०, पृ० २५७ प्रथम चार पंक्तियाँ, १६ (पृ० ८१ पंक्ति ३, १५, पृ० ८७ पंक्ति १६—२०, पृ० ६३ पंक्ति २, छं० सं० ३, १०, ११ (५), १४ (२), २३ (३), अ० वि०), १४ (छं० सं० २८, ३३ प्र० वि०, छं० सं० १७ द्वि० वि०, छं० सं० ३, २३, (२), ३६ (पद ३) अ० वि०, पृ० २५२ पंक्ति ३—४, पृ० २५६—५७ का 'उदाहरण', पृ० २५८—५६ का 'उदाहरण', पृ० २६५ का 'उदाहरण', पृ० २७८ का 'उदाहरण' न० वि०, ६ (छं० सं० ३, २६, प्र० वि०, छं० सं० ७ द्वि० वि०, छं० सं० ३ पं० वि०, छं० सं० ७ प० वि०, छं० सं० ८ सं० वि०), ६ (पृ० २४६—७ का 'उदाहरण', पृ० २४८—६ का 'उदाहरण', पृ० २६३—४ का 'उदाहरण', पृ० २६६—६७ का 'उदाहरण', पृ० २६८ का 'उदाहरण' न० वि०), ५ (छं० सं० ७ द्वि० वि०, छं० सं० ३१ तृ० वि०, छं० सं० २० पं० वि०, पृ० २७४ 'निसाणी रूपमाला का उदाहरण', पृ० २८२ कुंडलनी न० वि०), ५ (पृ० २७० 'शुद्ध निसाणी का उदाहरण', पृ० २७१ 'उदाहरण', पृ० २७४, 'निसाणी सोहणी का उदाहरण', पृ० २७७—७८ 'निसाणी दुमिला का उदाहरण', पृ० २८४ 'कवित्त' न० वि०), ४ (छं० सं० २ प्र० वि०, छं० सं० २२ पं० वि०, छं० सं० ११ प० वि०, छं० सं० १४), ४ (छं० सं० ५ प० वि०, छं० सं० ६ अ० वि०, पृ० २४६—४७ 'उदाहरण', पृ० २४६ दूजो भेद न० वि०), ४ (पृ० २६२ (४) न० वि०), ३ (छं० सं० २१, २२ द्वि० वि० छं० सं० २६ अ० वि०), २ छं० सं० २ पं० वि०, छं० सं० ६ अ० वि०), २ (पृ० २६७ चतुर्थ पद, पृ० २७६ 'उदाहरण', १ (छं० सं० ४ प्र० वि०), १ (छं० सं० १७ द्वि० वि०), १ (छं० सं० १० च० वि०), १ (छं० सं० ७ प० वि०), १ (छं० सं० १६ अ० वि०), १ (छं० सं० २१ अ० वि०), १ (पृ० २६४ द्वितीय पद न० वि०), १ (पृ० २६४, तृतीय पद न० वि०) और १ (पृ० २६८ तृतीय पद न० वि०) बार हुआ है।

र० रू० गी० में प्रथम विलास का इकतीसवाँ 'गीत' दृष्टिकूट का एक मनोरम उदाहरण है जिसके संबंध में प्रसंगवश यह निवेदन कर देना अनुचित न होगा कि

दृष्टिकूट के माध्यम से चमत्कृत पद को डिंगल-साहित्य के पंडितों ने सदोष प्रयोग माना है और इसे अपस दोष की संज्ञा प्रदान किया है[१]।

३११—ऊपर जिन रचनाओं में प्रयुक्त अलंकारों का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उनकी अलंकारगत परिस्थिति को निम्नलिखित तालिका द्वारा सुस्पष्ट रूप में समझा जा सकता है :—

ग्रं०	विविध अलंकार	अलंकार संख्या	छंद संख्या	प्रतिशत अलंकार
वै० कि० रू०	४७	३३१	३०५	१०६
ध० प०	१४	३६	३४	१०६
नी० म०	१२	४४	३६	११३
वी० स०	३६	१०८	२८८	३८
ढो० मा० दू०	४१	२६१	६७४	४२
रा० जै० छं०	८	५४	४०१	१३
हा० झा० कु०	१३	३५	५०	७०
व० रा० र० म०	१०	१०८	२६६	४१
र० रू० गी०	२२	१०७	२४०	४५

इस तालिका के विषय में यह बता देना आवश्यक है कि इसमें वैणसगाई और अनुप्रास बहुप्रयुक्त अलंकारों को छोड़ दिया गया है। इसमें संदेह नहीं कि वैण सगाई और अनुप्रास के संयुक्त कर देने पर इन रचनाओं के अलंकारों के प्रतिशतों में पर्याप्त संवृद्धि हो सकती है।

जो कुछ भी हो, ऊपर की तालिका के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अलंकारों की विविधता और संख्याधिक्य दोनों ही दृष्टियों से 'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री' सर्वाधिक संपन्न है।

———

१—र० रू० गी०, पृ० २५-२६।

अध्याय ४

छन्दों का अध्ययन

३१२—डिंगल पद्य साहित्य के अध्ययन से विदित होता है कि इसका पिंगल शास्त्र व्यापक है। ऐसा अनुमान होता है कि जिस समय डिंगल-साहित्य अपने उन्नति के शिखर पर था, उस समय डिंगल के कवियों ने पिंगल सम्बन्धी अनेक प्रयोग किये और उसे यथाशक्ति विकसित कर समृद्धिशाली बनाया। छंद शास्त्र के इस व्यापक विकास की पृष्ठभूमि में कौन-सी प्रेरणा अथवा शक्ति थी, पूर्णतया निश्चय के साथ कहना कठिन है किन्तु लेखक की इस संबन्ध में व्यक्तिगत अनुमुद्रा यह है कि छंदों के विकास में चारणों और भाटों की कवितापाठ की विशिष्टता संपन्न पठन विधि का, कम से कम, बहुत बड़ा हाथ था। यहाँ यह बताना पिष्ट-पेषण मात्र होगा कि डिंगल के कवियों द्वारा रचित अधिकांश कवितायें एक विशिष्ट समाज में पढ़ने के लिये हुआ करती थीं जिनका प्रधान लक्ष्य श्रोता वर्ग को प्रभावित करना होता था। यह कार्य नादात्मकता द्वारा ही संपन्न किया जा सकता था और नादात्मक प्रभाव डालने के लिये उनके लिये छंदों का आश्रय ग्रहण करना लगभग अनिवार्य-सा था।

३१३—छंदों का विकास, जैसाकि स्वाभाविक है, कवियों के द्वारा हुआ होगा जिसे कि कालांतर में छंद शास्त्र के आचार्यों ने नियम-बद्ध कर दिया। यह कार्य ईसा की १७ वीं शती के द्वितीयार्ध से लेकर लगभग १६ वीं शती तक हुआ है। २५० वर्षों के लगभग की इस कालावधि के अंतर्गत, कोई भी छंद शास्त्र संबंधी अनेक ग्रंथों के रचे जाने का सहज अनुमान लगा सकता है। किन्तु खेद का विषय है कि इस मध्यान्तर के लिखे गये इस समय केवल ५ ग्रंथ मिलते हैं। ये जोगीदास-कृत 'हरि पिंगल प्रकाश', हम्मीर रत्नू प्रणीत 'लखपत गुण पिंगल', मनसाराम विरचित 'रघुनाथ रूपक गीतारों', किशन जी आढा विनिर्मित 'रघुबर जस प्रकास' और बूंदी के मुरारि दान द्वारा लिखित 'डिंगल कोश' हैं। छंद शास्त्र के इन पाँच ग्रन्थों में डिंगल के छंदों और विशेषतया गीतों का सम्यक् निरूपण किया गया है। इन रचनाओं का परिचय अन्यत्र दिया जा चुका है। यहाँ संक्षेप में, केवल इतना उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा कि इन ग्रन्थों में छंदों के वर्णिक, मात्रिक और मिश्रित भेद और उनके लक्षण, प्रस्तार तथा उनके नियम, विभिन्न छंदों के नाम तथा उनके लक्षण एवं उदाहरण और गीत—उसके प्रभेदों के नाम, लक्षण तथा उदाहरण प्रभृति का वर्णन है।

उपरोक्त छंद शास्त्र संबन्धी रचनाओं तथा इतर साहित्यिक काव्य ग्रन्थों में प्रयुक्त छंदों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि डिंगल के छंदशास्त्रियों तथा साहित्यकारों द्वारा अनेक नवीन तथा मौलिक छंदों की उद्भावना हुई है। इस दृष्टि से निसाणी[1] जिसके कि शुद्ध गरवत, गध्धर, पैड़ी, सिर खुली, सोहणी, रूपमाला, मारू, सिंहचली, झींगर, दुमिला और वार द्वादश भेद किये गये हैं, विद्याधर[2] लक्ष्मीधर[3], सारंग[4], मोदक[5], नाराच[6], अर्ध नाराच[7], चर्चरी[8], उद्धौर[9], बेताल[10] और अमृतध्वनि[11] आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय । इन छंदों के लक्षण रघुनाथरूपक गीताँरों तथा डिंगल कोश में प्राप्त होते हैं किन्तु साहित्यिक ग्रन्थों में चन्द्रायणा, हणूकाल, कडरवा, गीया, ममराली, विदूमाला, रोमकन्ध, साटक, तिलका, रसावत, त्रिकूट बंध, हाकुटीया और सिंहावलोकण आदि अन्य छंद भी उपलब्ध होते हैं जिन पर कि उनमें विचार नहीं किया गया है।

३१४—डिंगल में संस्कृत हिन्दी में प्रयुक्त कुछ छंदों पर मौलिक ढंग से विचार भी किया गया है और साथ ही उनका विस्तार भी। इस दृष्टि से दोहा कुंडलिया और छप्पय पर नीचे प्रकाश डाला जाता है।

दोहा—इसकी व्युत्पत्ति एक मत के अनुसार दोग्धक अथवा दोधक[12] से, द्वितीय मतानुसार द्विपदा तथा तृतीय मतानुसार द्विधा से मानी जाती है[13]। डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने इसे द्विछन्नमयपद (Distict couplet) की संज्ञा प्रदान

१—र० रू० गी०, पृ० २६६-७८।

२—डिं० को० चतुर्थ खंड, छं० सं० ७७।

३—वही, छं० सं० ७६।

४—वही, छं० सं० ८१।

५—वही, छं० सं० ८३।

६—डिं० को० चतुर्थ खंड, छं० सं० ८६।

७—यह नाराच छंद का आधा होता है जिसमें केवल दो पद होते हैं।

८—डिं० को० चतुर्थ खंड, छं० सं० ८७।

९—वही, पृ० ६६।

१०—वही, पृ० ६७।

११—वही, पृ० १११।

१२—गुजराती में यह एक पृथक् छंद है। दसपत पिंगल, पृ० ३८-३६, (सन् १६३८ ई० का संस्करण)।

१३—रा० दू०, पृ० ५७-५८, तथा हिन्दुस्तानी, भाग ३, अं० १ जनवरी—३३, 'राजस्थानी का दूहा छं०' पृ० ३६०-४।

किया है[1]। डिंगल में इसे दूहा कहते हैं। कदाचित् कहने की आवश्यकता नहीं कि यह एक मात्रिक छंद हैं। डिंगल में इस दूहा छन्द के अनेक भेद किये गये हैं। नरोत्तम दास स्वामी के अनुसार इसके चार भेद हैं[2] और मोतीलाल मेनारिया के अनुसार पाँच[3]। प्रथम चार भेदों—दूहों, सोरठियों दूहों, बड़ों, सांकलियो अथवा अन्तमेल दूहो, और तुंवैरी अथवा मध्यमेल दूहों के सम्बन्ध में डिंगल के दोनों ही विद्वान् एक मत हैं किन्तु मेनारिया जी का खोड़ो दूहो इन चारों के अतिरिक्त है। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि डिंगल का दूहो हिन्दी का दोहा और डिंगल का सोरठियों दूहो हिन्दी का सोरठा है। शेष तीन डिंगल के साहित्यकारों का अपना सृजन है।

कुंडलिया—इस शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के कुंडलित शब्द से मानी जाती है। कदाचित् कहने की आवश्यकता नहीं कि यह एक मिश्रित छंद है। हिन्दी में कुंडलिया का केवल एक रूप देखने में आता है किन्तु मनसाराम ने डिंगल में इसके पाँच भेदों का वर्णन किया है, जिनके नाम झडउलट, राजवट, शुद्ध दोहाल और कुंडलनी है[4]। कुंडलिया छंद पर नरोत्तमदास स्वामी ने अपने एक निबन्ध में सविस्तार विचार किया है जो कि इस सम्बन्ध में विशेष रूप से अवलोकनीय है[5]। यहाँ केवल इतना उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा कि डिंगल का शुद्ध कुंडलिया ही हिन्दी का कुंडलिया छंद है। शेष चार भेद डिंगल की अपनी मौलिकता है।

छप्पय—साधारणतया डिंगल और हिन्दी में प्राप्य छप्पय छंद एक ही हैं। इनमें कोई भेद नहीं है। किन्तु डिंगल साहित्य में छप्पय का एक इतर रूप भी देखने में आता है। इसमें सामान्यतः एक दोहा प्रारम्भ में और अनन्तर रोला के ६ पद होते हैं जिसके प्रथम पद में सिंहावलोकन होता है और अन्त में एक उल्लाला छंद। रघुनाथ रूपक गीतांरो के एक 'कुंडलियों' छंद की आलोचना करते हुये महताब चंद्र खारैड़ ने लिखा है कि "पिंगल के ग्रन्थों में तो इस प्रकार का कोई छंद हमारे देखने में नहीं आया। किन्तु एक पुस्तक—'कविता कुसुमकली द्वितीय पखडी' में दोहा-बन्ध छप्पय अवश्य हमने देखा है। उसी से हम अपना मत स्थिर करके कह सकते हैं कि ऊपर का छंद दोहा बंध डोड्यी छप्पय है[6]।" कहने का

१—वी० स० (अपूर्ण), प्राक्कथन पृ० ७।

२—रा० दू०, पृ० ५७-५८।

३—रा० भा० सा०, पृ० ६७-६८।

४—र० रू० गी०, पृ० २७६-२८२।

५—हिन्दुस्तानी, भाग २, अंक १, जनवरी—३३, 'कुंडलिया छं०' निबंध पृ० ३६७-४०२।

६—र० रू० गी०, पृ० ११।

अभिप्राय यह है कि डिंगल में छप्पय का एक इतर रूप 'दोहा बन्ध डोड्यी छप्पय' अथवा छप्पय दोढी भी देखने में आता है। वस्तुतः यह डिंगल के छंद शास्त्रियों की अपनी सूझ है।

३१५—संस्कृत हिन्दी तथा डिंगल के अनेक तुलनात्मक अध्ययन संबंधी सूत्र भी उपलब्ध होते हैं। नीचे इस दृष्टि से लक्षणीय कुछ विशेष तुलनीय छंदों का उल्लेख किया जाता है—

(अ) हिन्दी में प्रयुक्त तोमर छन्द डिंगल में भी उपलब्ध होता है। किन्तु हिन्दी में यह मात्रिक छंद के रूप में उपयोग किया जाता है[1] और डिंगल में वर्णिक छंद के रूप में[2]। यह चिंत्य है। यहाँ यह भी कह देना अप्रासंगिक न होगा कि ठीक इसी प्रकार की समस्या हिन्दी और डिंगल में प्रयुक्त गीतिका छंद की भी है[3]।

(आ)—हिन्दी में प्रयुक्त 'सरसी' छंद का लक्षण २७ मात्रा, १६ और ११ मात्राओं पर यति और अन्त में '।' है[4]। डिंगल में भी कदाचित् जो 'सारसी' छंद प्रयुक्त होता है, उसका लक्षण '२८ मात्राएँ, १६ और १२ मात्राओं पर यति और पदांत में रगण' होता जैसा कि नीचे अवतरित 'सारसी' छंद से सुव्यक्त है—

आवी अलेखे कोज ईखे रीति लेखे रूपसी।
अठियौ अग्गै आम लग्गै अकस जंगे ऊपसी॥
हुय रौद्र हक्कं ग्रेह लक्कं जै निलक्कं जोगणी।
वंका गरज्जै खड्ग वज्जे सक्ति रज्जै सक्कणी॥[5]

कहना न होगा कि हिन्दी के सरसी और डिंगल के सारसी छंदों में भिन्नता है। अतः समस्या शेष रह जाती है कि सारसी डिंगल का अपना मौलिक छन्द है अथवा हिन्दी के सरसी छंद से विकसित।

(इ) हिन्दी के चौपाई छंद का प्रयोग डिंगल में चौपाई नाम के अतिरिक्त पादाकुल या पादाकुलक, बेअक्खरी और चौसर नामों से भी होता है। यह नीचे उद्धृत उदाहरणों द्वारा स्पष्टतया प्रमाणित है—

१—अवध उपाध्याय—नवीन पिंगल, पृ० ८७।

२—डिं० को० चतुर्थ खंड, छं० सं० ६०।

३—अवध उपाध्याय—नवीन पिंगल, पृ० ६४ तथा डिं० को० चतुर्थ खंड, छं० सं० ८८।

४—वही, पृ० ६५

५—रा० रू०, पृ० ४८।

लम्बोदर सारद हित लीजै।
दास जांण मोहि वाणी दीजै[1] ॥ (चौपाई)

जग रखावल, जगत चौजांभी।
सुर नर इष्ट सृष्ट चौसांभी[2] ॥ (बेअक्खरी)

सिर हिन्दवांण तणौ रीसायौ।
औरंग पीठ लगे हिज आयौ[3] ॥ (चौसर)

विंहि वर पत्तु रीन अग आइय।
जानक मैंन मैंनका जाइय[4] ॥ (पादाकुल)

चारों के अध्ययन से प्रकट है कि उनके लक्षण '१६ मात्रा, अंत में जगण और तगण या गुरु लघु का होना' एक ही हैं। एक ही छंद को अनेक नामों से संयुक्त करने की समस्या निस्संदेह विचारणीय है।

३१६—डिंगल भाषा के कवियों की एक लक्षणीय विशेषता उनका निस्संकोच भाव से संस्कृत हिन्दी के प्रयुक्त छंदों का प्रयोग करना रहा है। इस दृष्टि से कुछ विशेष उल्लेखनीय नाम—भुअंगी, उपेंद्रवज्रा, भुजंगप्रयात, तरल नयन, मोती (मुक्ता) दाम, तोटक या त्रोटक, चामर, शार्दूलविक्रीड़ित, दुर्मिल (दोमल या द्रुमल), किरीट (सवैया) तोमर, चौपई, चौपाई, पद्धरि (पद्धिटिका, प्रज्वलय अथवा मौलिक), गीतिका, झूलना, हरिगीतिका (हरिगीत), त्रिभंगी, वरवै (वरवा) एवं छप्पय हैं। यहाँ प्र गवश यह कह देना अनुचित न होगा कि डिंगल में संस्कृत हिन्दी के छंदों का स्वच्छन्दतापूर्ण प्रयोग, कम से कम, इन भाषाओं के घनिष्ठ सम्बन्ध का एक महत्त्वपूर्ण प्रतिचिह्न है।

३१७—हिन्दी में गीत को लयात्मक दों के अन्तर्गत स्थान प्रदान किया गया है, किन्तु डिंगल में प्रयुक्त गीत हिन्दी के गीतों से नितान्त भिन्न प्रकार के होते हैं। डा० टेसीटरी ने इन गीतों को (Comme Morative अथवा Testimonial Songs) अर्थात् 'साखरी कविता' अथवा साक्ष प्रधान कविता कहा है[5]। ये एक प्रकार के ऐतिहासिक गीत हैं। इनकी विशिष्टता इनके गेय होने में न होकर एक विशिष्ट ढंग से पढ़ने (अथवा vecite करने) में है। गजराज

१—वही, पृ० ६।
२—वही, पृ० ७।
३—वही, पृ० ५१।
४—कविराव बख्तावर—केहर प्रकाश, पृ० २१६।
५—जै० ए० एस० बी०, वाल्यूम १३, १९१७, परिशिष्ट पृ० २२६।

ओझा के कथनानुसार '"ऐतिहासिक गीत छंद की रचना चारणों के मस्तिष्क की एक अनोखी उपज है जो कि डिंगल की स्वतंत्र, अतुलनीय और निजी सम्पत्ति है[1] ।" मोतीलाल मेनारिया ने इन गीतों की महिमा के प्रदर्शनार्थ राजस्थान की प्रसिद्ध लोकोक्ति 'गीतड़ा के मीतड़ा' की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिसका भावार्थ यह है कि मनुष्य का यश गीतों द्वारा अमर रहता है[2] ।

डा० एल० पी० टेसीटरी ने इन गीतों की व्याख्या करते हुये लिखा है "लेकिन गीत डिंगल की अपनी विशिष्ट मात्रिक रचना होने के कारण स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। इसमें चार-चार पादों (पंक्तियों) वाले चार पद अथवा दोहले होते हैं। (विशेष प्रसंगों में दोहलों की संख्या ३ अथवा अन्य प्रसङ्गों में ४ से अधिक भी हो सकती है परन्तु परिनिष्ठित गीत ४ दोहलों का ही होता है) प्रत्येक पंक्ति में मात्राओं की ंख्या अधिक से अधिक २३ और कम से कम १४ तक हो सकती है[3] ।"

वे गीतों के ही सम्बन्ध में अन्य स्थल पर कहते हैं कि "इन गीतों की एक रुचिवर्धक विशेषता सूचनीय है। वह यह है कि किसी गीत के चारों दोहले एक ही भाव या विचार से अनुरञ्जित होते हैं। साधारणतया यह एक समान भाव होता है जो कि प्रथम दोहले में अभिव्यक्त किया जाता है और तनिक भिन्न रूप में अन्य दोहलों में पुनरावृत्त होता है[4] ।" इस आवृत्ति की विशेषता यह होती है कि गीत के पाठक अथवा श्रोता को पुनरावृत्ति का सहसा आभास नहीं मिलता और वह प्रत्येक दोहले के द्वारा अधिकाधिक प्रभावित होता जाता है। डा० टेसीटरी के कथनानुसार पुनरावृत्ति की इस क्रिया को 'पाँचाली, गौड़ी, और वैदर्भी रीतियों के समान ही मारवाड़ी रीति कहा जाता है[5] ।'

छन्द शास्त्रियों ने अपने-अपने ढङ्ग से गीतों के अनेक भेद बनाये हैं और उनको विशिष्ट नामों से अभिहित किया है। रण पिंगल में डिंगल गीतों के ३३ भेद, रघुनाथ रूपक गीतांरों में ७२ भेद तथा रघुवर जस प्रकास में ९९ भेदों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। अन्तिम रचना के निर्माता ने तो यहाँ तक लिखा है कि—

१—ना० प्र० प०, भाग १४, १२६-१२७।

२—रा० भा० सा०, पृ० ७०।

३—जे० ए० एस० बी०, वाल्यूम १३, १९१७ परिशिष्ट पृ० २२९-३०।

४—वही, पृ० २३०-३१।

५—जे० ए० एस० बी०, वाल्यूम १३, सन् १९१७ ई०, पृ० २३१।

वसन्त रमण आदक बरतावै, गीत निनांणु नाम गिणावै।
सुणिया दीठा जके सखीजै, विण दीठा किण भाँत कहीजै[1] ॥

संक्षेप में गीतों के ६६ नाम तक सुने गये हैं।

छन्दों तथा गीतों के सामान्य उल्लेख के पश्चात् अब हम डिंगल के कुछ प्रमुख ग्रन्थों में प्रयुक्त छन्दों का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

३१८—ढोला मारू रा दूहा—इसमें चार प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है जिसमें कि दोहा छन्द प्रधान है जैसा कि नाम से भी प्रकट है। ६७४ छंदों की इस वृहद् रचना में ६५६ स्थलों पर (छन्द सं० २-२६, ३१-५६, ६१-१७०, १७२-१७६, १८१-२३३, २३५-३७७, ३८१-४६३, ४६५-५०४, ५०६, ५०८-५६४, ५६७-५७४, ५७६, ५७८-६०२ और ६०५-६७४—दोहा—अथवा डिंगल के दूहों) छन्द का प्रयोग हुआ है। कदाचित् कहने की अपेक्षा न होगी कि 'दूहा' (दूहो का बहुबचन) छन्दों में रचित यह डिंगल का उपलब्ध सर्व प्रथम ग्रन्थ है। दोहा के अतिरिक्त इसमें सोरठा (अथवा सोरठियो दूहो), गाहा और चन्द्रायणा छन्दों का प्रयोग क्रमशः १२ (छं० सं० ३०, ६०, १७१, १८०, ३७८-३८०, ४६४, ५०५, ५०७, ६०३ और ६०४), ४ (छं० सं० १, २३४, ५७५ और ५७७) तथा २ (छं० सं० ५६५ और ५६६) स्थलों पर मिलता है।

दोहा और सोरठा छन्दों से हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी पूर्णतया परिचित हैं अतएव ढोला मारू रा दूहा के छन्दों के अध्ययन में इनका परिचय देना पिष्ट-पेषण मात्र होगा। इनके अतिरिक्त शेष दो छन्द गाहा और चन्द्रायणा हैं। इनकी विशेषताओं पर थोड़ा प्रकाश डाल देना यहाँ पर्याप्त होगा।

३१६—गाहा—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के गाथा शब्द से हुई है। संस्कृत में गाथा को आर्या अथवा छन्द का नाम दिया गया है। किन्तु प्राकृत और अपभ्रंश में यह गाथा अथवा गाहा के नाम से ही प्रचलित रहा है। अतः कहने की आवश्यकता न होगी कि डिंगल में गाहा का आगमन स्पष्ट रूप से अपभ्रंश का प्रभाव है। यह एक मात्रा गण बद्ध विषम छन्द है जिसमें कि ४ चरण होते हैं। इनमें प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ चरणों के तुकांत मिलते हैं। प्रत्येक पंक्ति में १६ मात्रायें होती हैं किन्तु तुकांत में गुरु लघु नहीं होता[2]। साहित्य में गाथा छन्द का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आ रहा है। हालकवि कृत गाथा सप्तशती गाथा छन्द के प्राचीन होने का एक प्रमाण है। ढोला मारू रा दूहा के विद्वान्

१—रा० भा० सा०, पृ० ७१।

२—डिं० को० चतुर्थ खंड, छं० सं० ६७। (विशेष—गुजराती में गाथा अथवा आर्या छंद ५७ मात्राओं का होता है—दलपत पिंगल, पृ० २६।)

संपादकों के मतानुसार "प्राचीन बौद्ध साहित्य में पाली और संस्कृत मिश्रित गाथायें मिलती हैं जिनकी भाषा को कई विद्वानों ने भ्रमवश संस्कृत और पाली के बीच की भाषा माना है[1] ।"

ढोला मारू रा दूहा के संपादकों के ही शब्दों में "राजस्थानी में (और हिन्दी में भी) गाथा छन्द का प्रयोग नहीं होता । राजस्थानी के प्राचीन आख्यानक काव्यों में कहीं-कहीं गाथायें मिलती हैं । वे उपदेशात्मक अवतरणों की भाँति आई हैं । इनकी भाषा बड़ी विचित्र प्राकृत अपभ्रंश एवम् राजस्थानी मिश्रित होती है । उसे टूटी-फूटी प्राकृत कहना चाहिये । उससे प्राचीनत्व की झलक अवश्य उत्पन्न हो जाती है[2] ।"

३२०—चन्द्रायणा[3]—यह डिंगल साहित्य का एक प्रिय छन्द है जिसका प्रयोग प्रायः डिंगल की रचनाओं में देखने में आता है । यह एक मात्रिक छन्द है जिसमें कि ४ चरण होते हैं । प्रत्येक पद में २१ मात्रायें होती हैं जिनमें कि क्रमशः ११ और १० पर यति होती है । इस छन्द की एक सामान्य विशेषता यह है कि इसके चतुर्थ चरण में प्रायः बोलते समय और कभी कभी लिखित रूप में भी 'परिहां' शब्द, जो कि वस्तुतः एक अर्थहीन अव्यय है, का प्रयोग किया जाता है यद्यपि इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकार का कोई नियम नहीं है ।

३२१—राव जैतसी रो छन्द—इस रचना का 'छन्द' शब्द इसके पाधरी—>संस्कृत पद्धरि—छन्द विशेष में रचित होने का द्योतक है । ४०१ छन्दों की इस रचना में ३८५ स्थलों पर पद्धरि छन्द का प्रयोग हुआ है जो कि उक्त कथन के सत्य होने का समर्थक है । पद्धरि छन्द (छं० सं० २-३०, ३२-७४, ७६-१०६, १०८-१४१, १४३-१८४, १८७-२२७, २३४-२४३, २४५-३७०, ३७२-४००) के अतिरिक्त इसमें गाहा, दूहा और कलस—तीन अन्य छन्दों का प्रयोग हुआ है जो कि क्रमानुसार ११ (छं० सं० १, १०७, १४२, १८६, २२८-२३२ और ४००), ४ (छं सं० ३१, ७५, १८५, और २३३) और १ (छं० सं० १४१) बार प्रयुक्त हुये हैं । गाहा और दूहा छन्दों की चर्चा हम ढोला मारू रा दूहा के छन्दों के अध्ययन में कर चुके हैं । अस्तु, यहाँ हम केवल पद्धरि और कलस छन्दों का उल्लेख करेंगे ।

३२२—पद्धरि—राव जैतसी रो छंद में प्रायः सर्वत्र इसे पाधड़ी छंद का नाम दिया गया है जो कि स्पष्ट ही संस्कृत शब्द का विकृत डिंगल रूपान्तर है और अपभ्रंश से डिंगल में आया प्रतीत होता है । यह छंद भी मात्रावृत्त है । इसमें चार

१—ढो० मा० दू०, पृ० १७० (द्वि० सं०) ।

२—वही, पृ० १७१ ।

३—दलपत पिंगल, पृ० २९, चंद्रावण छं०—मात्रा ११८ भी देखिये ।

चरण होते हैं। इसकी पहली पंक्ति का तुक द्वितीय से और तृतीय का चतुर्थ से मिलता है। इसकी प्रत्येक पंक्ति में १६ मात्रायें होती हैं। वैसे इसकी स्थायी अथवा नियमित, प्रकार की पंक्ति में ५, ३, ५, ३ पर यति हुआ करती है किन्तु कभी-कभी इसमें ४, ४, ५, ३ पर भी यति होती है। इस छंद की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसके प्रत्येक चरण का अंत गुरु लघु होता है, जैसा कि डा० टेसीटरी ने भी लिखा है[1]।

३२३—कलस—यह एक मात्रावृत्त है। इसमें ६ चरण होते हैं जिनमें कि प्रत्येक दो चरणों का तुकान्त मिलता है अर्थात् पहले का दूसरे से, तीसरे का चौथे से और पाँचवे का छठवें से। इसके प्रथम चार चरणों में २४ तथा अंतिम दो में २८ मात्रायें होती है। डा० एल० पी० टेसीटरी के शब्दों में कलस का प्रयोग सदैव छंदों की रचना के अंतित में अंम छंद के रूप में किया जाता है[2]। वस्तुतः यही इस छंद की बोधात्मक विशेषता है।

३२४—वेलि क्रिसन रुक्मणी री—जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है 'वेलि' शब्द इस रचना के वेलिया गीत में निर्मित होने का सांकेतिक है। वेलिया गीत मात्रिक छंद छोटो सैणोर गीत का एक भेद है जिसका उल्लेख मनसाराम ने अपने रघुनाथ रूपक गीतांरो में किया है :—

चार भेद तिणरा चवै, कवियण बड़ ओकूब।
समझ वेलियो, सोहणो, षूहद जाँगड़ो खूब[3] ॥

सूर्यकरण पारीक के शब्दों में पिंगल शास्त्र के अनुसार इसको अर्द्धसम मात्रिक छंद कहना चाहिये। इसका लक्षण मनसाराम और मुरारिदान ने अपने ग्रन्थों में दिया है जिसके अनुसार इसके विषम चरणों में १६ और सम चरणों में १५ मात्रायें होती है। आदि चरण में सामान्यतः १८ मात्रायें होती है तथा मोहरे का तुकान्त ऽ। (गुरु लघु) युक्त होता है[4]। कदाचित् गीतों में वेलिया गीत की सर्वप्रियता को देखते हुये ही मुरारिदान ने इसे डिंगल कोश के गीतों में सर्व प्रथम स्थान दिया है।

वेलि क्रिसन रुक्मणी री में ३०५ छंदों में केवल वेलिया गीत छंद का प्रयोग हुआ है।

३२५—वचनिका राठौड़ रतनसिंह जी री महेसदासोतरी—इस रचना में छंदों की विविधता के दर्शन होते हैं। इसमें सब मिलाकर १४ प्रकार के छंदों का उपयोग

१—छं० रा० जै० की भू०, पृ० १३-१४।
२—रा० जै० छं० की भू०, पृ० १४।
३—र० रू० गी०, पृ० ६६।
४—वही, पृ० १०० यथा डिं० को० चतुर्थ खंड, छं० सं० ११२-११५।

किया गया है। इनके नाम दूहा बड़ा, भुजंगी, दूहा, बिअखरी, मोतीदास, वचनिका, त्रोटक, कवित्त, गाहा चौसर, हनूफाल, चन्द्राइणा, गाहा दुमेल और वार्ता हैं जो कि क्रमशः १०२ (छं० सं० ३१-४६, १३५-१४३ और १४८-२२४), ४५ (छं० सं० १८-२४ और ६१-१२८), ३८ (छं० सं० ६-१७, २५-३०, ४६-५१, ७६, ८७-६०, १२६, १३०, १३४, १४५, २४२, २५२, २५४, २५६, २५७, और २६१-२६५, २२ (छं० सं० ५४-७५), १७ (छं० सं० २२५-२४१), १३ (छं० सं० ७८-८२, ८४, ८६, १३३, १४४, १४६, २४४, २५५ और २६०), ११ (छं० सं० ५-८ और २४५-२५१), ८ (छं सं० २, ३, ५२, ५३, १३१, १३२, १४७ और २४३), ३ (छं० सं० १, ७७ और ८५), ३ (छं० सं० ४७, ४८ और २५८), १ (छं० सं० ४), १ (छं० सं० ८३), १ (छं० सं० २५६) और १ (छं० सं० २६६) बार प्रयुक्त हुये हैं।

३२६ बड़ा दोहा—जैसा कि अन्यत्र बताया जा चुका है, यह दोहा का एक भेद है जो कि डिंगल के आचार्यों के मस्तिष्क की उपज है। इसकी विशेषता यह है कि इसके प्रथम एवं चतुर्थ चरणों में ११ और द्वितीय और तृतीय में १३ मात्रायें होती हैं। कहना न होगा कि यह मात्रिक छंद है।

३२७ भुजंगी—इसका प्रयोग हिन्दी साहित्य में भी मिलता है। यह एक वर्णिक सम छन्द है इसका लक्षण '३ यगण ।ऽ' है। साधारणतः इसमें ११ वर्ण होते हैं किन्तु वचनिका राठौड़ रतनसिंह जी री महेसदासोतरी में कुछ छन्द ऐसे भी देखने में आते हैं जो कि इस लक्षण के अपवाद स्वरूप हैं, यथा—

> **जसौ हालिओ आगरा हुंति ज्यारां।**
> **लिआं साहि रा उम्बरां सव्व लारां।**
> **कमन्धां बड़ां कूरियां साथि कीधां।**
> **लजाथम्म सीसोदिआं लारि लीधां।।१८।।**

ऊपर उद्धृत किये गये छन्द से प्रकट है कि इसमें प्रत्येक चरण में ४ यगण और १२ वर्ण हैं।

३२८—दूहा—यह हिन्दी का बहुप्रयुक्त अर्ध सम मात्रिक छंद है। इसके संबंध में कुछ कहना पिष्ट-पेषण मात्र होगा।

३२९—बिअक्खरी—इस छन्द का लक्षण लेखक को पिंगलशास्त्र सम्बन्धी किसी ग्रंथ में देखने में नहीं आया। लेखक का अनुमान है कि डिंगल का बिअक्खरी छन्द हिन्दी का चौपाई छन्द है जिसे कि पूर्व पृष्ठों में दिखाया जा चुका है।

३३०—मोतीदास—इसे मुक्तादाम भी कहा जाता है। यह हिन्दी साहित्य में भी प्रयुक्त हुआ है। यह वर्णिक सम छन्द है। इसमें ४ चरण होते हैं और प्रत्येक चरण में ४ जगण होते हैं।

३३१—वचनिका—इसके उदाहरण तो मनसाराम ने अपने रघुनाथ रूपक गीतांरों में अवश्य प्रस्तुत किये हैं किन्तु इसके लक्षण के संबंध में वह नितान्त मौन हैं। उनके उदाहरणों को देखने से विदित होता है कि वचनिका के दो रूप होते हैं—पद्य बन्ध और गद्य बन्ध[1]। वचनिका के सम्बन्ध में रघुनाथ रूपक गीतांरो के टीकाकार ने लिखा है कि "ये वचनिकायें भी दवावैत के ही भेद मालूम होती हैं[2]।" महताब चन्द्र खारैड़ ने दवावैत की व्याख्या करते हुये लिखा है कि "यह कोई छन्द नहीं है जिसमें मात्राओं, वर्णों अथवा गणों का विचार हो। यह अन्त्यानुप्रास, मध्यानुप्रास और किसी प्रकार सानुप्रास या यमक लिया हुआ गद्य का प्रकार है। यह संस्कृत भाषा, प्रकृत भाषा, उर्दू भाषा और हिन्दी भाषा में भी अनेक कवियों और ग्रन्थकारों द्वारा प्रयोग में आया हुआ मिलता है। आधुनिक लल्लू जी लाल के प्रेम सागर आदि ग्रंथों में तथा उर्दू के बहारबेखिजां, नौवतन आदि ग्रन्थों में तथा फारसी के ग्रन्थों में भी देखा जाता है। सम्भव है कि डिंगल वालों ने भी उनका अनुसरण किया है। यह दवावैत दो प्रकार की होती है। एक सुद्धबन्ध अर्थात् पदबन्ध जिसमें अनुप्रास मिलाया जाता है और दूसरी गद्यबन्ध जिसमें अनुप्रास नहीं मिलाते हैं[3]।"

वचनिका दवावैत का भेद है अथवा उससे पृथक्, इस विषय पर कोई निश्चित मत प्रमाण के अभाव में देना कठिन है, यद्यपि रघुनाथ रूपक गीतांरो में जिस रूप में दोनों उपस्थित किये गये हैं, उससे दोनों का पृथक् होना ही परिलक्षित होता है। वैसे वचनिका और दवावैत के स्वरूपों को देखते हुये दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का निकट होना निश्चित-सा है। खारैड़ जी का दवावैत के सम्बन्ध में ऊपर उद्धृत किया गया मत इस दृष्टि से विशेषतया महत्वपूर्ण है। खारैड़ जी ने दोनों के भेद की ओर लक्ष्य करते हुये यह भी लिखा है कि "दोनों में इतना सा भेद मालूम होता है कि वचनिका कुछ लम्बी और विस्तृत होती है, जैसा कि इसी ग्रन्थ में (रघुनाथ रूपक गीतांरो में) उदाहरण हैं[4]।"

लेखक ने वचनिका को छन्दों के अंतर्गत स्थान दिया है, क्योंकि इसमें सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की स्वछन्द छन्दात्मक शैली का प्रारम्भिक, यद्यपि अविकसित रूप का स्पष्ट निदर्शन मिलता है। यहाँ इतना और उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि रचना में इसी वचनिका के आगमन के कारण, रचना को 'वचनिका' की संज्ञा प्रदान किया गया है। इस वचनिका के अतिरिक्त डिंगल में

१—र० रू० गी०, पृ० २३८-३६।
२—वही, पृ० २४२।
३—वही, पृ० २३६।
४—र० रू० गी०, पृ० २४२।

अचलदास खीची री वचनिका, जिसका कि उल्लेख किया जा चुका है, प्रसिद्ध है। इन ग्रंथों की रचना शैली के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि वचनिका संस्कृत में प्रचलित चंपू काव्य[1] अ के निकट की वस्तु है।

३३२ त्रोटक—यह हिन्दी साहित्य में प्रयुक्त छन्द है तथा वर्णिक सम छन्दों के अन्तर्गत वर्गीकृत है। कदाचित् कहने की अपेक्षा न होगी कि इसमें चार चरण होते हैं और प्रत्येक में चार सगण होते हैं।

३३३ कवित्त—यह हिन्दी साहित्य का बहुप्रयुक्त छन्द है। इसके अन्य नाम घनाक्षरी अथवा मनहरण भी हैं। यह वर्णिक सम छन्दों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है। इसमें साधारणतया ३१ अक्षर होते हैं। १६ और १५ अक्षरों पर यति होती है तथा चरणांत ऽ होता है। कहीं कहीं भूल से छप्पय को कवित्त कहा गया है जैसा कि रचना के छंद २ से प्रकट है।

गाहा—पूर्व पृष्ठों में इस प्रकार प्रकाश डाला जा चुका है।

३३४—गाहा चौसर—इस छन्द का लक्षण मनसाराम ने रघुनाथ रूपक गीतांरो में इस प्रकार लिखा है—

"सावक अडल गीत के द्वितीय भेद में चार द्वालें होते हैं। यदि इसका एक ही द्वाला रखा जाय तो यही गाहा चौसर गीत हो जाता है[2] ब"। इसके उदाहरणों का विश्लेषण करने से विदित होता है कि यह हिन्दी साहित्य के बहुप्रयुक्त चौपाई छन्द का रूपांतर मात्र है। अस्तु, इसे भी चौपाई के समान ही मात्रिक सम छन्दों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है। इसमें भी ४ चरण होते हैं और प्रत्येक चरण में १६ मात्रायें होती हैं। अन्त में प्रायः जगण और तगण अर्थात् ऽ। का प्रयोग देखने में नहीं आता जैसा कि चौपाई छंद में निषिद्ध है। नीचे गाहा चौसर का एक उदाहरण इसके लक्षण को प्रमाणित करने के लिये प्रस्तुत किया जाता है—

> **पल दिखणाधि उतर देठालै।**
> **डेरा दुहूँ दिश्रा देठालै।**
> **दुहूँ बाजार झंडा देठालै।**
> **दामिण गर्जां धजाँ देठालै ॥४७॥**

३३५—हनूफाल—इस छंद का लक्षण लेखक के देखने में नहीं आया किन्तु इस छंद का विश्लेषण करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यह मात्रिक सम छंद है। इसमें भी हिन्दी साहित्य में प्रयुक्त दिग्पाल छंद की भाँति प्रत्येक चरण में

१—(अ) गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।

२—(ब) र० रू० गी०, पृ० ११३।

१२।१२ मात्राओं पर यति होती है और कुल मिलाकर ४ चरण होते हैं जैसा कि नीचे अवतरित उद्धरण से प्रकट है :—

रढ रौंण भाण रतन्न । करतव्व भारथ क्रन्न ।
नरनाह जे मुख नीर । ग्रहवन्त ग्यान गहीर ।
ससमत्थ सूर सकज्ज । गजदिग्रण भाँजण गज्ज ।
पित मात तारण पक्ख । शिणगार तेरह सक्ख ॥४॥

३३६ चन्द्राइण—इस छंद का परिचय ढोला मारू रा दूहा के छंदों के साथ दिया जा चुका है ।

३३७ गाहा दुमेल—इस छंद की परिस्थिति उपरोक्त गाहा चौसर छंद के समान ही है । यह भी चौपाई छंद का नामान्तर मात्र प्रतीत होता है । सच तो यह है कि लक्षणों के एक होते हुये नामों में वैभिन्य है जो कि सामस्यिक है। जो कुछ भी हो इसे मात्रिक सम छंदों के अन्तर्गत वर्गीकृत करना ही समीचीन है ।

३३८ वार्ता— यह कोई छन्द नहीं है वरन् पद बंध वचनिका का एक भेद मात्र है । मनसाराम ने इसके सम्बन्ध में लिखा है 'सू बदबंध दोय भेद एक तो बारता दूजी बारता में मोहरा राखणाँ'[१] । इस कथन के अनुसार 'वचनिका' में प्रयुक्त वार्ता द्वितीय भेद अर्थात् मोहरा युक्त (सतुकांत) वार्ता के अन्तर्गत परिगणित की जा सकती है । जैसा कि अवतरित वार्ता से सुव्यक्त है—

'दिल्ली रा वाका १ । उजेणि रा साका २ ।
च्यारि जुग रहिसी ३ । कवि वात कहिसी' ॥२६६॥

३३६ हालां झालां रा कुंडलियां—जैसा नाम के द्वारा ही स्पष्ट है । इस ग्रंथ में कुंडलिया छंदों का प्रयोग हुआ है । इसमें विशेषता यह है कि जहाँ अन्य छंदों के नाम द्वारा इंगित की गई रचनाओं में किसी न किसी मात्रा में अन्य छंदों का भी प्रयोग हुआ है वहाँ इसमें एक मात्र कुंडलिया छन्द का ही प्रयोग मिलता है ।

कुंडलिया छन्द के सामान्य परिचय में हिन्दी और डिंगल के कुंडलिया छन्दों के भेद की ओर संकेत किया जा चुका है । अस्तु, यहाँ केवल इतना बता देना अपेक्षित है कि इस रचना में व्यवहृत कुंडलिया छन्द हिन्दी के कुंडलिया छंद से भिन्न है । इस रचना की कुंडलिया झड उलट जात (जाति) की कुंडलिया है । हिन्दी में प्रयुक्त कुंडलिया छन्द में प्रारम्भ में १ दोहा और अनन्तर ४ चरण रोला के होते हैं तथा दोहे के चतुर्थ चरण की पुनरावृत्ति रोला के प्रारम्भ में होती है । झड उलट कुंडलिया में, महताब चन्द्र खारैड़ के शब्दों में "प्रथम तो दोहा और फिर बीस बीस

१—वही, पृ० २४५ ।

मात्राओं के चार पद होते हैं। और चौथेपद को (दोहा के चतुर्थ चरण से प्रयोजन है) पाँचवे पद में उलट देते हैं[1]।" इस लक्षण को सुस्पष्ट करने के उद्देश्य से ग्रन्थ की एक कुंडलिया यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

> पिलंगि महारिण पौढ़ियौ कालौ भलाँ कहाय ।
> जस जोबण साजै जसौ भणिमथ फौज मल्हाय ।।
> मल्हाँवण फौज विसकामणी मानियौ ।
> इसौ दीठौ न को वींद अहवानियौ ।।
> अभंग जसवन्त जुधि काजिकरि अंगोअंगि ।
> पौढ़ियो घड़ा पौढ़ाय चौरंग पिलंगि ।।२७।।

३४० रघुनाथ रूपक गीतांरो—इस ग्रंथ के नाम में संयुक्त 'गीतां' शब्द स्पष्टतया इस बात का निर्देश करता है कि इसके कर्त्ता ने इसमें डिंगल के गीतों पर विशेष बल दिया है। सब मिलाकर इस रचना में ७३ प्रकार के गीतों का उपयोग हुआ है जिनमें कि ७२ प्रकार के गीतों के लक्षणों का भी कवि ने उल्लेख किया है। अतएव, गीतों के विचार से मनसाराम को निस्संकोच भाव से डिंगल के गीतों का आचार्य स्वीकार किया जा सकता है। सच तो यह है कि डिंगल के गीतों को समझने के लिये और उनके विशेष अध्ययन के लिये यह एक परम महत्वपूर्ण प्रकाशित रचना है।

वैसे जहां तक संख्या का संबंध है, इस रचना में दोहों का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। दोहों का प्रयोग ग्रन्थ में ११४ स्थलों पर हुआ है। इनमें डिंगल के चारों प्रकार दोहे सम्मिलित हैं। इनमें सामान्य दोहा १०३ (छं० सं० २, ८, ११-१३, १५-२०, २२, ३५, ३७-४६, प्रथम विलास, ६, ६-११, १४-१६, १६, २०,२३, १५ द्वितीय विलास, १, ५, ७, ६, १०, २०, २७, ३७ तृतीय विलास, १-३, ५ चतुर्थ विलास, १, २, ४, १५, २०, २६, २८, पंचम विलास, १, ४, १३ षष्ठम विलास १, ३, ४, ६, ७ सप्तम विलास, १, २, ४, ६, ११, ३५ अष्टम विलास, १, ३, ४, ६, ८, १२-१५, १७, २२, २५, २७, २६, ३१, ३३, ३५, ३८, ४०, ४३, ४४, ४६, ५२, ५४, ५८, ६०, ६२, ६४ और ६६ नवम विलास), सोरठा ६ (छं० सं० ३, २१ प्रथम विलास, १० चतुर्थ विलास, २१, ३२, पंचम विलास, ८, १२ सप्तम विलास, ५६ और ७६ नवम विलास), बड़ा दोहा १ (छं० सं० ४ प्रथम विलास) और तूँबेरी १ (छं० सं० ५ प्रथम विलास) स्थलों पर प्रयुक्त हुये हैं।

१—वही, पृ० २७६-८०।

संख्याधिक्य के विचार से इस रचना में गीतों का दूसरा स्थान है। सब मिलाकर गीतों का प्रयोग ६६ बार हुआ है। इनमें तृतीय विलास में बड़ो साणौर (छं० सं० २), शुद्ध सैणौर (छं० सं० ४), प्रहास अथवा गरवत (छं० सं० ८), दुमेल या अर्धपालवणी (छं० सं० ११), अरट (छं० सं० १३), अरटियो (छं० सं० १५), दोढो (छं० सं० १७), भाषरी (छं० सं० १६), पंखालों (छं० सं० २१), गोरवों (छं० सं० २३), गोरवों-द्वितीय—(छं० सं० २४), गोरव (छं० सं० २६), अर्ध भाखरी (छं० सं० २८), प्रोढ (छं० सं० ३०), दूजो प्रोढ (छं० सं० ३२), सिंह चलो (छं० सं० ३४), सालूर (छं० सं० ३६), झमाल (छं० सं० ३८), चतुर्थ विलास में छोटो साणोर (छं० सं० ४), वेलियो (छं० सं० ७), सोहणा (छं० सं० ६), मुक्ताग्रह (छं० I ० ११), इक्खरो (छं० सं० १३), पंचम विलास में दीपक (छं० सं० ३), सावक अडल (छं० सं० ५), सावक अडल—द्वितीय भेद (छं० सं० ६), त्रंबको (छं० सं० ८), हेलो (छं० सं० १०), एकल वैणो (छं० सं० १२), दूजो एकल वैणों (छं० सं० १३), भारव (छं० सं० १५), अर्ध भारव (छं० सं० १७), गजगत (छं० सं० १६), धमाल (छं० सं० २१), चोटियाल (छं० सं० २३), उमंग (छं० सं० २५), सेलार (छं० सं० २७), अरध गोरवों (छं० सं० २६), सतखणों (छं० सं० ३१), झड़मुगट (छं० सं० ३३), अमेल (छं० सं० ३४), षष्ठम विलास में काछो (छं० सं० ३), हंसावलो (छं० सं० ५), भंवर गुंजार (छं० सं० ७), दूजो भँवर गुंजार (छं० सं० ८), चोटियो (छं० सं० १०), चित्त विलास (छं० सं० १२), मंदार (छं० सं० १४), सप्तम विलास में कैवार (छं० सं० २), चित हिलोल (छं० सं० ५), पालवणी (छं० सं० ६), कवि ईलोल (छं० सं० ११), त्रिपंखो (छं० सं० १३), अष्टम विलास में मन मोद (छं० सं० ३), झडलुपत (छं० सं० ५), त्रबंकडो, या घोड़ादमो (छं० सं० ७), सावफडो (छं० सं० १०), अरध सावझडो (छं० सं० १३), जागड़ो सैणोर, अरटी, पुणि साणोर अथवा छोटा कूणिया (छं० सं० १५), खुड़द साणोर (छं० सं० १७), वीर कंठ (छं० सं० १६), सवैयो (छं० सं० २१), सपंखरो (छं० सं० २३), सुवग (छं० सं० २५), अठतालो (छं० सं० २७), त्राटको (छं० सं० २६), लहचाल (छं० सं० ३१), पाडगत (छं० सं० ३३), त्रकूट बंध (छं० सं० ३६), दूजो त्रकूट बंध (छं० सं० ३८), लघुचित-विलास (छं० सं० ४०), और नवम विलास में ललत मुकट (छं० सं० २), तथा चोसर गीत चारों प्रभेदों के साथ (छं० सं० १८-२१) प्रयुक्त हुये हैं। इन गीतों में ६ ऐसे हैं जिनके लक्षणों की ओर कवि ने प्रकाश नहीं डाला है। ग्रन्थ के सम्पादक ने इन ६ गीतों में से ४ लक्षण—सावक अडल द्वितीय भेद, अमेल, दूजो, भँवर गुंजार और गाहा चोसर, स्पष्ट कर दिया है किन्तु शेष दो—गोरवा द्वितीय भेद और दूजो

एकल वैणों के सम्बन्ध में वह भी मौन है। इनके अलावा १० गीत प्रथम विलास में (छं० सं० २५-३४) और १३ गीत नवम विलास में (छं० सं० १६, २३, २४, २६, २८, ३०, ३२, ३४, ३६, ३७, ३६, ४१, ४२) में ऐसे हैं जिनके नामों का उल्लेख रचनाकार ने नहीं किया है।

दोहों और गीतों के अतिरिक्त जिन छंदों का प्रयोग हुआ है उनमें छप्पय, चर्नाकुलक, कुंडलिया, छप्पय दोढी, चौपाई, लीलावती, चौबोला, कुकमा, गीया, चौपई, कवित्त, चन्द्राइणों पदबंध वचनका, गाथा, वार्ता, पद्धरी, गीतक, कडखो, चर्नाकुल, पदबंध दवावैत, गदबंध दवावैत पदबंध वचनका तथा गद बंध वचनका का समावेश है। ये क्रमशः १५ (छं० सं० ६, ७, १०, २३, २४ प्रथम विलास, ७, ८, १२, १३, १७, १८, २२ द्वितीय विलास, २ षष्ठम विलास, ३४ अष्टम विलास), ६ (छं० सं० ६ चतुर्थ विलास, ११ षष्टम विलास, ६, १८, २०, २४, २८, ३२, ३६ अष्टम विलास), ६ (छं० सं० २२ अष्टम विलास, १८, ६६-७२ नवम विलास), ४ (छं० सं० ६, १४, २४, द्वितीय विलास, ३७ अष्टम विलास), ४ (छं० सं० ३६ प्रथम विलास, २२ तृतीय विलास, ८ चतुर्थ विलास, ३० पंचम विलास), ४ (छं० सं० ३, ३५ तृतीय विलास, ११, १४ पंचम विलास), ४ (छं० सं० १०, १२, ३१ तृतीय विलास, ३० अष्टम विलास), ४ (छं० सं० २५, २६, ३१ तृतीय विलास, ८ अष्टम विलास), ३ (छं० सं० १६ तृतीय विलास, ६ पंचम विलास), ७३ नवम विलास), ३ (छं० स० ७, २३ पंचम विलास, २६ अष्टम विलास), २ (छं० सं० ७४-७५ नवम विलास), २ (छं० सं० १४ तृतीय विलास, (छं० सं० १२ चतुर्थ विलास), २ (छं० सं० ६, १० नवम विलास), १ (छं० सं० १ प्रथम विलास), १ (छं० सं० ११ नवम विलास), १ (छं० सं० १८ तृतीय विलास), १ छं० सं० १८ पंचम विलास), १ (छं० सं० ६ षष्ठम विलास), १ (छं सं १० सप्तम विलास), १ (छं० सं० ५ नवम विलास), १ (छं० सं० ७ नवम विलास), और १ (छं० सं ११ नवम विलास), बार संपूर्ण रचना में व्यवहृत हुये हैं। इनके अतिरिक्त १६ छंद (छं० सं० ६ षष्ठम विलास, १६ अष्ठम विलास, ४५, ४७-५१, ५३, ५५, ५७ ५६, ६१, ६३, ६५, ६७ नवम विलास) इस प्रकार के भी हैं जिनके नाम का निर्देश मंछ ने ग्रन्थ में नहीं किया है।

ऊपर जिन छंदों का नामोल्लेख किया गया है उनमें से दोहा, सोरठा, बड़ा दोहा, कवित्त, चंद्रायणा, गाहा, (गाथा) और पद्धरी तथा वचनिका (पदबंध), जो कि वस्तुत: कोई छंद नहीं है, का विशिष्ट परिचय उनके अन्य रचनाओं में प्रयुक्त होने के कारण यथास्थान दिया जा चुका है। गीतों पर स्वयं कवि ने अपने ढङ्ग से मौलिकतया प्रकाश डाला है। अस्तु, उनके स्पष्टीकरण स्वयं रचना में प्राप्य है। इनके अतिरिक्त वार्ता, दवावैत (गदबंध) और वचनिका (गदबंध) वस्तुत:

छन्दों के अंतर्गत परिगणित नहीं किये जा सकते। अतः इन सबों पर प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है। शेष जो छन्द बचते हैं उन पर यहाँ विचार किया जाता है।

३४१ तूंबेरी—इसका इतर नाम मध्यमेल भी है। जैसा कहा जा चुका है कि डिंगल में यह दोहा का प्रभेद है। महताबचन्द्र खारैड़ ने इस पर टीका करते हुये कहा है कि "मध्यमेल ठीक अंतमेल का उलटा है अर्थात् इसके प्रथम दो पद दोहा छन्द के और अंतिम दो पद सोरठा के होते हैं और दूसरे और तीसरे पद का तुकांत मिलाया जाता है[1]।" दूसरे शब्दों में इसके प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पदों में क्रमशः ११, १३, १३ और ११ मात्रायें होती हैं। यह भी दोहा का प्रभेद होने के नाते सम मात्रिक छन्द के अंतर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है।

३४२ छप्पय—यह हिन्दी का एक बहु प्रयुक्त छन्द है। कदाचित् कहना न होगा कि इसके प्रथम चार चरण रोला तथा शेष दो चरण उल्लाला के होते हैं। इसकी गणना पिंगल शास्त्रियों ने मिश्रित छन्दों के अंतर्गत किया है।

३४३ चर्नाकुलक—इस छन्द के लक्षण लेखक के देखने में नहीं आये। अस्तु, उसने डिंगल साहित्य के आधार पर इस छन्द की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। यह सम मात्रिक छन्द प्रतीत होता है। जहाँ तक इसके लक्षण का सम्बन्ध है, यह चौपाई छन्द के निकट है। इसके प्रत्येक पद में १६ मात्रायें होती हैं। इस छन्द में कम से कम चार और अधिक से अधिक आठ पद देखने में आते हैं। इसमें भी सामान्यतः जगण और तगण का प्रयोग नहीं मिलता। असंभव नहीं कि यह चौपाई छन्द का ही इतर नाम हो। नीचे इसका एक उदाहरण बानगी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है—

अठ अठ वरण चरण द्वै आणो, जिण इक इक कल रवि २ जाणो।
सांकल गुरु लघु अंत सजीजै, तेम वरण मात्रा पद तीजै॥
छ वरण नव कल चौथे छाजै, बुध मोरा दीरघ लघु राजै।
वले चार इम रच पद ढालो, माणव गीत वीर कंठ भालो[2]॥

३४४ कुंडलिया—इस रचना में कुंडलिया छन्द के पाँचों प्रभेदों के उदाहरण कवि ने स्वयं प्रस्तुत किये हैं तथा महताबचन्द्र खारैड़ ने उनके लक्षण भी प्रस्तुत कर दिये हैं[3] अ। अतः इस छन्द पर विचार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। रचना में छः स्थलों पर कुंडलिया छन्द प्रयुक्त हुये हैं जिनमें कि पाँच प्रभेदों के

१—वही, पृ० ३ (नोट)।
२—र० रू० गी०, पृ० १६५।
३—(अ) वही, पृ० २७६-२८२।

उदाहरण हैं। शेष एक कुंडलिया अष्टम विलास का २२ वाँ छन्द है जो कि 'शुद्ध कुंडलियों' अथवा हिन्दी साहित्य में प्रयुक्त कुंडलिया छन्द है। कदाचित् कहना न होगा कि यह मिश्रित छन्द है।

३४५ छप्पय दोढी—इस छन्द के सम्बन्ध में पूर्व पृष्ठों पर विचार किया जा चुका है।

३४६ चौपाई—यह हिन्दी साहित्य का सुपरिचित छन्द है जिसका प्रयोग डिंगल साहित्य में भी देखने में आता है। कदाचित् उल्लेख करने की अपेक्षा न होगी कि यह सम मात्रिक छन्द है। साधारणतया इसमें प्रत्येक चरण में १६ मात्रायें होती है और अंत में जगण और तगण निषिद्ध होता है अर्थात् अंत में ऽ। नहीं होता।

३४७ लीलावती—यह छन्द भी लक्षण ग्रन्थों में देखने में नहीं आया। डिंगल साहित्य में प्राप्य उदाहरणों का विश्लेषण करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह एक सम मात्रिक छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में सामान्यतः ३२ मात्रायें होती है तथा १८ और १४ पर यति। चरणांत लघु गुरु होता है। साधारणतया एक छन्द में चार चरण होते हैं किन्तु कभी-कभी केवल दो चरण भी देखने में आते हैं।

३४८ चौबोला—इस छन्द का लक्षण लेखक के देखने में नहीं आया। किन्तु इस छन्द का विश्लेषण करने के उपरान्त लेखक इस परिणाम पर पहुँचा है कि यह एक मात्रिक सम छन्द है। साधारणतया इसमें दो अथवा चार चरण होते हैं। प्रत्येक चरण में ३० मात्रायें और १६ तथा १४ पर यति होती है। अपवाद स्वरूप कभी किसी चरण में ३२ मात्रायें तक देखने में आती हैं। चरणांत प्रायः लघु गुरु होता है। यह छन्द हिन्दी के ताटंक छन्द से कुछ मिलता-जुलता-सा प्रतीत होता है।

३४९ कुकमा—जगन्नाथ प्रसाद भानु ने छन्द प्रभाकर में कुकुम नाम के एक छन्द का उल्लेख किया है जिसमें कि उनके अनुसार प्रत्येक चरण में २४ मात्रायें १०-१४ पर यति तथा अन्त में दो गुरु होते हैं[1] आ। किन्तु रघुनाथ रूपक गीतांरो में व्यवहृत छन्द भिन्न प्रतीत होता है। इस प्रकार का कुकुमा छन्द पिंगल शास्त्र के ग्रन्थों में देखने में नहीं आया। उपलब्ध कुकुमा छन्दों की व्याख्या करने से यह हिन्दी साहित्य के ललित छन्द के समीप, जहाँ तक लक्षण का सम्बन्ध है, प्रतीत होता है। अस्तु, इसे सम मात्रिक छन्दों की श्रेणी में परिगणित किया जा सकता है। साधारणतया प्रत्येक कुकमा छन्द चार में चरण होते हैं। प्रत्येक चरण २८ मात्राओं

१—(आ) जगन्नाथ प्रसाद भानु—छंद प्रभाकर (छठाँ संस्करण) पृ० ६१।

का होता है। प्रत्येक चरण में १६ तथा १२ मात्राओं पर यति होती है। अन्त अधिकतर २ गुरु का होता है और कभी-कभी लघु गुरु का भी।

३५० गीया—लेखक के देखने में इस नाम का कोई छंद पिंगल शास्त्र संबंधी ग्रन्थों में देखने में नहीं आया। वैसे छंदात्मक विश्लेषण करने पर यह सम मात्रिक छंद प्रतीत होता है। सामान्य रूप से इसमें चार चरण हुआ करते हैं। प्रत्येक चरण में २८ मात्रायें होती हैं, यद्यपि अपवाद स्वरूप २६ भी किसी-किसी चरण में होती हैं, तथा १६ और १२ मात्राओं पर यति होती है। अन्त में साधारणतया रगण का ही प्रयोग देखने में आता है। वाह्यतः यह हिन्दी साहित्य के हरिगीतिका और ललित छन्दों के निकट है।

३५१ चौपई—कदाचित् कहने की अपेक्षा न होगी कि यह हिन्दी साहित्य का छन्द है जो कि डिंगल साहित्य में अपनाया गया है। इसका लक्षण, जैसा कि साहित्य के विद्यार्थी जानते हैं, प्रत्येक चरण में १५ मात्रायें और चरणांत में ऽ। है। रघुनाथ रूपक गीतांरो में यह छंद तीन स्थलों पर आया है[1]। प्रथम स्थल पर तो यह वस्तुतः चौपाई छंद है। द्वितीय और तृतीय स्थलों पर चौपई के साथ चौपाई के भी एक एक चरण आ गये हैं जो कि छंद शास्त्र की दृष्टि से स्पष्ट ही रचनाकार की भूल कहा जा सकता है। ये पंक्तियाँ नीचे उद्धृत हैं—

कल षोडस पद पद में कीजै, मोहरा सम चारूं में लीजै।

तथा,

यों अठतालो गीत उचारैं, कहैं मंछ प्रभु सुण इधकारै ॥

३५२ गीतक—विश्लेषण करने पर इस छंद का लक्षण वस्तुतः वही ठहरता है जो ऊपर कथित गीया छंद का है। लेखक का अनुमान है कि गीतक और गीया छंद का मूल स्रोत हरिगीतिका छंद है क्योंकि हरिगीतिका छन्द का चरणांत भी ।ऽ से होता है और गीतक और गीया का भी। क्योंकि जैसा ऊपर बताया जा चुका है दोनों के चरणांत में रगण है जो कि असंभव नहीं मंछ कवि की अपनी सूझ का प्रतिफल हो। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि एक ही छन्द को मंछ ने गीया और गीतक दो नामों से क्यों रक्खा है, यह संशयात्मक है।

३५३ कडखो—यह हिन्दी वीर काव्य साहित्य का अत्यन्त प्रसिद्ध छन्द है। चारण और भाट युद्ध के समय अपने आश्रयदाताओं तथा वीर सैनिकों को प्रोत्साहन देने के लिए इस छन्द का प्रयोग विशेष रूप से करते थे। इस छन्द के संबंध में जगन्नाथ प्रसाद भानु ने छंद प्रभाकर में लिखा है कि यह एक मात्रिक सम दण्डक

१—र० रू० गी०, पंचम विलास, छं० सं० ७ और २३ तथा अष्टम विलास, छं० सं० २६।

छंद है। इसमें सामान्य रूप से चार चरण होते हैं। इसका हर एक चरण ३७ मात्राओं का अधिकतर होता हैं जिसमें कि ८, १२, ८ और ६ मात्राओं पर विराम होता है जो कि नितान्त आवश्यक नहीं है। अपवाद के रूप में कभी कभी एकाध मात्रायें किसी चरण में अधिक भी हो जाती है। चरणांत में दो गुरु होते हैं[1]।

३५४ चर्नाकुल—यह चर्नाकुलक छंद ही प्रतीत होता है क्योंकि इसका लक्षण भी वही है जो चर्नाकुलक का है। फिर भी पुष्ट प्रमाण के अभाव में, दोनों एक हैं, ऐसा निश्चित मत नहीं दिया जा सकता है।

३५५ धवल पचीसी—जैसा कि बाँकीदास की इस रचना का विशेष अध्ययन प्रस्तुत करते समय संकेत किया जा चुका है कि रचना के नाम को देखने से वाह्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें केवल २५ छंद हैं किन्तु वास्तविकता भिन्न है। कारण, इसमें सब मिला कर ३४ छंद हैं। रचनाकार ने ३४ छंदों की रचना को पचीसी नाम क्यों दिया, यह बात समझ से परे हैं। यदि इसे 'पचीसी' न कह कर 'चौतीसी' कहा गया होता तो विशेषतया सार्थक होता। इसके समस्त छंद डिंगल के 'दूहा' अथवा हिन्दी 'दोहा' छन्द हैं जिनके सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है।

३५६ नीति मंजरी—कविराजा बाँकीदास की इस रचना में ३६ छन्द हैं। इन ३६ छंदों में डिंगल दोहा छंदों के चारों प्रभेदों को संगठित किया गया है। इनमें दूहा सर्वाधिक प्रयुक्त हैं। इसका प्रयोग २७ बार (छं० सं० १, ३, ११-१३, १५-३०, ३४-३६) हुआ है। इसके अतिरिक्त सोरठा १० बार (छं० सं० ४-१०, १४, ३१, ३२), बड़ा दोहा १ बार (छं० सं० २) तथा तुंबेरी एक बार (छं० सं० ३३) व्यवहृत हुये हैं। इन प्रभेदों का उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है।

३५७ वीर सतसई (अपूर्ण)—इस ग्रन्थ के विशेष अध्ययन में जैसा हम कह चुके हैं, 'सतसई' नाम भ्रमात्मक है क्योंकि सूर्यमल मिश्रण की इस रचना में केवल २८८ छन्द हैं। यहाँ इतना और सूचित कर देना पर्याप्त होगा कि इस रचना के समग्र छन्द दूहा छन्द हैं।

१—जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'—छंद प्रभाकर (छठाँ संस्करण), पृ० १६१।

अध्याय—५

भाषागत-समीक्षा

अ—डिंगल भाषा का अभ्युदय और विकास

३५८—भारतीय आर्य भाषा के आधुनिक काल का प्रारम्भ लगभग १००० ई० से माना जाता है। नागर अपभ्रंश क्रमशः प्राचीन अपभ्रंश से दूर आ गई तथा अन्त में चलकर वर्तमानकालीन देश भाषाओं का जन्म हुआ। इस विकास के समय को परिवर्तन काल की संज्ञा दी जा सकती है। परिवर्तन काल को मोटे ढङ्ग से १० वीं शती ईसवी तक माना जा सकता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि यह नियम केवल साहित्यिक भाषा के लिये उपयुक्त है न कि बोलचाल की भाषा के लिये। १२ वीं-१३ वीं शती ई० के लगभग, हिन्दी, गुजराती, बङ्गला, मराठी आदि आधुनिक देश भाषायें निश्चित रूप में अपभ्रंश से भिन्न हो चुकीं थीं।

विद्वानों ने परिवर्तन काल की भाषा का पृथक्-पृथक् नामकरण किया है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने इसे 'पुरानी हिन्दी', गुजराती भाषा के विद्वान् मोहन लाल दलीचन्द देसाई ने 'जूनी हिन्दी—जूनी गुजराती', ढोला मारू रा दूहा के योग्य सम्पादकों ने 'लोक भाषा', तथा अन्य विद्वानों ने प्राचीन राजस्थानी की संज्ञा दी है[1]। हिन्दी वस्तुतः इसी परिवर्तनकालीन भाषा की पल्लवित शाखाओं में एक है। राजस्थानी का स्थान स्पष्ट करने के लिये हिन्दी की उपशाखाओं का वृत्त प्रस्तुत किया जाता है:—

१—ढो० मा० दू० प्रस्तावना—पृ० १०६, संवत् २०११ का संस्करण।
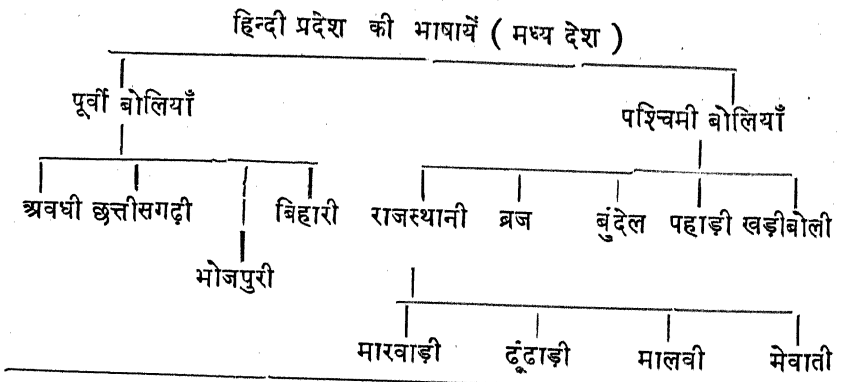
राजस्थानी तथा डिंगल के सम्बन्ध में डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने "हिन्दी भाषा का इतिहास" में लिखा है कि "सेमचन्द्र नागर अपभ्रंश का आधार शौरसेनी प्राकृत को मानते हैं। इसी नागर या शौरसेनी अपभ्रंश से राजस्थानी भाषा का विकास हुआ जिसके साहित्यिक रूप का नाम डिंगल है[1]।" इस मत को प्राय: सभी विद्वान् मानते हैं।

राजस्थानी के अन्य नाम मरु भाषा, मारवाड़ी तथा डिंगल है। मरु भाषा इनमें सबसे प्राचीन नाम है। इसका सर्व प्रथम उल्लेख 'कुवलयमाला' नामक ग्रन्थ में मिलता है जो कि ८ वीं शती की पुस्तक है[2]। मारवाड़ी का नाम सर्व प्रथम अबुलफजल की 'आईने अकबरी' में उपलब्ध होता है[3]। जोधपुर निवासी उदयराज उज्ज्वल ने अपने 'डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति में लिखा है "मरु भाषा में 'डींगल' व ढींगल शब्द तो पुरातन काल से विद्यमान ही था[4]।" उन्होंने मारवाड़ के थबूकड़ा ग्रामवासी १६ वीं शती के चारण कवि उदैराम के 'कवि कुल बोध' नामक रीति ग्रन्थ के चतुर्थ तरङ्ग के निम्नलिखित दोहे उद्धृत किये हैं जिनसे डिंगल नाम की प्राचीनता का कुछ संकेत मिलता है—

> **चारण डिंगल चातुरी, पिंगल भाट प्रकास।**
> **गुण संख्या कल वरण गण, यांरो करो उजास॥**
> **गीतों में डिंगल गती, पिंगल छंदां पाठ।**
> **उभै तृविध ज्युं अेकठा इला अेक दिस आठ[5]॥**

उपरोक्त मत की पुष्टि १६ वीं शती ई० के कवि कुशल लाभ जैन विरचित 'पिंगल शिरोमणि' छन्द शास्त्र संबंधी ग्रंथ से भी होती है जिसमें उन्होंने मारवाड़ी भाषा के लिये डिंगल शब्द का प्रयोग किया है[6]।

वस्तुत: डिंगल शब्द का प्रयोग साहित्य के लिये कब से होने लगा था, निश्चयपूर्वक कहना कठिन है क्योंकि, उपेक्षित साहित्य होने के कारण, डिंगल सहित्य के बहुत से ग्रंथ काल कवलित हो चुके हैं तथापि जो कुछ सामग्री आज

१—धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० ४८।

२—अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० ९१ (भू०)।

३—राजस्थायी साहित्य का महत्व, पृ० ७६, आईने अकबरी, पृ० ११६, वाल्यूम—३, १८९२ ई०।

४—उदयराज उज्ज्वल—डिंगल भाषा की व्युत्पत्ति।

५—वही।

६—राजस्थान भारती, भाग १, अंक ४, पृ० २५।

उपलब्ध है उसके आधार पर यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि डिंगल का साहित्य प्राचीन है।

विद्वानों में वीसलदेव रासो के रचना काल के सम्बन्ध में मतभेद है किन्तु यदि बीसलदेव रासो का रचना काल संवत् १०७३ वि० अथवा सन् १०१६ ई० मान लिया जाय तो यह डिंगल भाषा की प्रचीनता को इंगित करने वाला सर्व प्रथम ग्रंथ कहा जा सकता है। विंसेंट ए० स्मिथ तथा गौरी शंकर हीराचन्द ओझा ने वीसलदेव तथा धार के राजा भोज पंवार का समय संवत् १०००-१०७३ वि० के मध्य होना स्वीकार किया है। इसमें सन्देह नहीं कि वीसलदेव रासो में अपभ्रंश के नियमों का विशेष रूप से पालन किया गया है परन्तु साथ ही डिंगल के प्रचीन प्रयोग के भी दर्शन होते हैं जैसे अछइ, म्हारउ, जैथि, मिलिअ, पणमिअ, राखइ आदि। डिंगल के शब्दों का ११ वीं शती के ग्रंथ में प्रयुक्त होना निश्चित रूप में डिंगल भाषा की प्रचीनता को लक्ष्य करता है। डिंगल की प्राचीनता को विद्वानों ने निर्विवाद स्वीकार किया है[I]।

३६६—राजस्थान में आर्य भाषा का आगमन किसी उत्तरी प्रांत या जनपद से हुआ था। सन् ८०० ई० से १३०० ई० पर्यन्त अपभ्रंश ने यहाँ की साहित्यिक भाषा का एक मात्र पद प्राप्त किया[२]। साधारणतया इसे पश्चिमी अथवा शौरसेनी अपभ्रंश की संज्ञा दी जाती है। प्रारम्भकालीन डिंगल का शौरसेनी अपभ्रंश से पर्याप्त साम्य है। इसके जन्म के पूर्व से राजपूताना की आर्यभाषा पर निषाद तथा द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव पड़ा। अतएव डिंगल पर इन अनार्यभाषाओं की रीति, इनके शब्द एवं इनकी ध्वनियों का प्रभाव पड़ना असंभव नहीं है। किन्तु इन प्रभावों का विवेचन करके पृथक् करना सामस्यिक है। मारवाड़ की मौलिक अथवा प्राथमिक आर्य बोली मध्य देश (शूरसेन तथा अंतर्वेद) की भाषा से भी अधिक संपर्कित थी। अतः डिंगल का मध्य देश की भाषा (ब्रज तथा अवधी) द्वारा प्रभावान्वित होना सर्वथा संभाव्य है। डिंगल में मध्य देश की भाषा द्वारा आये हुये विभिन्न भाषा तत्वों के विश्लेषण की भी आवश्यकता है।

I—Grierson—Linguistic Survey of India Volume IX Part II (1908), P. 19; Journal and proceedings of Asiatic Society of Bengal Vol. X 1914-A Scheme for the Bardic & Historical survey of Rajputana—Dr. Territori, P. 375 & 376; Vol, II 1915, Annual Address 1915 Hon'ble Justice Sir Asutosh Mukhopadhya. P.XXXV.

२—रा० भा०, पृ० ६०।

राजस्थान में प्रचलित अपभ्रंश से प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का उद्भव डा० एल० पी टैसीटरी के अनुसार १३ वीं शती ई० में हुआ, यद्यपि प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का इतिहास १४ वीं शती ई० के द्वितीयार्ध से प्रारम्भ होता है। डिंगल की काव्यरचनायें १५ वीं शती ई० से उपलब्ध हैं। डिंगल प्रादेशिक भाषा थी। इसके रचयिता प्रधानतया चारण-भाट थे। इस भाषा का क्षेत्र मुख्यतया राज दरबारों तक सीमित था। अधिकतर इसकी शब्दावली साहित्यिक थी। अर्थात् वह प्रचलित मौखिक मारवाड़ी से पृथक् थी।

यों तो डिंगल भाषा का पूर्वाभास हमें ईसा की १२ वीं शती (सन् ११४२ ई०) से मिलने लगता है जैसा कि गजराज ओझा ने अपने 'डिंगल भाषा' नामक निबंध में दिखाया है। धक चाल्, कीध, सबला, अल्हण सुत, विजयसी, खाग सोहड़, चहुआण राव, नरां, अणभंग शब्द निश्चय ही डिंगल के प्रयोग हैं[1]। किन्तु स्फुट, संदिग्ध रचनाकाल वाली और जैन कवियों द्वारा विरचित रचनाओं को आधार स्वरूप ग्रहण कर किसी निश्चयात्मक परिणाम पर पहुँचना संभवनीय नहीं है। हाँ, इस प्रकार की रचनाओं द्वारा यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि १२ वीं-१४ वीं शती ई० के मध्य डिंगल के साहित्यिक स्वरूप का निर्माण हो रहा था यद्यपि पुस्तक रूप में लिखित इस काल की कोई रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। १५ वीं शती ई० के आगमन के साथ ही हमें डिंगल भाषा में रचित ग्रंथ मिलने लगते हैं। नीचे प्रत्येक शती के कुछ प्रमुख कला काव्यकारों की रचनाओं से उदाहरण देकर डिंगल भाषा के साहित्यिक रूप के अभ्युदय एवम् क्रमिक विकास का विवेचनात्मक परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

३६०—डिंगल अपने उद्भव के समय अपभ्रंश की ओर कुछ उन्मुख थी। द्वित्त एवं संयुक्त वर्णों का प्रयोग प्रचुरता से होता था जो कि क्रमशः समय के अंतर के साथ कम हो रहा था। शब्दों में उ, ड़, ण, ल्, वर्णों का बाहुल्य था। प्रारम्भ में तत्सम शब्दों का प्रयोग अल्प तथा तद्भव शब्दों का अधिक होता था। आगे चलकर तत्सम शब्दों के प्रयोग के औसत में कुछ वृद्धि के लक्षण दृष्टिगत होने लगे। शब्दों के अन्त में अइ, अउ, इ लगाने की प्रवृत्ति अधिक थी। दीर्घ अन्त्य स्वरों का ह्रस्व अथवा लोप कर दिया जाता था। स्त्रीलिंग का मुख्य प्रत्यय ई था। इनके अतिरिक्त विदेशी (अरबी-फारसी) के शब्दों को तद्भव करके प्रयोग किया जाता था जैसे तुरक, निमाज, सुरताख आदि—इस प्रकार के प्रयोग नीचे के उदाहरणों में नहीं घटित हुये हैं। कहना न होगा कि १५ वीं शती ई० की डिंगल भाषा जन्म ग्रहण कर, अपभ्रंश से पृथक्, स्वच्छंदता पूर्वक अपने पैरों पर खड़े

१—ना० प्र० प०, भाग १४, पृ० ९९-१००।

होकर चलने का उद्योग कर रही थी और उत्तरोत्तर सुगठित साहित्यिक भाषा का विकास हो रहा था। नीचे उद्धृत अवतरणों में विशेषतायें स्पष्टतया परिलक्षित होती हैं—

(अ) श्रीधर कृत रणमल्ल छंद (र० का० सन् १४०० ई० के आस पास) की भाषा का उदाहरण :—

मुहु उच्छकि मुच्छ मुहच्छवि कच्छवि मूमइ मूंछ समुच्छलिया
उल्लालवि खग्ग करग्गि निरग्गक गणइ तिणइ दल अग्गलया
प्रल्लय करि लसकरि लोहि छबच्छव छंट करइ छत्तोस छलि
रणमल्ल रणंगणि राउत विलसइ रवि तलि खित्तिय रोसबलि

(आ) सन् १४२८ ई० के लगभग शिवदास द्वारा विरचित अचलदास खीचीरी वचनिका का उदाहरण :—

अेक्कइ वन्न बसंतड़ा अेव्वइ अन्तर काइ
सिंघ कवडूडी ना लहइ गयवर लक्ख विकाइ
गयवर गलइ गलथ्थियउ जहं खंचइ तहं जाइ
सिंघ गलथ्थण जइ सहइ तउ दह लक्ख विकाई[1]

(इ) सन् १४७३ ई० में लिखित ढोला मारू रा दूहा की भाषाका उदाहरण—

चिंता बंध्यउ सयल जग, चिंता किणहि न बध्ध।
जे नर चिंता बस करइ, ते माणस नहि सिध्ध ॥
मालवणी तूं मन समी, नाणइ सहू विवेक।
हिरणाखी हसिनइ कहइ, करउं दिसाउर इक ॥

३६१—१६ वीं शती ई० की डिंगल भाषा में कुछ वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक विशेषताओं का योग हुआ। ड, ड़, ण, ल, वर्णों के प्रयोग में कुछ वृद्धि हुई। अपभ्रंश के अउ का संकोच होकर केवल उ रह गया। द्वित्त तथा संयुक्त वर्णों का प्रयोग गत शती की अपेक्षा कुछ कम हो गया। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक होने लगा। अरबी तथा फारसी के शब्दों का प्रयोग भी आवश्यकतानुसार होता रहा। विभक्ति चिह्न घिस गये। अतएव प्राचीन विभक्ति

---

[1]—मेनारिया जी ने रा० भा० सा०, पृ० १०० पर इन पंक्तियों को यों लिखा है :—

एकणि वंनि वसंतड़ा, एवड़ अंतर काइ।
सीह कवडूडी ना लहै, गैवर लखिव विकाइ ॥१॥
गैवर गलय गलथीयो, जहं खंचे तहं जाइ।
सीह गलथ्थण जे सहौ, तो दह लक्ख विकाइ ॥२॥

चिन्हों को भी स्थान मिला। इस शती में भाषा के विकास की गति तीव्रतर हुई। बेलि क्रिसन रुक्मिणी री जैसा भाषा और साहित्य की दृष्टि से प्रौढ़ ग्रंथ का रचा जाना डिंगल के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। वस्तुतः भाषा की दृष्टि से प्रौढ़ रचनाओं का प्रणयन इसी काल से प्रारम्भ होता है। नीचे के अवतरणों में ये विशेषतायें स्पष्ट हैं :—

(ई) सूजा जी वीठू द्वारा रचे गये सन् १५३४-४१ ई० के मध्य के राव जैतसी रो छंद की भाषा का उदाहरण :—

> **कालवा कुही करड़ा कियाह, हांसला हरे वीनइ हलाह।**
> **रोझड़ा महूड़ा पीतरंग, तोरकी केविताजो तुरङ्ग॥**
> **डुंगरी मसवकी वेसि दीय, अइराक ततारी आरबीय।**
> **खुरसाणी मकुराणी खहंग, पतिसाह तणा छूटइ पवंग॥**

(उ) उपरोक्त समय के आस पास लिखे गये एक अज्ञात कवि कृत राव जैतसी रो छंद की भाषा का उदाहरण :—

> **विरदइतु जइतु रण वट्ट बंधि, सत्रु धाइ निजोड़इ गड़ा संधि।**
> **ऊच दइ असुर हरि धार ईम, मारथ्थि बईठउ जांण भीम॥**
> **केत्रियां निवहि कड्ड ति बंध, वड्ड ति हाउ ऊजिड्र बंध।**
> **पूरंति रुहिर योगिणी पत्त, रडवडइ रुंड दडवडइ रत्त॥**

(ऋ) पृथ्वीराज राठौड़ द्वारा प्रणीत बेलि क्रिसन रुक्मिणी री (सन् १५८० ई० में निर्मित) की भाषा का उदाहरण :—

> **मेली तदि साध सुरमण को कमनि, रमण को कमनि साध्र रही।**
> **फूले छंडी वास प्रफूले, ग्रहणो सीतलता इ ग्रही॥**
> **धुनि उठी अनाहत संख भेरि धुनि, अरुणोदय थियो जोग अभ्यास।**
> **माया पटल निसामै मंजे, प्राणायामें ज्योति प्रकास॥**

३६२—इस शती में १६ वीं शती ई० के वर्णात्मक एवं ध्वन्यात्मक परिवर्त्तनों को अधिक बल प्राप्त हुआ। वर्तमान काल, सुदूर विधि और कर्मवाच्य तथा सप्तमी विभक्ति के प्रथम पुरुष संबंधी एकवचन के प्रयोगों के अन्त्य इ की ए में परिणति हो गई, जैसे कसइ का कसै, मिलइ का मिलै अथवा कर्मवाच्य मुकिजइ का मूकजै इत्यादि। स्त्रीलिंग संज्ञाओं के अंत्य इ के स्थान पर अ का आगम दृष्टिगत होने लगा, यथा ख्याति का ख्यात, तरवारि का तरवार आदि। करण एवं संबंधकारकों के बहुवचन में प्रयुक्त होने वाले ए का आं द्वारा स्थानान्तरण होने लगा, जैसे आवधां, फौजां, सुहड़ां, घोड़ां प्रभृति। इन अनेक अंतरों के होते हुये

भी १६ वीं शती के प्रचलित नियमों के सुरक्षित रखने का प्रयास होता रहा। इनके अतिरिक्त १७ वीं शती ई० में भाषा के नियमों के विपरीत वर्णों के द्वित्त एवं संयुक्त प्रयोगों के आधिक्य की पुनरावृत्ति के लक्षण दिखाई दिये। अनपेक्षित स्थलों में अकारण अनुनासिकता तथा आवश्यक अनुस्वारों के लोप के प्रयोग किये जाने लगे। इन प्रयोगों के आधार पर कुछ विद्वान् इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि इस शती की रचनाओं में कृत्रिम डिंगल का आभास दृष्टिगोचर होता है जिसमें कि आगे चलकर बहुत-सी रचनाओं का सृजन हुआ। लेकिन गजराज ओझा के कथनानुसार 'आज-कल के व्यक्ति इन्हें न समझने के कारण इसे चारणों की कृत्रिम भाषा की संज्ञा देते हैं।' इन विशेषताओं के प्रदर्शनार्थ नीचे दो उद्धरण दिये जाते हैं :—

(लृ) १७ वीं शती ई० के प्रथमार्ध में सांयाझूला विनिर्मित नागदमण की भाषा का उदाहरण :—

> सबे नंद री नारि आहीर टोलै, खडे आपडे हेक्र हेका खल़ाल़ै।
> जुवै जोतिषा जुथ्थ मेल़ी जसूदा, वपैयो हुई कानन्हौ मेघ बुन्दा॥
> बिहू लोचनै नीर धारा बहंती, कनैयो कनैयो जसोदा कहंती।
> कलिंदा तणै आइ लोटंत कांठै, गयो जाणि चिंतामणी रंकगांठे॥

(ए) सन् १६५८ ई० के लगभग जग्गा जी खिड़िया द्वारा प्रणयन किये गये वचनिका राठौड़ रतन सिंह जी री महेसदासोतरी की भाषा का उदाहरण :—

> कसे हाथल़ा टोप मोजा झिगल्लं, जमद्दाढ वामैं जिके लाग ढल्लं।
> गुपत्ती कती संगि गद्दा गुरज्जं, कसे आवधां ओसछै जुझ्झ कज्जं॥
> मुथाणं कवांणं समल्लं मिलैं मीरजादा इसा जुझ्झमल्लं।
> विन्हे फौज फौजां घणी चत्रवाहं, सम्है सार आबध्ध लीधां सनाहं॥

३६३—१८ वीं शती में आकर डिंगल भाषा का स्वरूप पूर्णतया निखर चुका था और वह अपने नियमित मार्ग पर स्वतंत्रतापूर्वक अबाध रूप से अग्रसर थी। जैसा कि ऊपर के उद्धरणों के भाषा की व्यवस्था से प्रकट है ड, ड़, ण, ल़ डिंगल के विशिष्ट वर्णों का प्रयोग समान रूप से होता था। अरबी फारसी के तद्भव शब्दों जैसे सुरतांण, आदाब, जमात, तमास, दरवेस, फील, दस्त, फुँरमाण, बंदगी आदि का प्रयोग भी स्वच्छंदता के साथ किया जा रहा था। संस्कृत के तत्सम शब्दों यथा अरुण, अभिराम, कंज, नयन, ग्रीवा, पतंग, धनुष प्रभृति का भी समुचित उपयोग किया जा रहा था। तद्भव शब्दों के प्रचुर प्रयोग की प्रवृत्ति सर्वदा के समान प्रचलित थी, यथा कियारथ>कृतार्थ, नरेहण>नरेश, अरधंग>अर्द्धांगिनी इत्यादि। अइ और अउ अंत्य वाले शब्दों का सर्वथा लोप हो चुका था और उनका स्थान ऐ और औ ने ग्रहण कर लिया था जैसे मोकलै, दाखै, मलहलै,

अविखयौ, सूतौ, पौहरौ आदि। किन्तु संयुक्त और द्वित्त वर्णों के अधिक प्रयोग संबंधी पुनरावृत्ति संबंधी गत शती के चिह्नों को विशेष प्रोत्साहन नहीं प्रदान किया गया। उनका प्रयोग पादपूर्ति अथवा ओज लाने की दृष्टि से ही थोड़ा-थोड़ा होता रहा। इन विशेषताओं को समझने के लिये नीचे दिये गये उद्धरण अवलोकनीय हैं :—

(ऐ) वीर मांण रत्नू द्वारा निर्माण किये गये सन् १७३० के काव्य राजरूपक की बानगी :—

माच कमंधां मुग्गलां यां जद्धां खग आल़ ।
अजक अपीधां अमल ज्यूं, विण कीधां रणताल़ ।।
इंद्रमांण मुकनेस रौ ग्रह के वांण तरस्स।
आसमांन छिव आखियौ भाई माण सरस्स ।।

(ओ) सन् १७५३ ई० के आसपास गोपीनाथ गाडण कृत गजरूपक भाषा का नमूना :—

झनराव बहे मुहमंद कंठीर, नरनाह चढ़ावे दंसनीर ।
जैतसी भंजि कंभ्मारै जड़ागि, घूंघड्‌र राड़ लागे धियाथि ।।
मालदे तणो मंजियौ मांण, कलियांण पांण झल्लै केवाण ।
बाधियौ उलक रासै दुबाह, मारूवैराव गुजरात मांह ।।

(औ) १८ वीं शती ई० के द्वितीयार्ध के अंतिम चरण के लगभग रामदान द्वारा रचित भीम प्रकाश की भाषा का उदाहरण :—

असंक सैत आरम्भ बोल नकीब बलोबल़ ।
गहर थाट गैमरा चपल़ हैमरां चलो बल़ ।।
भाल़ तेज मलहलैं डलैं विहुवै पख चम्मर ।
दिन दूलह दीवाण ए चढियौ छक ऊपर ।।
तिणवार आपदरियाव तट विडग छंडि जग पति वियौ ।
दीवाण भीम गणगोर दिन एम राण आरम्भियौ ।।

३६४—डिंगल भाषा के स्वरूप से संबद्ध उपरिलिखित तथा अन्य सामान्य विशेषतायें १६ वीं शती के प्रमुख कवि सूर्यमल मिश्रण के समय पर्यन्त लगभग ज्यों की त्यों रहीं जैसा कि अधोलिखित अवतरणों की भाषा के उदाहरणों से स्पष्ट हैं :—

(अं) उडै पग-हाथ किरका हुवै अंगरा, वहै रत जेम सावण वहाला।
आप आपोपरी जोयने आडियां, लड़ै रिण भला भला निरातल़ा ।।

तहक नीसांण हरखांण गिरवांण तन, चित्त सासाण रंभ गांण चालै ।
निडर रिस राण गह पांण वीणा नचै, मांण रथ तांण घमसांण मालै ।
—रघुनाथ रूपक गीतांरो, र० का०, सन् १८०६ ई०

(अ:) केथ पधारो ठाकुरां, मरदां नैण मिलाय ।
फरती लीधा फिरै, धरती रा धन खाय ।।
बंब सुणायो बींद नूं, पैसंता घर आय ।
चंचल साम्है चालियो, अंचल बंध छुड़ाय ।।
—वीर सतसई (अपूर्ण) र० का०, सन् १८५७ ई० के लगभग

सूर्यमल मिश्रण के समय पर्यन्त की डिंगल भाषा का गठन अत्यन्त पुष्ट एवं परिनिष्ठित था और इस दृष्टि से उन्हें प्रतिमित डिंगल भाषा का, २० वीं शती ई० नाथूदान म्हैयारिया को छोड़कर अंतिम कवि कहा जा सकता है। इनके उपरांत १६ वीं शती ई० में कवि राव बखतावर तथा ऊमरदान लालस के नाम लिये जा सकते हैं। ये कवि वस्तुतः डिंगल भाषा के शुद्ध स्वरूप को स्थिर रखने में असमर्थ रहे। अतएव यह निस्संकोच कहा सकता है कि डिंगल की साहित्यिक भाषा का सौष्ठव सूर्यमल के पश्चात् दूषित हो गया। इन्होंने डिंगल के साथ ब्रज, विकासोन्मुख खड़ी बोली तथा प्रादेशिक बोलचाल की भाषाओं का डिंगल संस्कार कर भाषा के स्वरूप को ढालने का प्रयत्न किया। द्वित्त एवं संयुक्त वर्णों के अतिरिक्त ड, ड़, ण, ल़ वर्णों की सहायता से डिंगल की ध्वन्यात्मकता को स्थिर रखने की चेष्टा की। फलस्वरूप ये डिंगल की जीवनी शक्ति को संचित एवं सुरक्षित रखने में विशेष कृतकार्य न हो सके। वर्तमान अर्थात् २० वीं शती ई० में कवि राव मोहन सिंह और उदयराज उज्ज्वल जी की रचनाओं की भाषा का गठन उपरोक्त कवियों के ही समान समझा जा सकता है। किन्तु इनके अतिरिक्त डिंगल भाषा के आदर्श स्वरूप को बरद करों द्वारा प्राणवान रखने वाले आधुनिक कवियों में नाथूदान का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। इनकी भाषा में साहित्यिक डिंगल का वास्तविक ओज विद्यमान है जो कि नीचे प्रस्तुत अवतरण में लक्षणीय हैं :—

बाप मुओ जिण ठौड़ हूँ, बेटा नहं हटियाह ।
पेच कसूंमल पाग रां, सिर साथे कटियाह ।।
ओषद जाणै मोकला, पीड़ न जाणै लोग ।
पिउ केसरिया नहं किया, हुं पीली उण रोग ।।

३६५—डिंगल अवधी और ब्रज के समान ही एक स्वतः स्थित साहित्यिक भाषा है। इसका भी विस्तृत शब्द भंडार तथा व्याकरण है। इसके विकृत तद्भव शब्दों से युक्त अपरिचित स्वरूप के कारण कदाचित् डिंगल भाषा के कर्णकटु

और कांतिरहित होने की क्लिष्ट कल्पना कर ली गई लेकिन डिंगल भाषा के स्तर का पर्यवेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि इसमें उच्चतम शब्द-सौष्ठव तथा भाषा सौन्दर्य है।

आ—शास्त्रीय विवेचन

३६६—डिंगल भाषा के संबंध में विद्वानों में अद्यावधि पर्याप्त भ्रम फैला हुआ है। अधिकांश विद्वान् साधारणतया डिंगल को राजस्थानी का एक रूप मानते हैं। अतएव इस प्रसंग में, राजस्थानी की वास्तविक स्थिति क्या है, इस ओर भी संकेत कर देना अनुपयुक्त न होगा। 'राजस्थानी भाषा' शब्द 'हिन्दी भाषा' के समान ही भ्रमात्मक है। जिस प्रकार वस्तुतः हिन्दी अनेक विभाषाओं का एक सामूहिक नाम है, ठीक वही परिस्थिति राजस्थानी भाषा के साथ है, जो कि हिन्दी की एक विभाषा के रूप में मान्य है। यदि यह कहा जाय कि राजस्थानी नाम की कोई भाषा नहीं है तो अनुचित अथवा असत्य न होगा। राजस्थानी वास्तव में राजस्थान की समस्त बोलियों को अभिव्यंजित करता है। राजस्थान की बोलियों में मारवाड़ी (इसके अंतर्गत मेवाड़ी भी है), ढूंढ़ाड़ी (इसके अंतर्गत हाड़ोती भी है), मालवी, तथा बागड़ी के नाम मुख्य हैं। विभिन्न विद्वानों ने इन बोलियों का वर्गीकरण अपने-अपने ढंग से किया है। इस विषय पर नवीनतम मत डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपनी पुस्तक 'भारत की भाषायें और भाषा संबंधी समस्यायें' शीर्षक ग्रंथ में प्रस्तुत किया है, अतएव उनके शब्दों को यहां अविकल रूप से उद्धृत करना पर्याप्त होगा:—

"......और पश्चिमी राजस्थानी ने डिंगल के नाम से स्वतंत्र साहित्यिक भाषा बना डाली। डिंगल साहित्य राजपूताना के चारणों तथा भाटों द्वारा विशेष समृद्ध हो उठा। पश्चिमी राजस्थानी का मुख्य रूप मारवाड़ी है...इसका केन्द्र जोधपुर है, इसके अतिरिक्त इसकी कुछ स्थानीय शैलियां हैं, मेवाड़ की बोल-चाल की भाषा उनमें एक है। राजस्थान की बोलचाल की भाषायें जैसे उत्तरी राजस्थानी (मेवाती तथा अहीरवाटी), पूर्वी राजस्थानी (जैसे जयपुरी तथा उसकी उपभाषायें कोटा के चारों ओर की हाड़ौती), दक्षिणी राजस्थानी या मीली या मालवी डिंगल से अलग केवल बोल-चाल की भाषायें रही हैं[1]।"

इन समस्त बोलियों में मारवाड़ी में मुख्यतया लिखित रूप में साहित्य वर्तमान है जो कि एक प्रकार से इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि मारवाड़ी राजस्थान की प्रतिमित अथवा परिनिष्ठित (Standard) भाषा है। यह

१—डा० चैटर्जी—भारत की भाषायें और भाषा संबंधी समस्यायें, पृ० ५१।

प्रतिमित मारवाड़ी ही वस्तुतः डिंगल है जिसे मरुभाषा, राजपूतानी तथा पश्चिमी राजस्थानी नामों से अभिहित किया गया है। राजस्थानी, जो कि एक आधुनिक नाम है, शब्द भी शास्त्रीय तो नहीं परन्तु प्रयोगात्मक दृष्टि से इसी भाषा के लिये अधिकतर व्यवहार किया जाता है। राजस्थान में इसके अतिरिक्त भी दो साहित्यिक शैलियाँ हैं। एक तो पिंगल अथवा ब्रजभाषा है तथा दूसरी मिश्रित भाषा है जिसमें प्रादेशिक बोलियों की छाप के साथ गुजराती, मराठी, ब्रज तथा विदेशी शब्दों का सम्मिश्रण है। डिंगल, जो कि राजस्थान की अपनी साहित्यिक भाषा है और जिसे कि प्रान्तिक भाषा होने के नाते शास्त्रीय शब्दावली में विभाषा अथवा उपभाषा कहना चाहिये—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा अरबी-फारसी के द्वारा भी आंशिक रूप में प्रभावित है। वर्तमान समय में खड़ी बोली के प्रसार के कारण उसका भी इस पर पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका है और पड़ रहा है।

३६७—किसी भाषा के ज्ञान, अथवा दूसरे शब्दों में शुद्ध लिखने, पढ़ने और बोलने के लिये उसके व्याकरण की जानकारी नितान्त आवश्यक होती है। और भाषा विज्ञान के अनुसार शब्द, जो कि 'भाषा रहस्य' के लेखकों के शब्दों में 'भाषा का अंत्यावयव'[1] होता है, का विवेचन किया जाता है। शब्द के विश्लेषण के लिये ध्वनि समूह अथवा उच्चारण, अर्थ समूह अथवा अर्थ और भाव तथा रूप समूह अथवा भाषा की रूप रचना सामग्री का अध्ययन अपेक्षित होता है। डिंगल भाषा के शास्त्रीय विवेचन से इन समस्त भाषा के तत्वों को ध्यान में रखकर भाषागत विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है।

३६८—क. लिपि सम्बन्धी विशेषतायें

१—स्वरात्मक

(अ) डिंगल में अॆ (ए़)=ह्रस्व ए, अॆ (ऐ़)=ह्रस्व ऐ, अै=हिन्दी ऐ, अ‍ै=संस्कृत ऐ (अइ), अॊ=ह्रस्व ओ, अॏ=ह्रस्व औ, औ=हिन्दी औ और अ‍ौ=संस्कृत औ (अउ) विशेष स्वर हैं[2]।

(आ) ऋ का स्वतंत्र प्रयोग नहीं होता है। स्वतंत्र रूप में यह 'रि' हो जाता है जैसे ऋषि=रिषि। संयुक्त वर्णों में अवश्य इसका प्रयोग होता है जैसे स्मृति[3]।

(इ) अनुस्वार—(ं) का उपयोग प्रचुरता से होता है यहाँ तक कि अकारण भी जैसे राधां और इसके विपरीत आवश्यक स्थलों में इसका लोप भी देखा जाता

१—भाषा रहस्य, पृ० ५३ (पहला भाग) प्रथम संस्करण सं० १९९२, प्रकाशक—इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग।

२—रा० दू०, पृ० २ (राजस्थानी वर्ण माला)।

३—रा० भा० सा०, पृ० ३४।

है जैसे प्रताप सी। पहले अनुनासिकता के लिये चंद्र बिंदु (ँ) का प्रयोग नहीं होता था किन्तु अब उसका उपयोग होने लगा है[१] ।

(ई) विसर्ग (:) का प्रयोग नहीं होता है[२] ।

२—व्यंजनात्मक

(अ) देवनागरी लिपि में प्रयुक्त ख, छ, झ, ड और ड़ डिंगल में क्रमशः ष, छ, ऊ, क और ड या ङ द्वारा लिखे जाते हैं[३] । छापे की कठिनाई के कारण प्रकाशित पुस्तकों में इन वर्णों को शोधकर नागरी अक्षरों में कर दिया जाता है ।

(आ) ळ या ल़ (मूर्धन्य ल जो कि वैदिक, मराठी तथा गुजराती आदि में प्रयुक्त होता है), व़ (अंग्रेजी V के समान उच्चरित), अथवा ड़ (ढ़ का मूर्धन्य उच्चारण), और द़ या ढ़ (अरबी ض की भाँति उच्चरित) विशिष्ट व्यंजन है[४] ।

(इ) र का रेफ (ˆ) पूर्ण र के रूप में लिखा जाता है अथवा स्थानांतरित होकर वर्ण के नीचे प्रयुक्त होने वाले रेफ (्) में परिणत हो जाता है यथा क्रमशः चतुरदस और भ्रम ।[५]

३६६—ख. उच्चारण सम्बन्धी विशेषतायें

(१) असंयुक्त स्वरों में आदि अथवा मध्य अ का डिंगल में इ, उ अथवा लोप हो जाता है यथा क्रमशः (अप०) जइसउ>जिसउ, (अप०) पहर>पुहर, तथा (अप०) अच्छइ (सं० ऋच्छति)>छइ । इ का प्रायः ए हो जाता है किन्तु यदि इकार के पूर्व दीर्घ स्वर होता है तो य हो जाता है, यथा क्रमशः (सं०) इन्द्र>अंद्र और (अप०) दोइ>दोय । उ का प्रायः ओ अथवा लोप हो जाता है, यथा क्रमशः (अप०) उवसइ (सं० उपविशति)>वइसइ और (प्रा०) दुल्लह, दुलह (सं० दुर्लभ) दोहिल । ए का अ, इ अथवा हे हो जाता है, यथाः क्रमशः (अप०) जेव्व, जे (सं० एव)>जि, ज और एक> हेक । ओ का उ प्रायः हो जाता है, यथा (अप०) होइ (सं० भवति)>हुइ । और दो स्वरों के मध्य प्रायः व श्रुति हो जाती है, यथा (अप०) पिअइ (सं० पिवति)> पीवइ[६] ।

१—वही ।

२—वही (विशेष) लेखक ने डिंगल के हस्तलिखित ग्रंथों में विसर्ग के प्रयोग देखे हैं । इनका प्रयोग किसी पदान्त पर ह्रस्व 'आ' का सा बल देने के लिये होता है ।

३—रा० दू०, पृ० ३ (राजस्थानी वर्णमाला) ।

४—रा० भा० सा०, पृ० ३१, रा० दू०, पृ० ३ (राजस्थानी वर्णमाला) ।

५—वही, पृ० ३४ ।

६—ना० प्र० प०, भाग १४, पृ० १३६—४० ।

(२) संयुक्त वर्णों में मध्य अ का य, अंत्य इ का ए, अउ का उ, अंत्य उ का ओ, ओ का औ, इअ का ई और उ के परवर्ती का प्रायः लोप हो जाता है, जैसे क्रमशः (अप०) रअण (सं० रत्न)>रयण, (अप०) जाणिज्जइ>जाणिजै, (अप०) कउण>कुण, (अप०) करइज्जइ>करइज्यो, करइजो या करीजो, (अप०) दिअह (सं० दिवस)>दीह और (अप०) जूअ (सं० द्यूत)>जू[1] ।

(३) असंयुक्त व्यंजनों में ज का 'य' और विपरीत, आदि ण का न, ल का न और विपरीत, व का ब, अंत्य तथा मध्य व का लोप, व का म तथा अंत्य य का लोप हो जाता है, जैसे क्रमशः (अप०) कहिज्जइ>कहियइ और यवन>जवन, णवि (सं० न अपि)>नवि, (अप०) लिप्पइ (सं० लिप्यते)> नीपइ और नीलूं (नीलम्)> लीलूं, (अप०) कान्हदेव (सं० कृष्णदेव)>कान्हदे, (अप०) इवं (सं० इमि)>इम, एम और (अप०) नयणहि>नयणे[2] ।

(४) संयुक्त द्वित्वापन्न व्यंजनों में डिंगल में प्रायः एक कालोपकर आदि स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है, उदाहरणार्थ (अप०) अज्ज (सं० अद्य)> आज। परन्तु इनके अपवाद भी हैं। यथा (अ) संख्यावाचक शब्दों में ये ज्यों के त्यों रहते हैं जैसे, (अप०) सत्तावीस>सत्ताईस। (आ) ण्ण का न्ह या न में परिवर्तन होता है, जैसे, (अप०) दिण्णउ>दीन्हउ, दीनउ। (इ) ल्ल की परिणति ल्ह या ल में होती है, जैसे, (अप०) मेल्लियइ>मेल्हइ, मेलइ[3] ।

(५) डिंगल में केवल अनुनासिक, कुछ स्वरों तथा ह व्यंजन में वर्ण विपर्यय परिलक्षित होता है जैसे, क्रमशः (अप०) काइं (सं० कानि)>कांइ, (अप०) पुणु, पुनि (सं० पुनर्)>पिण, तथा (अप०) दिअहाड़अउ>दिहाड़उ[4] ।

(६) तत्सम तथा तद्भव शब्दों का डिंगल में संप्रसारण होता है, यथा, (सं० स्वप्न)> सुपनों और (अप०) गवक्ख (सं० गवाक्ष)> गउख[5] ।

(७) डिंगल में ल और ळ या ल़ और व तथा व़ भिन्न ध्वनियों के द्योतक हैं, यथा, चंचल=चपल और चंचल़=घोड़ा तथा वात=वायु और व़ात=कहानी। इनके अनुचित उच्चारण अथवा अनुपयुक्त लेखन से अर्थांतर का भय होता है[6] ।

१—वही, पृ० १४१ ।

२—वही, पृ० १४१—४३ ।

३—ना० प्र० प०, भाग १४, पृ० १४३-४४ ।

४—वही, पृ० १४४ ।

५—वही ।

६—रा० भा० सा०, पृ० ३१-३३, हृ० र० भू० ।

(८) श के स्थान पर स ही लिखा जाता है यथा, सासत्र किन्तु उच्चारण करते समय उसे श पढ़ा जाता है यथा शासत्र[1]।

(९) कुछ शब्दों के किसी विशेष अक्षर पर बल देकर पाठ करने से शब्द का अर्थ भिन्न हो जाता है और बल न देने पर भिन्न। यथा, बापरो में बा पर बल देने से उसका अर्थ विहीन तथा बल न देनेपर वायु का अर्थ हो जाता है[2]।

३७०—ग. अनुलेखन सम्बन्धी विशेषतायें

(१) सुखोच्चारण अथवा पादपूर्ति के लिये कभी किसी स्वर अथवा कभी ह और र का प्रयोग किया जाता है, जैसे, क्रमशः रण का आरण, अंबर का अबंहर और रजपूती का रजपूतीह[3]।

(२) संस्कृत तथा हिन्दी के न और ह से अंत होने वाले शब्दों को प्रायः ण और घ के द्वारा लिखा जाता है जैसे, क्रमशः जीवन का जीवण और रायसिंह का रायसिंघ[4]।

३७१—घ. रूपभेदात्मक विशेषतायें

(१) डिंगल में ४ लिंग—पुल्लिग, स्त्रीलिंग, नपुंसक लिंग और उभयनिष्ठ लिंग प्राप्य हैं[5]। इनमें अधिकांश संस्कृत के अकारांत पुलिंग विशेष्यों में प्रथमा विभक्ति के प्रत्यय रक्षित हैं, यथा घोटकः, घोड़ों अथवा सं० वार = वार[6]।

(२) साधारणतया एकवचन से बहुवचन में परिवर्तन करने के लिये अकारांत पुलिंग व और स्त्रीलिंग में आं, इ ईकारांत पुलिंग और स्त्रीलिंग में यां, ओकारांत पुलिंग का आकारांत, और आ, ऊ या ओकारांत स्त्रीलिंग में वां का प्रयोग होता है, यथा क्रमशः कायर कायरां, रात रातां, कवि कवियां, तेली तेल्यां, मूरति मूरत्यां, रोटी रोट्यां, पोतो पोता या पोतां, और मा मावां, बहू बहूवां, पो पोवां[7]।

(३) ८ कारकों के चिह्न उदाहरण सहित निम्नांकित है[8] :—

१—रा० भा० सा०, पृ० ३३, ह० र० भू०।

२—वही, पृ० ३२, ह० र० भू०।

३—वही, पृ० ३५।

४—रा० भा० सा०, पृ० ३५।

५—वही।

६—रा० भा० सा०, पृ० ३६, ना० प्र० प०, भाग १४, पृ० १४६।

७—रा० भा० सा० पृ० ३५-३६।

८—वही, पृ० ३६-३६, ना० प्र० प०, भाग १४, पृ० १४५।

कारक	लिंग	एकवचन		बहुवचन	
		विभक्ति	उदाहरण	विभक्ति	उदाहरण
कर्त्ता	पुलिंग	उ, ऐ	राइ, राउ, ढोले	आ, आ	बांकियां, घोड़ां
	स्त्रीलिंग	इ, आ	घरणि, अरधंगा	यां	माला, रजपूतणियां
कर्म	पुलिंग	उ, ऐ	विधि, तसु, चीत्रारै	आं, यां	मोतियां, पोहपां
	स्त्रीलिंग	इ, आ	कट्टारि, अरधंगा	आं, यां	पातां, विरहियां
करण		इ, इ इ, ऐ	करि, कामिइ, रूकै	ए, आं	मसि, करे, कमलां
संप्रदान		ए, नू, आं	चिहुरे, जिहां	आं	किरातां

(आं विशेषतया सर्वनाम में प्रयोग होता है)

कारक	एकवचन विभक्ति	एकवचन उदाहरण	बहुवचन विभक्ति	बहुवचन उदाहरण
अपादान और संप्रदान	हूंत, हूं, हुंतो हुंती, हुंतां, ऐ	हूंत, हुंतो, चिहुरे हियै	आं	विदेसां
संबंध	प्राचीन डि० में ह, ऐ अर्वाचीन में तणो, तणी केर, केरउ केरउ रो, को आदि	सहितणी थह भवांह, ढोलै	प्राचीन में हां आंह अर्वाचीन में आं, यां याँ	करहाँ, हलांह मुगलालांह पोहपां, मोतियां
अधिकरण	इ, ऐ	गिरि, ललाटि, पीछोलै	इ, ए	मगि, नीसाणे, चंचलां

ऊपर प्रस्तुत की गई तालिका (Chart) को ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है कि डिंगल के कारकों में निर्विभक्तिक और सविभक्तिक रूपों का प्रयोग होता है और एकवचन की विभक्ति ए अथवा ऐ, संबोधन को छोड़कर, तथा बहुवचन की विभक्ति आं अथवा यां समस्त कारकों में लगती है।

इनके अतिरिक्त कारकों में विभक्त्यंत पदों में स्पष्टीकरण के लिये परसर्ग विशिष्ट विभक्तियाँ भी प्रयुक्त होती हैं। इन परसर्गों का आगम प्रायः अपभ्रंश से

हुआ है[1]। डिंगल में प्रत्येक कारक के लिये दो अथवा अधिक परसर्ग उपलब्ध है जैसा कि निम्नांकित तालिका से प्रकट है[2]:

कारक	विभक्तियाँ	उदाहरण
कर्म	नइ, प्रति, रहइ	(अ) जासुख दे श्यामा नइ (नै) जिय—वे० क्रि० रु०
		(आ) लागै माधि लोक प्रति लागौ—वे० क्रि० रु०
करण	करि, नइ, पाहि,	(अ) मुखि करि किसै कहीजै माहव—वे० क्रि० रु०
	साथि, सिउँ, सूं	(आ) भरथराज जिन साथ बोलइ—I. A. Vol. XLVIII, 1916, P. 22
		(इ) अवधेसरा रूप सूं रीझि आई सूरज प्रकाश
		(ई) कहि कोसिक सिउं पूछइ बात—I. A. Vol. XLV, 1916, P. 95
संप्रदान	कन्है, ने, प्रति	(अ) आविया रा कन्है—J. A.S.B. XV. p. 30
		(आ) महारुद्र नै सिर पेस करां—रतन रासौ
		(इ) राय राणि प्रति कहइ
अपादान	कन्हइ, कनै, तांइ,	(अ) इंद्र मांगै जिन कनै क दक्षिण —J. A. S. B. LXIII, 1914, p. 254,
	थी पासइ, मझारि	(आ) विहाणै प्रात लोकथी सगलोक जाइस्यां —रतन रासौ
	मांझि, मां, माहि,	(इ) रुकमणि राणि अंगज मागइ, आपण प्रियने पासइं
	हूंत, हुंता, हूंती	(ई) कोस हूंत सौ कोस—कुकवि बत्तीसी
संबंध	करेउ, केरो, केरा, केरे,	(अ) चौली केरे पान ज्यूं—ढो० मा० दू०
	तणउ, तणा, तणी, तणो	(आ) स हमीर तणउ दरियाउ सद्धि —छं० रा० जै० १०६

१—ना० प्र० प०, भाग १४, पृ० १४८-५० ।

२—वही, रा० भा० सा०, पृ० ३६-४४ ।

	चा, ची, चै, चौ, नउ, रइ	(इ) दैत्य बड़ा चा दंत—नागदमण
	रहइ, रा, री, रे	(ई) महाराज आजरी वेदराघणी राठोड़—व० रा० र०
अधिकरण	कन्हइ, तांइ, पासइ	(अ) बारै मास माहिदिन बारै —सूरज प्रकाश ७६
	मंझार, मांझ, माझल	(आ) मद सूं गोठ मंझार—मावड़िया मिजाज
	मां, माहि, मधि, में	(इ) पड़ै आगि में उड़ि जेहा पतंग —रतन रासौ

(४) सर्वनामों की अवतारणा डिंगल में अपभ्रंश से हुई है, अतएव वे अपभ्रंश के निकट हैं। डिंगल के सर्वनाम लिंग-भेद में अपरिवर्तित रहते हैं। नीचे विभिन्न प्रकार के सर्वनाम शब्दों का संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है :—

(अ) पुरुषवाचक हूँ (मैं) [1]

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	हूँ, म्हैं	म्हे
कर्म	मूं, हूं, मुझ, अम्ह	म्हां
संबंध	मुझ, म्हारौ, मो, मूँ, अम्हीणौ	म्हारौ, अम्हीणौ, अम्हां

(आ) पुरुषवाचक तूं (तू) [2]

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	तूं, तैं, थैं	थे
कर्म	तईं	तुम्ह, तुम्हां, थां
संबंध	तुझ, थारौ, थारी (स्त्रीलिंग)	थाकौं, थाकै

(इ) निश्चयवाचक ओ (यह) [3]

कारक	एकवचन	बहुबचन
कर्त्ता	ओ, ए, एह, आ	औं, इणां, यां, एह
कर्म	अण, एण, एह, इणनै	इण, एह, इणांनै, आनै
संबंध	इणरा, ईरा	इणांरा, औंरा, यांरा

१—रा० भा० सा०, पृ० ४४, ना० प्र० प०, भाग १४, पृ० १५८।

२—वही।

३—वही, ना० प्र० प०, पृ० १५८-५६।

(ई) निश्चयवाचक वो, सो, (वह)[1]

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	सो, सु, ऊ, उण, ते, तिको, तिका, वो, सोइ, तिणि	सो, उणां, ते, तिके, वै, ते, तेह, तिणां, वां
कर्म	उण, त्यां तिणनै	उवा, त्यां, तांह, तिणांने
सम्बन्ध	उणरो, तासु, तसु, तिणरा	तिणका, उणांरा, वांरा

(ख) सम्बन्धवाचक जो, जिको (जो) के रूप एकवचन और बहुवचन में क्रमशः कर्ता में जो, जिको, जु, जा, जिका, जे, जिका, जिकां, जिणांतै, कर्म में जिण, जेण, जां, ज्यां, जाह, जे, जिणानै, जे, जिका, जिकां, जिणांने, और सम्बन्ध में जास, जिणरा, जिणरौ, ज्यांरौ, जिए, जिणांरा, ज्यांरा, जिणकौ, जई, ज्यांकौ होते हैं[2]।

(ऊ) प्रश्नवाचक कुण (कोन) के विभिन्न रूप एकवचन और बहुवचन में क्रमानुसार कर्ता में कुण, कूण, कवण, को, का, किण; कुण, किणां, कर्म में किणनै, किण, किणि, केण, कवण, कीनै, कणांनै तथा सम्बन्ध में कीरां किणरा, कुणह, किणांरा होते हैं[3]।

इनके अतिरिक्त अनिश्चयवाचक कोई के को, कोवि, कोय, निजवाचक आप के आपां, आपण, आपणो,[4] परिमाणवाचक में एतउ (इतना) जेतलउ (जितना), केवड़उ (कितना), गुणवाचक में इसउ, जिसिउ, किस्यो, स्थानवाचक में अठउ (अत्र), जठउ (यत्र), तठउ (तत्र) कठउ (कुत्र), समष्टिवाचक में सहु (शश्वत्), सवि (सर्वे) और संयुक्त सर्वनामों में जिको (कोई), जिकाइ (जो), कोईक (कोई एक), सहुको या सविकाइ (सब कोई) प्रभृति रूप होते हैं[5]।

(५) विशेष्य के अनुसार ही विशेषण के लिंग, वचन, कारक होते हैं। स्त्रीलिंग विशेषण साधारणतया इकारांत होते हैं[6]।

(६) क्रियाओं के निम्नलिखित प्रयोग डिंगल में विशेष लक्षणीय हैं:—

(अ) वर्तमान काल की अभिव्यक्ति के लिये मूल क्रिया में इ या ऐ प्रत्यय का संयोजन किया जाता है या छै, छूँ, छा, अछइ छउ (आछ् धातु) को मूल क्रिया

१—वही।

२—रा० भा० सा०, पृ० ४५, ना० प्र० प० भाग १४, पृ० १५६-६०।

३—वही, ना० प्र० प०, पृ० १६०-६१।

४—वही।

५—ना० प्र० प० भाग १४, पृ० १६२-६३।

६—रा० भा० सा०, पृ० ४५, ना० प्र० प० भाग १४, पृ० १५६-५७।

के पश्चात् लगाया जाता है, यथा क्रमशः रोकै अकबर राह दुरसा जी, म्हे छां कूँभडियांह—ढो० मा० दू०[1] ।

(अ) भूत काल में एकवचन के लिये ओकारांत और बहुवचन के लिये ए या आकारांत क्रिया रूप का प्रयोग होता है, जैसेः क्रमशः भोला की डर भागियो —सूर्यमल, ब्रह्मा बिसन महेस इन्द्र, सुर साथी आया—रतन रासौ । इन रूपों के अतिरिक्त हुओ, हुआ, हुई, थयो, थया, थई और कहीं-कहीं मयो, मया, मई के प्रयोग भी उपलब्ध होते हैं[2] ।

(इ) भविष्य काल के द्योतनार्थ स्यां, सी इत्यादि प्रत्ययों का उपयोग होता है । 'संस्कृत या आद्य भारतीय आर्य भाषा में लब्ध 'स्य' प्रत्यय प्रयुक्त भविष्यत् डा० सुनीति कुमार चैटर्जी के अनुसार, (जै पुरी को छोड़कर) केवल मारवाड़ी की विशेषता है' । इसके अतिरिक्त ला प्रत्यय लगा कर भी भविष्य काल का निर्माण किया जाता है यथा—क्रमशः दिली जीवतां जदी देखस्यां—स्फुट, बूड़ेला बुध वायरा, जल बिच छोड़ जहाज हरिरस[3] ।

(ई) पूर्व कालिक क्रिया के रचनार्थ अंत में इ, अ, य, नइ, नै, एवि, एविय, करि, र और ह प्रभृति प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है, यथा—ठानि, मारिअ, बहिय, बांचीनइ, लिखनै, प्रणमेवि, पणमेविय, ढोढ़िकरि, जायर और भरेह[4] ।

(उ) आज्ञार्थ कियाओं के रूप का निर्माण करने के लिये क्रिया के अंत में वै और जै प्रत्यय लगाये जाते हैं, जैसे—लिखावै और पेखिजै[5] ।

(७) अव्यय के भिन्न-भिन्न रूपों के उदाहरण नीचे संक्षेप में दिये जाते हैं:—

(अ) क्रिया विशेषण—(क) कालवाचक (यथा) परभातइ (सं० प्रभात), रातइ (सं० रात्रि), अज्ज (सं० अद्य), कालिह (सं० कल्ले), पुणि (सं० पुनः)। (ख) स्थानवाचक (यथा) दूरइ (सं० दूरे), तठै (सं० तत्र), अनेठि (सं० अन्य स्थाने), पाखलि (सं० पक्षे), बीची (सं० वर्त्मनि) । (ग) रीतिवाचक (यथा) जेण (स० येन), जथा (स० यथा), साचेई (सं० सत्यकेन), अवस (सं० अवश्य), अउझ-

---

१—वही, पृ० ४५-४६, वही पृ० १६७—१६८, रा० भा० पृ० २६-३० ।

२—रा० भा० सा०, पृ० ४५-४६, ना० प्र० प० भाग १४, पृ० १६७ व १६८-६६ ।

३—वही, पृ० ४६-४७, वही, पृ० १६७ ।

४—वही, पृ० ४७, वही, पृ० १६६ ।

५—वही, ।

कइ (सं० अचानक)। (घ) परिमाणवाचक (यथा) घणौ (घना), थोड़ौ (थोड़ा), अत (अति), कित्तौ (कितना), उत्तरौ (उतना) आदि[१]।

(आ) सम्बन्धबोधक (यथा) असन्न (पास), आगा (आगे), ओले (आड़ में), नेड़ि (पास), साम्हा (सामने), साटइ (बदले)[२]।

(इ) समुच्चयबोधक (यथा) अर (और), भावई (चाहे), खड़ा (चाहे), नवि (नहीं तो), किना (या), का (कि, या)[३]।

(ई) विस्मयादिबोधक (यथा) हइ हइ (हे हे, अरे अरे, हाय हाय), हुउ हुउ (हो हो, अरे अरे, हाय हाय), रह रह (चुप चुप) परिहां (पर हां)[४]।

३७२—ङ. वाक्य रीति सम्बन्धी विशेषतायें[५]

(१) उक्तिवाचक क्रियाओं का अन्वय डिंगल में चतुर्थी से होता है।

(२) सकर्मक क्रिया के अतीत काल में, जो भावे प्रयोग होती है, जब कर्म को संप्रदान बना दिया जाता है तब क्रियापद कर्तृ-निरपेक्ष तथा कर्म-निरपेक्ष रहता है। डिंगल में दोनों रीतों का प्रचलन उसकी विशेषता है।

(३) नञर्थक अव्यय का प्रयोग डिंगल में कभी क्रिया के पूर्व और कभी पश्चात् होता है।

१—वही, पृ० ४७-४८, ढो० मा० दू० (भू०), पृ० १६३-४, ना० प्र० प० भाग १४ पृ० १६३-६५।

२—ढो० मा० दू० (भू०)।

३—वही।

४—वही—(विशेष परिहां एक अर्थहीन अव्यय है जो कि चंद्रायणा छंद के चतुर्थ चरण के पूर्व संयुक्त कर दिया जाता है।

५—रा० भा० सा० पृ० ३२।

अध्याय ६

ऐतिहासिक सामग्री की परीक्षा

३७३—डिंगल साहित्य के शोधकार्य का एक और अन्य पक्ष भी है और वह है ऐतिहासिक। इस दृष्टि से डिंगल का साहित्य अत्यंत महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। अतएव इतिहासकारों का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकृष्ट कर देना अनुचित न होगा। डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने 'भारतीय इतिहास काँग्रेस' के एक अधिवेशन में सभापति के पद से भाषण देते हुये कहा था कि "राजपूताना······ के इतिहास लेखकों ने, उन स्पष्ट लाभों को बिना प्राप्त किये हुये जो कि मुसलमान इतिहासकारों ने मुसलमानी इतिहास के विद्यार्थियों को प्रदान किया है, अपेक्षाकृत अधिक ध्यान आकर्षित किया है और एक बड़ी मात्रा में नींव डालने का कार्य किया जा चुका है और किया जा रहा है[1]।" डा० त्रिपाठी के इस कथन के साथ लेखक इतना और संयुक्त कर देना चाहता है कि अभी इस दिशा में पर्याप्त कार्य करने की अपेक्षा है।

३७५—अद्यावधि मुगल साम्राज्यकालीन अथवा उत्तरमध्यकालीन जितने भी इतिहास ग्रंथ लिखे गये हैं, उनमें से अधिकांश मुसलमान इतिहास लेखकों द्वारा लिखित हैं अथवा उन पर आधारित हैं। इस दिशा में राजस्थान के साहित्य, विशेषतया डिंगल और राजस्थानवासी इतिहासकारों तथा साहित्यकारों की रचनाओं से लगभग कोई सहायता नहीं ली गई है। अतः, प्रचलित इतिहास ग्रंथों की सामग्री को एकांगी ही कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इसका प्रधान कारण, जैसा कि डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने कहा था, यह है कि "उपलब्ध इतिहास सम्बन्धी हस्तलिखित पुस्तकें अभी सब प्रकाशित नहीं हुई हैं और न उन पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ ही लिखी गई हैं[2]।" केवल थोड़े से एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, नागरी प्रचारिणी सभा तथा राजस्थान के तथा अन्य कुछ प्रकाशन जिनकी संख्या अत्यन्त सीमित है, उपलब्ध होते हैं। डा० त्रिपाठी के शब्दों में विश्वसनीय ऐतिहासिक

१—रजिस्ट्रांस आव् दि इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, पांचवां (हैदराबाद) अधिवेशन १६४१, पृ० २८३।

२—वही, पृ० २८५।

रचनाओं तथा सामग्री सम्बन्धी पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशन को प्रोत्साहित करने के लिये तुरन्त कुछ करना चाहिये'।[1]

३७५—इसके पूर्व की डिंगल पद्य साहित्य सम्बन्धी ऐतिहासिक सामग्री पर कुछ प्रकाश डाला जाय, वर्तमान ऐतिहासिक सामग्री के विवेचन सम्बन्धी दृष्टिकोण पर थोड़ा प्रकाश डाल देना अनपेक्षित न होगा। वर्तमान समय से कुछ समय पूर्व 'इतिहासकार उनके जातिगत विचारों को, जिनमें कि वे रहते और कार्य करते हैं, परिशुद्ध करने के स्थान पर सामान्यतया उल्लेख मात्र किया करते थे'[2]। मामसन ने लिखा है कि "इतिहास बिना प्रेम अथवा घृणा के न तो लिखा जाना चाहिये और न निर्मित किया जाना चाहिये। हम जानते हैं कि अधिकतर स्थितियों में व्यक्तिगत अनुभूति की तीव्रता ने जो कि देशभक्ति और राजनीति से अविच्छेद्य है, इतिहास को अपना निश्चित बौद्धिक, नैतिक और भावात्मक विशिष्टता का गुण प्रदान किया है और साथ ही सत्य, शुद्ध और अविच्छिन्न इतिहास लेखन पद्धति के विकास में दुर्जय विघ्न रहा है[3]।" किन्तु वर्तमान समय में इतिहास लेखन की पद्धति तथा ऐतिहासिक सामग्री के मूल्यांकन का दृष्टिकोण वस्तुतः पर्याप्त रूप से परिवर्तित हो गया और हो रहा है।

३७६—जैसा कावेल ने लिखा है "............अब मनुष्य केवल अनन्त कहानियाँ सुनने से सन्तुष्ट नहीं होते, वे जानना चाहते हैं कि किस प्रकार कहानियाँ परस्पर एक सूत्रित हैं, दृश्यों में प्रदर्शित पात्र अथवा घटनाओं में वर्णित पात्रों की अपेक्षा, दूसरों के लिये बृहत्तर विशिष्टता क्या है, जिस संसार में वे स्वयं निवास कर रहे हैं, उससे सम्बद्ध मानवीय स्वभाव के विभिन्न अंगों पर वे भूतकालिक व्यक्ति और घटनायें सामान्यतया क्या प्रकाश डालते हैं[4]।" सोमरवेल के कथनानुसार "..........ऐतिहासिक अध्ययन का बोधगम्य अंग न तो राष्ट्र है न राज्य (माप के दूसरे सिरे पर) न तो पूर्ण रूप में मानवता है, वरन् मानवता का कोई अमुक दल है

१—ट्रांजैक्शंस आव् दि इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, पांचवां (हैदराबाद) अधिवेशन १९४१ पृ० २८५।

२—डी० सी० सोमरवेल—आर्नल्ड जे० टायनबी कृत—ए हिस्ट्री आव् हिस्ट्री वा० १-६ का संक्षिप्त संस्करण, सन् १९४६ ई०, पृ० १।

३—ट्रांजैक्शंस आव् दि इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, पांचवां (हैदराबाद) अधिवेशन, १९४१ ई०, पृ० ६४ प्रो० सी० एस० श्री निवासाचारी का भाषण।

४—एफ० आर० कावेल—हिस्ट्री आव् सिविलिजेशन एंड कल्चर, १९५२ ई०, पृ० १।

जिसे कि हम समाज कहते हैं'[१] । कार्ल लोविथ ने इतिहास के लक्ष्य की ओर संकेत करते हुये कार्ल मार्क्स के शब्दों में लिखा है कि "समस्त इतिहास एक आर्थिक कार्य प्रणाली में निमग्न है जो कि विश्व के अंतिम आंदोलन और विश्व के नवीन करण की ओर गतिशील है[२] ।" सोरोकिंस के दृष्टिकोण से इतिहास 'सामाजिक विकास का नव सिद्धांत है'[३] । अतएव कावेल के शब्दों में कहा जा सकता है कि "......... आवश्यकता यह है कि हमारे इतिहास के अध्ययन सम्बन्धी दृष्टिकोण में एक परिणति हो । हमें उन सांस्कृतिक व्यवस्थाओं, जो कि हमारी अपनी व्यवस्था से विलग है, के बिचित्र मूल्यों से, उन्हें समझने का प्रयत्न करके अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना है[४] ।" क्योंकि 'भूतकाल की अस्पष्ट घटनाओं की आशा' जो कि इतिहास का क्रियात्मक मूल्य है, 'वर्तमान को प्रकाशमान कर सकती है'[५] ।

२७७—वर्तमान समय में इतिहास का अध्ययन किस ढंग से होना चाहिये, इस विषय पर स्वर्गीय प्रो० श्री निवासचारी ने अपने एक भाषण में कुछ समय पूर्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किया था। उनके अनुसार 'आज की अविलम्ब्य आवश्यकता यह है कि वह सामग्री, जो कि इस प्रकार से संग्रहीत हो गई है, उसकी शुद्ध, निष्पक्ष और न्यायोचित व्याख्या, तथा उसके अनेकांश जो कि अब भी पुनर्व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं, होना चाहिये[६] । 'निष्पत्तियों का प्रासाद यथासंभव सर्वाधिक पूर्ण और अविधारित आधारों पर निर्माण करना चाहिये'[७] । 'वास्तविक इतिहास को व्यापक होना चाहिये, केवल राष्ट्र की सीमाओं तक ही नहीं, वरन् उसे विशेष रूप से संस्कृतियों के चित्रण, उनके अभ्युत्थान तथा अपकिरण जो कि महाद्वीप तक ही नहीं वरन् अन्तर महाद्वीपों तक भी विस्तृत होना चाहिये' । 'प्रत्येक युग का अध्ययन, न केवल उसके प्राकृतिक और वस्तुगत (भौतिक) अवयवों वरन् उसके सांस्कृतिक और नैतिक जीवन को ध्यान में रखकर करना चाहिये और इतिहास लेखक का मुख्य कार्य

१—आर्नल्ड जे० टायनबी—ए स्टडी आव् हिस्ट्री (डी० सी० सोमरवेल के वा० १-६ का संक्षिप्त संस्करण) पृ० ११, १९४६ ई० संस्करण ।

२—कार्ल लोविथ—मीनिंग इन हिस्ट्री, पृ० ३३ ।

३—एफ० आर० कावेल—हिस्ट्री सिविलिज़ेशन एंड कल्चर, पृ० ७, १९५२ ई० संस्करण ।

४—वही, पृ० ७ ।

५—वही, पृ० १ ।

६—ट्रांज़ैक्शंस आव् दि इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस पांचवां (हैदराबाद) अधिवेशन, १९४१ ई०, पृ० ६२ ।

७—वही, पृ० ६३

इतिहास को यथासंभव मूर्त्तिमान और सजीव वास्तविकता, जिसमें कि उपचार के क्षेत्र की वास्तविकता और न्यायोचित तथा सुदृढ़ नैतिकता दोनों हो, का रूप प्रदान करना होना चाहिये'[1]।

३७८—डा० राम प्रसाद त्रिपाठी ने उपरोक्त ऐतिहासिक व्याख्या के नवीन दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुये कहा है कि "किसी भी युग अथवा समय के राजनैतिक इतिहास का समुचित मूल्यांकन संभवनीय नहीं है जब तक कि वह समाज गत आर्थिक जीवन की पृष्ठभूमि में न लिखा गया हो।...इस पृष्ठभूमि का खेदपूर्ण अभाव है। राज दरबारों के इतिहास लेखकों अथवा उनके अनुकरण करने वालों से यथेष्ट आंकड़ों के प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है। साहित्य अपने व्यापक रूप में इतिहास का उर्वर साधन है।...डा० वैंकटरमन कहते हैं कि अधिकांश प्रबंध राजनैतिक और सैनिक इतिहास की मुख्य घटनाओं का प्रसंग प्रदान करते हैं। वास्तव में वे इसके आगे भी जाते हैं और लोगों के सामाजिक और धार्मिक जीवन के विषय में मनोरंजक और लाभप्रद सूचना प्रदान करते हैं।...राजपूताना के ख्यातों......का मूल्य स्थिर किया जा चुका है। संपूर्ण देशी भाषा के साहित्य के अंतर्गत डिंगल का लगभग अन्वेषण विहीन पड़ा है[2]।"

३७९—कहना अनुचित न होगा कि देशी भाषा के साहित्य के अंतर्गत डिंगल का साहित्य भी विवक्षित है। समय की दृष्टि से डिंगल साहित्य उसी काल के अंतर्गत आता है जो कि इतिहास के अंतर्गत मुगल साम्राज्य का है। स्पष्ट शब्दों में, इस समय को दो प्रमुख सभ्यताओं और सांस्कृतियों के संधि का युग कहा जा सकता है। प्रो० श्री निवासाचारी के मतानुसार 'भारतवर्ष में इस्लाम के इतिहास और इस्लामी संस्कृति तथा हिन्दूधर्म के उनके विस्तीर्णतम आकार के अन्योन्य प्रभाव के संबंध में विद्यार्थी अनेक प्रश्नों का साक्षात्कार करता है जिनके हल की अथवा कम से कम यथार्थ व्याख्या के प्रयत्न की अपेक्षा है। मुसलमान विजेताओं और शासकों की सैनिक तथा राजनैतिक सफलतायें, मुसलमान लेखकों, कलाकारों और निर्माताओं की प्रतिभा तथा अन्य सबंधित विषय पर पर्याप्त कार्य हो चुका है किन्तु समस्या जो कि निश्चित व्याख्या की अब भी अपेक्षा रखती है वह यह है कि इस्लाम ने किस प्रकार से भारतीय जीवन के जाल में और उसके कुछ दूरस्थ अंगों में प्रवेश किया और इतिहासकारों ने विजयों, दरबार के सम्बन्धों और तलोपरिक संपर्क के अतिरिक्त मुसलमान लोगों को स्वयं उनके धार्मिक और सामाजिक जीवन में चित्रण करने के लिये क्या किया'[3]।

१—वही, पृ० ६७।

२—वही, पृ० २८७।

३—वही, पृ० ६८।

३८०—इस युग में भारतवर्ष के हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के राजनैतिक, और सांस्कृतिक जीवन के मूलस्रोत प्राप्य हैं[1]। डिंगल साहित्य को हिन्दुओं विशेषतया राजपूतों के सांस्कृतिक जीवन का एक मूलस्रोत कहा जा सकता है। जैसा कि कहा जा चुका है, इतिहास के इस साधन की ओर विद्वानों ने नहीं के समान ध्यान दिया है। यही प्रमुख कारण है कि इतिहास का विद्यार्थी न होते हुये भी लेखक ने इस दिशा में विद्वानों के ध्यान को आकृष्ट करना अपना कर्त्तव्य समझ कर इस कार्य को आंशिक अथवा अधिक स्पष्ट शब्दों में सामयिक रूप में उठाया है। प्रकाशित ग्रंथों के अभाव तथा अप्रकाशित रचनाओं के अनुपलब्ध होने के कारण लेखक ने केवल आधे दर्जन ऐसी रचनायें चुनी हैं जो कि इतिहास से सम्बन्धित हैं। ये रचनायें हैं—वीठू सूजा कृत छंद राव जैतसी, दुरसा आढा विरचित विरद छिहत्तरी, जग्गा खिड़िया विनिर्मित वचनिका राठौड़ रतनसिंह जी री महेसदासोतरी, वीर मांण रत्नू कृत राजरूपक, करणीदान कविया प्रणीत विरद शिणगार तथा कविराज बख्तावर लिखित केहर प्रकाश। इनमें केहर प्रकाश को छोड़कर अन्य समस्त पुस्तकें (ग्रंथ) रचनाओं में वर्णित प्रमुख घटनाओं के समकालीन कवियों द्वारा लिखित हैं। इन छहों रचनाओं से सम्बन्धित घटनाओं और पात्रों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इनका सम्बन्ध हिन्दुओं—विशेषतया राजपूतों और मुसलमानों—विशेषतया मुगलों (केहर प्रकाश को छोड़कर) से है। इनका विस्तृत परिचय रचनाओं की ऐतिहासिक परीक्षा के अंतर्गत दिया गया है। इन रचनाओं का तद्गत परिचय प्रस्तुत करने के पूर्व हम सार किन्तु स्पष्ट रूप में यह संकेत करेंगे कि किस प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री उनमें प्राप्त होती है।

३८१—छंद राव जैतसी की प्रमुख घटना, जो कि राव जैतसी के कामरां को पराजित करने से सम्बन्धित है, पूर्ण रूप से इतिहास सम्बन्धी नवीन सूचना है। मुसलमान इतिहासकारों ने इसका कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। इस सम्बन्ध में लेखक इतना विशेष बल देकर कहना चाहता है कि इस घटना के संघटित होने में किंचित् मात्र भी संदेह के लिये स्थान नहीं प्रतीत होता क्योंकि रचयिता स्वयं राव जैतसी का समकालीन था और यह अनुमान करना कि उसने कल्पना के आधार पर इस प्रकार की घटना को गढ़ दिया हो, समीचीन और न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता।

३८२—विरुद छिहत्तरी में विशिष्ट रूप से हल्दीघाटी में होनेवाले अकबर तथा प्रताप के युद्ध का उल्लेख है[2]। इस युद्ध के परिणाम के सम्बन्ध में मुसलमान

१—वही, पृ० २८८।
२—वि० छं०, छं० सं० ३०।

इतिहासकारों का मत यह है कि अकबर विजयी हुआ था[1]। दुरसा जी के अनुसार इस मत का खंडन-सा हो जाता है। अस्तु, इस युद्ध के परिणाम के सम्बन्ध में पुनर्व्याख्या की अपेक्षा प्रतीत होती है। यह एक निस्संदिग्ध सत्य है कि महाराणा प्रताप को अकबर कभी भी अपने अनुशासन में नहीं ला सका। अकबर की इस असफलता का क्या कारण था, इस विषय पर भी परोक्षरूप में इस रचना से प्रकाश पड़ता है। इसका प्रथम कारण अकबर के सैनिकों का उदयपुर और मेवाड़ के प्रदेशों से अपरिचित होना था और द्वितीय यह कि महाराणा प्रताप शाही सेना पर अधिकतर छापा मारकर उन्हें क्षति पहुँचाया करते थे। इसकी पुष्टि राजरूपक के तत्सम्बन्धी प्रासंगिक उल्लेख से भी होती है[2] जो कि इस संबंध में विशेष महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त विरुद छिहत्तरी से तत्कालीन हिन्दू राजाओं की निर्बलता, पारस्परिक कलह और वैमनस्य, स्वतंत्रता के मूल्य को न समझना प्रभृति प्रवृत्तियों पर भी प्रकाश पड़ता है।

३८३—वचनिका राठौर रतनसिंह जी री महेसदासोतरी की मुख्य घटना महाराजा जसवन्त सिंह, जो कि शाहजहाँ की ओर से नियुक्त थे, तथा औरंगजेब और मुराद के बीच होने वाला उत्तराधिकार का युद्ध है। वचनिका के द्वारा यह विशेष सूचना मिलती है कि जसवंतसिंह के रण से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् रतलाम नरेश रतनसिंह ने शाही सेना का नेतृत्व किया था। इस ऐतिहासिक सत्य का किसी मुसलमान इतिहासकार ने उल्लेख नहीं किया है। वस्तुतः उक्त रण से संबंधित यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं नवीन सूचना है। इसके अतिरिक्त अनेक विशिष्ट राजपूतों के नाम, सती प्रथा, मृत्यु के पश्चात् जीवन आदि के विषयों पर भी इस रचना द्वारा विशेष प्रकाश पड़ता है जो कि सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

३८४—राजरूपक को तो स्वयं एक इतिहास ग्रंथ कहा जा सकता है। इसमें एक ओर जोधपुर के नरेशों—जसवंतसिंह की मृत्यु, अजीतसिंह का सम्पूर्ण जीवन तथा अभय सिंह का आंशिक जीवन, तथा दूसरी ओर औरंगजेब से लेकर मुहम्मदशाह तक का इतिहास है। संक्षेप में इसे सन् १६७८—१७३० ई० तक का मुगलकालीन इतिहास कहा जा सकता है। इस रचना से सुव्यक्त है कि मुगलों के शासनकाल में राजपूतों का शासन तक में विशिष्ट स्थान था। महाराजा अजीत सिंह ने तो फर्रुखसियर तथा राजरूपक के अनुसार रफी उद्दरजात, रफीउद्दौला और मुहम्मदशाह को सिंहासनासीन एवं पदच्युत कराने में भी विशेष भाग लिया था।

१—कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव् इंडिया वा० २, पृ० ११५-६, मुंतखबुतवारीखि वा० २, पृ० २३३-४३।

२—राजरूपक, पृ० ५५५।

इसी प्रकार महाराजा अभयसिंह ने शासन की ओर से गुजरात के प्रांतपति सरबुलंदखाँ का दमन करने में विशेष रूप से कार्य किया था। रचना की एक प्रमुख विशेषता, समस्त घटनाओं की तिथियों का उपलब्ध होना है। इस रचना के द्वारा तत्कालीन सांस्कृतिक और नैतिक पक्ष पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

३८५—कविया करणीदान कृत विरद शिणगार में महाराजा अभयसिंह द्वारा सरबुलंदखां के दमन किये जाने का इतिवृत्त है। यह रचना विशेष प्रकार से अभयसिंह को सुनाने के उद्देश्य से लिखी गई थी। इसका वृहद् स्वरूप कवि के सूरज प्रकाश में उपलब्ध होता है। सूरज प्रकाश में भी राजरूपक में वर्णित ५२ वर्षों की घटनाओं का सविस्तार वर्णन है। सूरज प्रकाश के उपलब्ध न हो सकने के कारण लेखक तद्गत सामग्री का विश्लेषण नहीं कर सका तथापि उसका व्यक्तिगत अनुभव यह है कि दोनों रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन तत्कालीन ऐतिहासिक सामग्री के शोत्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रमाणित हो सकता है।

३८६—केहर प्रकाश समकालीन कवि की रचना तो नहीं है फिर भी उससे केहरसिंह के पूर्वजों तथा गुजरात के प्रांतपति मुहम्मदशाह जो कि अपने पिता सुलतान अहमदशाह की मृत्यु (सन् १४४१ ई०) के पश्चात् गुजरात का शासक हुआ था—की मृत्यु पर ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष प्रकाश पड़ता है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि कामिनियों के कारण भी राजाओं में प्राय: युद्ध हो जाया करते थे। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक एवं नैतिक दृष्टि से भी इस रचना द्वारा महत्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त होती हैं।

३८७—ये तो हुई प्रत्येक रचना में प्राप्त सामग्री संबंधी बानगी। इसके अतिरिक्त इन रचनाओं के द्वारा राजनैतिक, सामाजिक, व्यक्तिगत, धार्मिक, थोड़ा बहुत दार्शनिक, आर्थिक, नैतिक, शैक्षणिक आदि संस्कृति के विभिन्न अंगों पर प्रकाश पड़ता है जिसका विवेचन नीचे दिये हुये प्रत्येक रचना संबंधी विश्लेषण में देखा जा सकता है।

राव जैतसी रो छंद

३८८ मुख्य ऐतिहासिक घटना—संक्षेप में इस रचना में वर्णित मुख्य ऐतिहासिक घटना बीकानेर के राव जैतसी की कामरान पर विजय है। सम्पूर्ण घटना का वर्णन ग्रंथ में छंद संख्या १४२-३६६ के अंतर्गत हुआ है। इस घटना का विशेष महत्त्व, जैसा कि डा० एल० पी० टेसीटरी ने कहा है, इसलिये है कि बाबर के पुत्र कामरान अथवा कामरो की पराजय का उल्लेख मुसलमान इतिहासकारों ने बिलकुल नहीं किया है। यह घटना भारतवर्ष के इतिहास में एक छोटे से रिक्त स्थल की पूर्ति करने का श्रेय प्राप्त करने की अधिकारी है।[1]

चूँकि मुसलमान इतिहासकार, और (फलस्वरूप) इनके इतिहास ग्रंथों को आधार स्वरूप मान कर अपने इतिहास ग्रंथों को लिखने वाले भी, कामरान की पराजय के विषय में मौन हैं, इसलिये इस घटना की प्रामाणिकता पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। वीठू सूजा के अनुसार घटना की तिथि निम्न है :—

पनर समत अेकाणव पवखरि
पुणि मागसिरि प्रथम पखि पूंवरि
इठमल हइवइ सउं हथियारे
विढियउ जइत चउथि सिनिवारे ॥३७१॥

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, इस नाम का एक अन्य ग्रंथ, जिसके रचयिता का नाम अज्ञात है, भी मिलता है। उसमें भी उपरोक्त तिथि मिलती है। केवल दिन शनिवार के स्थान पर रविवार मिलता है—

पिड रवि वासरि क्रिसन पखि
निय तिथि चउथिं निमन्धि।[2]

जैसा कि इस सम्बन्ध में डा० टेसीटरी का मत है, 'यह मान कर कि प्रथम (वीठू सूजा) महत्वपूर्ण रात्रि के पहले आने वाले दिन को और द्वितीय (अज्ञात नाम कवि) इसके बाद आने वाले दिन को समझते थे, इस त्रुटि का स्पष्टीकरण किया जा सकता है'[3]।

१—रा० जै० छं० भू०, पृ० १।

२—अज्ञात कवि—छं० रा० जै०, छं० सं० ४५५।

३—रा० जै० छं० की भू०, पृ० ११।

दयालदास की ख्यात में वि० सं० १५६५ आश्विन सुदि ६ (ई० सं० १५३८ ता० २६ सितम्बर) को रात्रि के समय राव जैतसी का कामरां की फौज पर आक्रमण करना लिखा है।[1] किन्तु जैसा डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का मत है, इस सम्बन्ध में बीठू सूजा का कथन ही अधिक विश्वास योग्य है क्योंकि उसने उक्त घटना के कुछ समय बाद ही अपना ग्रंथ रचा था।[2] इसके अतिरिक्त छप्पय कवित्तों में दो तात्कालिक रचनायें गौण महत्व की उपलब्ध हैं जो कि इसी प्रकार उस युद्ध, जिसमें कि जैतसी ने कामरान को पराजित किया था, का स्मरणोत्सव करती हैं। एक गोरो तथा दूसरी सिवो[3], कदाचित बीकानेर के दो समकालीन चारणों द्वारा लिखित हैं। किन्तु, जैसा कि साधारणतया तात्कालिक स्मरणोत्सव सम्बन्धी गीतों में हुआ करता है, ये दोनों रचनायें मुख्य अभ्युक्ति के अतिरिक्त कि जैतसी ने कामरान को हराया था, कोई भी ऐतिहासिक सूचना नहीं देती। ये दोनों रचनायें पिंगल में है.........।[4]

डा० ईश्वरी प्रसाद के अनुसार हुमायूँ ने गद्दी पर बैठने के बाद कामरान को काबुल और कंधार के इलाके सौंपे थे[5]। रा० जै० छं० के अनुसार बाबर की मृत्यु के उपरांत उसके पुत्रों ने उसके विजित स्थलों को उत्तराधिकार में प्राप्त किया। कामरान लाहौर में स्वतंत्र शासक बन बैठा। उसने देखा कि बीकानेर को छोड़कर पड़ोस की बहुत सी भूमि उसके अधिकार में है। जब कि हिंदुस्तान के समस्त राजे महाराजे मुगलों को समादर भेंट देने आते हैं, बीकानेर का राव जैतसी अपराजित और असंबंद्ध रहता है।[6] कवि के द्वारा वर्णित परिस्थितियों की वास्तविकता पर विचार करने पर यह स्पष्ट सा हो जाता है कि कामरान का राव जैतसी को अपने सम्मुख नतमस्तक देखने की इच्छा करना असंभव न था क्योंकि वह विजय सुलभ समझता रहा होगा। इस घटना की ओर इतिहासज्ञों का ध्यान नहीं गया है।

विद्वानों ने कामरान के बीकानेर पर आक्रमण करने के विभिन्न कारण प्रस्तुत किये हैं,[7] किन्तु उनमें अवास्तविकता और ऊहा-पोह की मात्रा ही विशेष

१—दयालदास की ख्यात, जि० २, पृ० १४।

२—ओझा—बी० रा० इ०, भाग १, पृ० १३१-१३२ (पा० टि०)।

३—जे० ए० एस० बी०, न्यू सीरीज १३, १६१७ इ०, पृ० २४२-४३।

४—वही, पृ० १२।

५—डा० ईश्वरीप्रसाद—लाइफ ऐंड टाइम्स आव् हुमांयू, पृ० ४२। टामस विलियम बील—ऐन ओरिएंटल बायोग्राफिकल डिक्शनरी, पृ० २०८ भी देखिये।

६—छं० रा० जै०, सं० १४२-४४।

७—डा० टेसीटरी—रा० जै० छं० भू०, पृ० १३। मु० नै० ख्या० जि० २, पृ० १६२-१६३, द० ख्या० जि० २, पृ० १४ इत्यादि।

प्रतीत होती है, अस्तु, इतिहास के नाते वे विचारणीय नहीं हैं।

डा० एल० पी० टेसीटिरी के शब्दों में 'इस राज्य के विरुद्ध कामरान द्वारा किये गये आक्रमण तथा राव जैतसी के हाथों से उसकी पश्चाद्वर्ती पराजय संबंधी बीकानेर की चारणों और ऐतिहासिक साहित्य द्वारा प्रस्तुत की गई सूचना की परिशुद्धि के संबंध में किसी भी प्रकार के संदेह, जो कि संभवतः किया जा सकता था, को दूर करने के लिये इस प्रकार पर्याप्त समकालीन प्रमाण उपलब्ध है। द्वितीय घटना के लिये दोनों छंदों में प्रदान की गई तिथि सन् १५३४ ई० (संवत् १५६१) उस समय के अंतर्गत पड़ती है जब कि कामरान, जैसा कि हम मुसलमानी इतिहास ग्रंथों के द्वारा जानते हैं अपने को पंजाब में संगठित कर रहा था। बीकानेर साधनों द्वारा हम जानते हैं कि बीकानेर पंजाब सिवान का महत्त्वपूर्ण गढ़ भटनेर राव जैतसी के एक सामंत खेतसी अराड़कमालोत के द्वारा सन् १५२६ ई० (संवत् १५८३) अथवा उसके आसपास खेतसी के अधिमिलन के कुछ समय पश्चात् जीता जा चुका था। स्वभावतया, कामरान राठौड़ को भटनेर से निकाल देने के लिये उत्सुक अवश्य हुआ होगा और इस कार्य को संपन्न करने के बाद उसने कदाचित् अपनी युद्ध यात्रा दक्षिण की ओर अविरत रखा होगा और बीकानेर पर ऐसा प्रहार करने को सोचा होगा जिससे कि राठौड़ अपने खोये हुये राज्य को पुनः विजय करने का प्रयत्न न करें। यद्यपि वह बीकानेर के युद्ध में हारा और वहाँ के किले से शीघ्रता पूर्ण पलायन के लिये विवश हुआ किन्तु वह अपने उद्देश्य में पूर्णतया असफल नहीं हुआ क्योंकि भटनेर उसी के हाथों में रहा और राठौड़ उसे पुनर्विजय करने में अनेक वर्षों तक असफल रहे। प्रश्न शेष यह रहता है कि क्या कामरान ने व्यक्तिगत रूप में भटनेर और बीकानेर के विरुद्ध अपनी सेना का नेतृत्व किया था। काव्य के शाब्दिक व्याख्या से यह प्रतीत होता है कि उसने ऐसा ही किया था। किन्तु इस प्रकार के मामले में शाब्दिक अर्थ ग्रहण करना भ्रमात्मक हो सकता है क्योंकि चारणों का यह सामान्य अभ्यास है कि वे शत्रु सेना का महत्त्व न केवल उसकी संख्या में अभिवृद्धि कर वरन् उसके अध्यक्ष के पद और प्रभुत्त्व को बढ़ाकर बताते हैं। इस प्रकार से यदि अकबर के समय का एक राजपूत प्रधान उसके द्वारा भेजी हुई टुकड़ी को हराकर अपनी आज्ञापरायणता में परिवर्तित कर देता है तो उसके चारण नियम की तौर पर उसे अकबर का हराने वाला कहकर प्रशंसा करेंगे[1]।

वास्तविकता यह है कि वीठू सूजा कामरान की सेना के एक प्रधान के रूप में प्रतीयमानतः दो बार आलम साहि का उल्लेख करता है। यदि कामरान ने व्यक्तिगत रूप में अभियान का पथ प्रदर्शन न किया होगा, तो आलम साहि

१—टेसीटरी—रा० जै० छ० (भू०) पृ० १२-१३।

ही कदाचित् सेना का अध्यक्ष था[1]। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि बाद की बीकानेरी परम्परा ने कामरान के ऊपर की गई राव जैतसी की विजय को अधिक अलंकृत और भ्रान्तिपूर्ण भी कर दिया हो[2]।

यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जैसे विद्वान् राजपूताना के इतिहासकार ने बीकानेर राज्य के इतिहास में कामरां से जैतसी के युद्ध को पूर्णतया आधारित कर लिखा है और इस घटना की समालोचना करते हुये स्पष्ट कहा है कि "वीठू सूजा के कथन में अतिशयोक्ति अवश्य पाई जाती है, परन्तु मूल कथन विश्वसनीय है[3]। डा० टेसीटरी के कथनानुसार यह ग्रंथ उक्त घटना से लगभग एक वर्ष पीछे लिखा गया था, इसलिये इसका अधिकांश ठीक होना चाहिये[4]।"

३८६—रा० जै० छ० में उपरोक्त मुख्य घटना के अतिरिक्त बीकानेर के पूर्वजों से संबंधित कुछ घटनाओं पर भी गौण रूप से तथा संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। अस्तु, इन पर भी विचार करना अपेक्षित है।

गौण-घटनायें—

क. यह घटनायें चूंडा से संबंधित हैं तथा छं० सं० २—२० तक के अंतर्गत वर्णित हैं। वीठू सूजा के अनुसार महेवा के रावल से सालवड़ी (डा० टेसीटरी के अनुसार जोधपुर के उत्तर पश्चिम में १६½ मील पर स्थित हालोड़ी)[5] का चौथ प्राप्त कर पैतृक संपति विहीन चूंडा ने अपने को मांडोर (मंडोवर) का अधिपति बनाया और राव की उपाधि ग्रहण की। बाद में उसने नागोर हस्तगत किया तथा उत्तर पूर्व में मोहिलों के प्रदेश का अधिकांश भाग अपने अधिकार में किया। किन्तु जैसे ही वह उन्नति के शिखर पर पहुँचा मुलतान के शासक खिज्र खाँ (खिदिर खाँ),[6] पूगल के राव और जागंलू के सांखलों ने नागोर में उस पर अकस्मात

१—वही, पृ० १३ (पादटिप्पणी)। इस समय के आसपास आलमशाह नाम का कोई व्यक्ति इतिहास में नहीं मिलता। संभवतः यह आलम खां, इब्राहीम का चाचा अथवा बहादुर का आफिसर हो जिसे हुमांयू ने बुलाया था।

२—वही, पृ० १३।

३—ओझा—बी० रा० इ०, पृ० १३२।

४—डा० टेसीटरी—रा० जै० छं० (भू०) पृ० २।

५—अ० रा० जै० छं० सं० ११।

६—संभवतः यह सैयद खिज्र खां (समय सन् १४१४ ई० के लगभग हो) हिस्ट्री आव् दि राइज़ इन मोहमडन पावर इन इंडिया—अनुवादक ब्रिग्स, वा० १, सन् १८२६ ई०।

आक्रमण कर दिया और फल स्वरूप चूंडा मारा गया।[1]

राजपूताना के प्रसिद्ध इतिहासलेखक डा० ओझा ने कथित घटनाओं में केवल मंडोवर के इंदा पड़िहारों (प्रतिहारों) से उनका इलाका (मंडोवर) दहेज में पाकर, 'अपने वंशजों के लिये मंडोवर का राज्य स्थापित करने', मुसलमानों के अधिकृत प्रदेश पर आक्रमण कर नागोर पर भी अधिकार करने तथा अंत में 'मुसलमानों के साथ की लड़ाई में' मारे जाने का उल्लेख किया है[2]। शेष घटनायें तथा उनके विस्तार नवीन सूचनायें हैं।

ख. ये घटनायें चूंडा के पुत्र रणमल से संबंधित हैं[3]। सूजा के अनुसार रणमल चित्तौड़ के राणा मोकल की सहायता से मंडोवर और सोझत (अरावली के उत्तर पश्चिम का महत्वपूर्ण दुर्ग) पर अधिकार करने में सफल हुआ। रणमल की मृत्यु अत्यन्त दुर्भाग्य पूर्ण हुई क्योंकि चित्तौड़ के तानाशाह कुंभा ने सोते समय उसे कत्ल करा दिया तथा उसके पुत्र जोधा को भी उत्तराधिकार से वंचित किया।

रणमल ने किस प्रकार राज्याधिकार प्राप्त किया यह एक इतर कथा है जिसका उल्लेख डा० ओझा ने किया है[4]। उनके अनुसार 'रावरणमल ने मेवाड़ में जाकर आततायियों को दंड दिया'[5] था। किन्तु सूजा के द्वारा उल्लिखत राज्य विस्तार पर ओझा जी ने कोई प्रकाश नहीं डाला। यह कदाचित् अतिरिक्त ऐतिहासिक सूचना है। हाँ, डा० ओझा ने भी सीसोदियों के द्वारा महाराणा कुंभा (कुंभकर्ण इनका अधिनायक तथा मेवाड़ का स्वामी था) वि० सं० १४९६ (ई० स० १४३९) से पूर्व रणमल के मरवा देने का उल्लेख किया है[6]।

ग. ये घटनायें रणमल के पुत्र जोधा से संबंधित है[7]। जोधा ने मरुभूमि की एक झोपड़ी में रह कर महाराणा कुंभा से प्रतिकार लेने के लिये युद्ध की सामग्री का संयोजन किया है और एक-एक करके चित्तौड़ के गढ़ों को विजय करने के उपरान्त मेवाड़ पर आक्रमण कर उसे भी विजय किया है तथा इस प्रकार पिता की मृत्यु का बदला चुकाया। संसार के रंगमंच से विदा लेने के पूर्व वह फतेहपुर[8] में पठानों के ऊपर विजय प्राप्त कर अधिक यशस्वी होता है।

१—ओझा—बी० रा० इ०, पृ० ८०-८१।

२—रा० जै० छं०, छं० स० २१-२४।

३—बी० रा० इ०, पृ० ८१।

५—वही।

६—वही, पृ० ८२।

७—रा० जै० छं०, छं० स० २५-३७।

८—"कहते हैं, फतनखाँ ने वि० सं० १५१० (ई० सन् १४५३) में अपने नाम पर यह नगर बसाया था।" रेऊ—मा० रा० इ०, भाग १, पृ० १००।

जोधा जी के विषय में दिया गया रा० जै० छं० का इतिवृत्त अत्यन्त संक्षिप्त है। डा० ओझा ने बीकानेर राज्य के इतिहास में जोधा जी के संबंध में भी थोड़ा सा उल्लेख किया है जिसमें मुख्य घटनायें मेवाड़वालों से उनका बच निकलना, सन् १४५३ ई० में सीसोदियों से मंडोवर का राज्य छीन लेना और सन् १४५९ ई० में जोधपुर नगर बसाकर पहाड़ी पर दुर्ग बनवाकर अपनी राजधानी स्थिर करना और राज्य विस्तार करना है[1]। विश्वेश्वर नाथ रेऊ ने मारवाड़ के इतिहास में लिखा है कि महाराणा कुंभा को विवश होकर जोधा जी से संधि करनी पड़ी[2] तथा उनके विवरण से भी जोधा जी से संबंधित सभी इतिवृत्तों की पुष्टि होती है[3]। लेखक के निरीक्षण के अनुसार सूजा जी द्वारा प्रस्तुत किये गए जोधा जी संबंधी विवरण में विशेष ध्यान देने की बात यह है कि उसमें कहीं भी किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं दृष्टिगत होती है।

घ. ये घटनायें जोधा जी के पुत्र बीका जी से संबंधित है[4] जिन्होंने कि बीकानेर राज्य के स्वतंत्र इतिहास का प्रारम्भ किया। इन्होंने अपनी मातृभूमि को छोड़कर जांगलू के सांखलों के मध्य जोधपुर की उत्तरी सीमा पर निवास करना प्रारम्भ किया। उत्तर पूर्व में शांत घाटों और मोहिलों के प्रदेश ने इनका ध्यान आकृष्ट किया। बीका ने अपना साम्राज्य विस्तार करना प्रारम्भ किया और पूगल से लेकर हिसार तथा घग्घर नदी से लेकर नागोर की सीमाओं तक थोड़े से समय में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। अपनी विजयिनी तलवार द्वारा इसने दिवरावर, मुमाण-वाहण, देपालपुर, भटनेर, विठोंडो, सरसो, हिमसार, नागड़, नरहड़ी, फतेहपुर और नागोर को विजय कर बीकानेर राज्य की स्थापना की और सन् १४८५ ई० (संवत् १५४२) में बीकानेर राजधानी की नींव डाली। उसमें मुसलमान के लंघों, झुँझाणूं के शाहों तथा अजमेर के सूबेदार से लोहा लेने की क्षमता थी।

बीका द्वारा जांगलू के साखलों के ८४ ग्रामों के विजय करने का उल्लेख इतिहास लेखकों ने किया है[5] जिससे कि बीठू सूजा के कथन की पुष्टि होती है। बीका द्वारा बीकानेर नगर बसाने की बात इतिहास प्रसिद्ध ही है जिसके संबंध में अनेक उल्लेख मिलते हैं। बीकानेर की राजधानी की नींव जैसा कि सूजा ने लिखा है और इतिहासकारों ने माना है कि, सन् १४८५ ई० (वि० सं० १५४२) में डाली

१—ओझा—बी० रा० का० इ०, पृ० ८२।
२—रेऊ—मारवाड़ का इतिहास (प्रथम भाग), पृ० ९१।
३—वही, पृ० ८३-१०२।
४—टेसीटरी—रा० जै० छं०, छं० सं० ४०-४७
५—द० ख्या०, जि० २, पृ० ३। बी० रा० इ०, पृ० ९२।

गईं तथा नगर का निर्माण सन् १४८८ ई० (वि० सं० १५४५) में हुआ[1]। डा० ओझा ने छं० रा० जै० में कहे गये वीका जी के द्वारा विजित प्रायः सभी स्थानों को स्वीकार किया है[2] तथा साथ ही साथ अन्य विजयों का भी सविस्तार उल्लेख किया है। यह कहना अनुचित न होगा कि वीका जी के संबंध में वर्णित कथनों में भी सूजा ने कोई अत्युक्ति नहीं किया है।

ङ. इसमें वीका जी के छोटे पुत्र लूणकर्ण से संबंधित इतिवृत है[3]। लूणकर्ण की सैनिक सफलताओं में एक तो नागोर के मुहम्मद खाँ का बीकानेर पर आक्रमण कर उसे पराजित किया था और उसका द्वितीय अभियान जैसलमेर के राज्य पर आक्रमण है जिसमें कि उसने भाटियों को मार भगाया था तथा वहाँ के रावत को राजधानी की चहारदीवारी के अंदर शरण लेने पर विवश कर दिया था। उसका तृतीय युद्ध जोधपुर के राव के विरुद्ध था जिसमें कि उसने नागोर के मुहम्मद खाँ के साथ भाग लिया था। इन विजयों से प्रोत्साहित होकर उसने डींडवाना विजय किया और मेवाड़ी शत्रुओं को मार भगाया, अनंतर नागोर के दौलत खाँ के साथ झुंझणूं, नरहड़ी, सिंहाणो, और नारनोल पर आक्रमण किया। किन्तु जब वह पंचेरी में था, उस समय पठानों ने उस पर धावा बोल दिया और वह अपने दो पुत्रों, प्रतापसी और वीरसी के साथ मारा गया।

डा० ओझा ने नागोर के खान की बीकानेर पर चढ़ाई तथा उसके पराजित होने की घटना को सूजा की रचना से ही ग्रहण किया है। यह घटना सन् १५१३ ई० में हुई थी[4]। जैसलमेर पर लूणकर्ण द्वारा किये गये आक्रमण का उल्लेख इतिहासकारों ने किया है[5]। उनमें घटना के विस्तार के संबंध में परस्पर मतभेद भी है जिस पर कि डा० ओझा ने अपने इतिहास में विचार किया है[6]। किन्तु जहाँ तक मूल घटना का संबंध है, समस्त विद्वान् वीठू सूजा द्वारा वर्णित

१—वही, मु० नै० ख्या०, जि० २, पृ० १६८-६६, पाउलेट—गजेटियर आव् दि बीकानेर स्टेट, पृ० ४, टॉड—दि अनल्स ऐंड एंटीक्वीटीज़ आव् राजस्थान वाल्यूम २, पृ० ११२६-३०।

२—ओझा—बी० रा० इ०, पृ० १००-१०१।

३—छं० रा० जै०, छं० सं० ५१-६३।

४—ओझा—बी० रा० इ०, पृ० ११४।

५—द० ख्या०, जि० २, पृ० ८-६। पाउलेट गजेटिर आव् दी बीकानेर स्टेट, पृ० ११-१२, जे० ए० एस० बी०, सन् १६१७-ई० पृ० २३७। ओझा—बी० रा० इ०, पृ० ११५-११६।

६—ओझा—बी० रा० इ०, पृ० ११६-११७ (पाद टिप्पणी)।

घटना से एकमत हैं। जोधपुर के राव गांगा जी के विरुद्ध नागोर के खान की सहायता करने की घटना को भी डा० ओझा ने रा० जै० छं० से ही अपनाया है[1]। इसके अतिरिक्त शेष स्थलों की लूणकर्ण द्वारा विजय को तथा नारनोल के युद्ध में उसके मारे जाने को भी डा० ओझा ने स्वीकार किया है। किन्तु उनके अनुसार लूणकर्ण अपने पुत्रों आदि के साथ ढोसी नामक स्थान पर सन् १५२६ ई० में वीरगति को प्राप्त हुआ था न कि पंचेरी में। इस कारण उन्होंने पंचेरी का उल्लेख अपने इतिहास में नहीं किया है[2]।

सांस्कृतिक पक्ष

३६०—राव जैतसी रो छंद का परिचय देते हुये डा० एल० पी० टेसीटरी ने कहा है कि "राव जैतसी के पूर्वजों के महान् कार्यों का पुनरावलोकन, जो कि रचना का परिचयात्मक अंश है, जैसा कि कोई आशा कर सकता है, अध्ययन की दृष्टि से नीरस नहीं है वरन् उसके विपरीत, विवरण की संक्षिप्तता और एक के पश्चात् दूसरी प्रमुख घटनाओं का द्रुतगामी अनुक्रम, यद्यपि सदैव उपयुक्त काल क्रमानुसार व्यवस्थित नहीं है, काव्य को एक गति प्रदान करता है जो कि विविध और मनोहर प्रतीत होता है। निस्संदेह, व्यक्तियों का स्वयं का विशिष्टता संपन्न विवरणात्मक और रोमांचक चरित्र और उनके महान् कार्य इस प्रकार की अनुमुद्रा के अंकन में सहयोग प्रदान करते हैं। यह तेजस्वी जाति की क्रमिक और साथ ही साथ आश्चर्यजनक गतिपूर्ण विजयों की कहानी है जिन्होंने कि चार पीढ़ियों के छोटे से समय में राजपूताना के रेगिस्तान का महानतम भाग—अरावली की पहाड़ियों से लेकर जैवाल के तह तक, ३०० मील के विस्तार को अपने अधिकार में करने में सफलता प्राप्त किया[3]।" कहना न होगा, कि राजपूत जाति के वीरतापूर्ण चरित्र के परिचय की दृष्टि से उपरोक्त अवतरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

राजपूत अपने आन के पक्के होते थे। युद्ध से विरत न होना और हँसते-हँसते युद्ध में अपने प्राणों का बलिदान कर देना राजपूत जाति की चरित्रगत विशेषता थी। राव जैतसी रो छंद में इस प्रकार के अनेक चरित्रों जिनमें कि चूंड़ा और लूणकर्ण विशेष उल्लेखनीय हैं, का परिचय मिलता है। 'जब कि इन असाधारण विजयों के पक्षनायक हमारे नेत्रों के समक्ष अपने कवचों में आवृत्त, एक के पश्चात् दूसरे, आते हैं तो हम कल्पना करते हैं कि हम उनके रिक्त अक्षि कूपों में उनके नयनों की ज्वाला देख सकते हैं और जिस प्रकार वे अपने मनुष्यों को आक्र-

---

१—वही, पृ० ११७।

२—ओझा—बी० रा० इ०, पृ० १२३।

३—छं० रा० जै०, पृ० १ (भूमिका)।

मण के समय प्रोत्साहित किया करते थे, उसे सुन सकते हैं'[1] । संक्षेप में हम कह सकते हैं कि राव जैतसी रो छंद अनेक राजपूत राजाओं, विशेषतया बीकानेर से संबंधित, के उत्थान, तत्संबंधी प्रयत्न और सफलतायें तथा पतन, उनकी पारस्परिक फूट, कलह और वैमनस्य, का जाज्वल्यमान इतिहास है ।

सूजा ने इसमें राजपूतों के वैभव और विलास की ओर भी संकेत किया है जिनका उल्लेख विशेषतया लूणकर्ण और राव जैतसी से सम्बन्धित अंशों में उपलब्ध होता है । 'दरबार भवन में हीरे जवाहरात जगमगा रहे हैं, चारण और गुजरात की नर्तकियां राव की उपस्थिति में विरुदावली का गान कर रहे हैं'[2] । सहदेव के सदृश बुद्धिमान् राजा राजसी-छत्र के नीचे निष्कलुष श्वेत चमरों से व्यजनित उपविष्ट हैं । दस महान् सामंत उसके द्वार पर सेवार्थ तिष्ठित हैं । बीकानेर के राजमार्गों पर इतना अधिक रेशम दृष्टि गत होता है कि जांगलू देश में काश्मीर के होने का विभ्रम उत्पन्न होने लगता है । प्रत्येक स्थान पर लालित्य और लज्जा से युक्त सुँदरियाँ दृष्टिगत होती हैं । हाट व्यापारियों और लक्षाधिपतियों से पूर्ण है[3] । यह सब देखकर राम राज्य के पुनरावतरण का आभास होने लगता है ।

कवि ने कुछ स्थलों में राजाओं की धर्म एवं दानवृत्ति की ओर भी इंगित किया है । जोधा तीर्थ यात्रा करने के लिये प्रयाग प्रभृत्ति स्थानों में गया है[4] । खेलसी तुलसी की माला पहन कर युद्ध करने के लिये प्रवृत्त होता है[5] । राजपूत सैनिक युद्ध में 'जैराम' का उच्चारण करते हैं तथा मुसलमान 'मुहम्मद' का[6] । लूणकर्ण अपने प्रजा के स्नेह को प्राप्त करने के हेतु अपनी थैली के अनुबंध खोल देता है और अकाल के समय में गरीबों को भोजन प्रदान करता है[7] ।

छंद राव जैतसी में कवि ने मुसलमान सैनिकों का सजीव चित्र खचित किया है । 'उनके मुख भयानक हैं । वे लम्बे और दृढ हैं, उनकी आकृतियाँ विशाल और विद्रुप हैं । वे लालवर्ण के हैं । उनके मुख वानरों के से हैं'[8] । एक स्थल पर कवि ने कामरां का पतित चरित्र चित्रित किया है । उसके दूत राव जैतसी के पास

१—वही, पृ० १-२ (वही) ।
२—वही, छं० सं० ५१-६ ।
३—वही, ६५-१०२ ।
४—वही, ३१-३३ ।
५—वही, १७१ ।
६—वही, ३७२-७४ ।
७—वही, ५४-५५ ।
८—वही, १४५-१५१ ।

जाकर संदेश कहते हैं कि 'एक वधू और दस करोड़ सोना लेकर कामरां के समक्ष अविलंब चलो'[1]। कहने की अपेक्षा न होगी कि यह उदाहरण उस युग के मुसलमान सुलतानों की कामुकता और अर्थ लोलुपता तथा अहमन्यता का चरम उदाहरण है।

इसके अतिरिक्त इस रचना में अश्वों की विभिन्न जातियाँ, पर्वतीय, मसकी, ततार, अरबी, खुरासानी और भकूरानी प्रभृति का उल्लेख किया गया है[2] जो कि अश्व विशेषज्ञों के लिये एक सूचना हो सकती है। इसी प्रकार एक इतर स्थल पर धनुष के तौल का उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार धनुष का पैंतीस टंकों का होना विदित होता है[3]। साथ ही टंक तत्कालीन बाँट को अभिव्यंजित करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छंद राव जैतसी द्वारा तत्कालीन सभ्यता और संस्कृति के सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक अंगों पर भी यत्किंचित् प्रकाश पड़ता है।

१—वही, १८७।
२—वही, १५३।
३—वही, १४८।

विरद छिहत्तरी (र० का० १५५५-१६५५ ई० के मध्य)

३६१—आढा दुरसा कृत विरद छिहत्तरी ऐतिहासिक घटना की दृष्टि से सम्राट अकबर और महाराणा प्रताप के युद्धों से सम्बन्धित है। इस रचना में, प्रधानतया प्रशंसात्मक काव्य होने के कारण, युद्ध का क्रमिक विकास नहीं मिलता है। केवल प्रासंगिक रूप में दोनों दलों के युद्ध का उल्लेख मिलता है, वैसे तो इतिहास ग्रंथों के अनुसार अकबर ने महाराणा प्रताप को अपने वश में लाने के लिये अनेक बार प्रयत्न किये थे। किन्तु विरद छिहत्तरी में अन्य युद्धों के साथ हल्दी घाटी में होने वाले युद्ध का अन्य घटनाओं की अपेक्षा विशिष्ट उल्लेख है।

अकबर और महाराणा प्रताप के बीच होने वाले युद्धों के अतिरिक्त प्रसंगवश कवि ने एक स्थल पर बाबर तथा महाराणा सांगा (संग्रामसिंह) के बीच भी होने वाले युद्ध की ओर संकेत किया है।

इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि विरद छिहत्तरी में प्रधानतया सम्राट अकबर तथा महाराणा प्रताप के हल्दीघाट तथा अन्य युद्धों का प्रधान रूप से उल्लेख है और बाबर तथा महाराणा सांगा के बीच होने वाले युद्ध का प्रासंगिक अथवा गौणरूप में।

ऐतिहासिक परीक्षा

३६२—हल्दीघाट में होने वाले युद्ध का प्रायः समस्त इतिहास लेखकों ने वर्णन किया है। यह युद्ध जून सन् १५७६ ई० में हुआ था[1]। इस युद्ध में अकबर की ओर से महाराजा मानसिंह शाही सेना के अध्यक्ष के रूप में महाराणा प्रताप के विरुद्ध युद्ध करने के लिये आया था। इतिहास ग्रंथों में ऐसा पाया जाता है कि सन् १५७६ ई० के प्रारम्भ में जब अकबर अपनी वार्षिक तीर्थयात्रा के सिलसिले में अजमेर आया तभी उसने इस युद्ध को, राणा के विरुद्ध जो कि गोगुंदा में सुरक्षित रह रहा था और उसके दरबार में उपस्थित नहीं हुआ था, छेड़ा था। इस युद्ध में मानसिंह के साथ अकबर की ओर से गयासुद्दीन, अलीआसफ खाँ, दो बारहा सैइयद और कछवाहा जाति के राजपूत राय लूणकर्ण थे[2]।

१—मुन्तखबुत्तवारीख वा० २ पृ० २३३, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव् इंडिया, वा० ४, पृ० ११५।

२—कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव् इंडिया वा० ४, पृ० ११५।

इतिहास लेखकों ने इस युद्ध का विस्तृत इतिवृत्त अपने ग्रंथों में प्रस्तुत किया है[1]। इस युद्ध में किस पक्ष की विजय और किस पक्ष की पराजय हुई थी यह कहना कठिन है क्योंकि यह विवादग्रस्त है। मुसलमान इतिहासकार अकबर की विजय बताते हैं और हिन्दू इतिहास लेखक महाराणा प्रताप की[2]। किन्तु लेखक के मतानुसार विजय किसी भी पक्ष की पूर्णतया रूप से नहीं हुई थी क्योंकि युद्ध अंत तक नहीं हुआ था। वस्तुतः, इस युद्ध को अनिर्णीत युद्ध कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। लेखक का इस सम्बन्ध में तर्क यह है कि अकबर के पक्ष की विजय तब मानी जाती जब कि राणा प्रताप उसके सम्मुख हथियार डाल देता और इसी प्रकार इसके विपरीत समझा जा सकता है। किन्तु दो में से किसी भी पक्ष ने इस युद्ध में हथियार नहीं डाले थे और युद्ध का अंत हो गया था।

दुरसा आढा ने भी अपनी रचना में केवल इतना ही लिखा है कि अकबर ने राणा के विरुद्ध सेना भेजी थी। लड़ाई हुई और महाराणा ने अनेक बार अनेक स्थलों पर अकबर की सेना की टुकड़ियों को पराजित किया[3]।

इसी प्रकार दुरसा जी ने एक स्थल पर उदयपुर के निकट जब कि अकबर की सेना ने उसे घेर लिया था, तहस नहस करने का उल्लेख किया है[4]। दुरसा जी ने महाराणा प्रताप के कष्टों का उल्लेख भी किया है जब पहाड़ियों पर प्रताप को खाना मिलना कठिन हो गया तो उसने कंद-मूल फल खाकर जीवन व्यतीत किया। अपनी पत्नी को लेकर वह दर-दर भटकता भी रहा[5]।

दुरसा जी द्वारा उल्लेख की गई ये घटनायें इतिहास ग्रंथों से प्रमाणित हैं[6]।

जिस गौण अथवा प्रासंगिक घटना का उल्लेख दुरसा जी ने किया है वह भी इतिहास पुस्तकों से प्रमाणित है। यह युद्ध बाबर और राणा सांगा के मध्य खनुआ (भरतपुर) में १६ मार्च सन् १५२७ ई० को हुआ था जिसमें कि, राणा सांगा की पराजय हुई थी[7]।

१—मुन्तखबुत्तवारीख वा० २ पृ० २२३-२४३। कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव् इंडिया वा० २ पृ० ११५-६।

२—ओझा उ० रा० इ० (पहली जिल्द) पृ० ४३६-४१।

३—वि० छ० छं० सं० २६-३०।

४—वही ४०-४१

५—वही ५१-५२।

६—कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव् इंडिया वा० ४, पृ० ११७। ओझा—उ० रा० इ (पहली जिल्द) पृ० ४५५-५६।

७—कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव् इंडिया वा० ४, पृ० १६-१७।

विशेष

महाराणा प्रताप के अपराजित रहने के कारण

३६३—महाराणा धर्म का पक्ष ग्रहण करके अकबर से लड़ने वाले योद्धा थे। वे वीर थे और साथ ही रण कुशल। वे अकबर की और अपनी शक्ति से पूर्ण रूप से परिचित थे। कवि ने दोनों महारथियों की शक्ति का अत्यन्त मनोमुग्धकर शब्दों में चित्रांकन किया है :

अकबर समंद अथाह, तिहं डूबा हींदू तुरक।
मेवाडो तिण मांह, पोयण फूल प्रतापसी ॥२३॥

महाराणा अकबर की सेना से युद्ध करने में कभी पीछे नहीं हटता था। वह सेना का संचालन कुशलतापूर्वक करता था। जब आवश्यकता होती थी तो वह पक्ष सामने से लड़ता था। अपनी पराजय की संभावना देखता था तो पहाड़ियों पर अकस्मात् शत्रु की अचेतावस्था में छापा मारता था। वह युद्ध में लड़कर वीरतापूर्वक मरना अच्छा समझता था किन्तु मूर्खतापूर्वक और अंधे होकर युद्ध करके नहीं। अनुकूल परिस्थितियों में वह शत्रु को ललकारने में तनिक भी हिचकता नहीं था। किन्तु हार निश्चित जानकर वह रणस्थल से अवकाश भी ले लेता था। यही कारण था कि वह पहाड़ियों पर अपनी पत्नी के साथ दर-दर की ठोकरें खाता रहा[1]। उसमें उसने लज्जा अथवा मानहानि का अनुभव नहीं किया। वह युद्ध के परिणाम हार जीत के मूलतत्व को समझता था। वह समझता था कि युद्ध के परिणाम में कभी हार भी हो सकती है और कभी जीत भी। किन्तु परास्त होकर वह अपनी स्वतंत्रता और अपने मातृभूमि की स्वतंत्रता तथा अपनी प्रजा की स्वतंत्रता को सदैव के लिये खो देना मूर्खता समझता था। वस्तुतः, अपनी आन पर मर मिटना किन्तु शान न खोना ही उसकी युद्धनीति की सफलता की मुख्य और मूल विशेषता थी।

सांस्कृतिक पक्ष

३६४—विरद छिहत्तरी के रचयिता दुरसा जी आढा सम्राट अकबर और महाराणा प्रतापसिंह के समकालीन थे। अपनी रचना में उन्होंने तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थिति की ओर भी यत्र तत्र संकेत किया है जिससे कि विशेषतया हिन्दू समाज की हीन अवस्था का स्पष्ट आभास मिलता है। यहाँ

१—वि० छ० दो० सं० ३०, ३३, ३४, ३५, ३६, ४०, ४१, ४२, ४३, ४६, ५१, ५२, ५४।

हिन्दू जनता की उस अवस्था के सम्बन्ध में उनके विचारों को बता देना अप्रासंगिक न होगा।

मुगल सम्राट अकबर की विजयों ने हिन्दू राजाओं को अत्यन्त भीरू एवं अशक्त कर दिया था। इसका सर्व प्रमुख कारण हिन्दू राजाओं का असंगठन और पारस्परिक ईर्ष्या और वैमनस्य था। परस्पर वे मेल-जोल से नहीं रहते थे। आये दिन छोटी से छोटी बातों को लेकर लड़ जाते थे और एक दूसरे के प्रति वैर भाव कर लेते थे। कोई एक दूसरे को उन्नति करते नहीं देखना चाहता था। हिन्दुओं की पारस्परिक फूट को लक्ष्य कर अकबर ने परिस्थितियों से लाभ उठाया[1]। दमन नीति, और कूटनीति के द्वारा उसने दुरसा जी के अनुसार 'बिसमिल्ला बदराह, एक राह कर दूं अवस' अर्थात् मुसलमान धर्म के विपक्षियों की मुसलमान धर्म अंगीकार कराने की निश्चित एवं गुप्त योजना बनाई[2]। उसकी नीति को न समझ सकने के कारण महाराणा प्रताप के अतिरिक्त अन्य सभी राजाओं ने उसकी आधीनता को स्वीकार कर लिया[3]। क्षत्रिय अपने क्षात्र धर्म तलवार एवं दान की मर्यादा को भूल गये[4] यहाँ तक कि अधीनस्थ होकर हिन्दू राजा लोग अकबर की अनीति को भी आदरपूर्वक शिरोधार्य कर लेते थे[5]।

वह साम्राज्यवाद का युग था और राजा ही प्रजा का प्रतिनिधि होता था। दूसरे शब्दों में, राजा का किसी कार्य को करना प्रजा द्वारा उस कार्य को सामान्य-रूप से अपनाने का द्योतक था। चूंकि राजागण अपने बहिन-बेटियों का संबंध अकबर से कर रहे थे अतएव कवि के अनुसार 'लोपे हींदू लाज, सगपण रोये तुरक सूं' अर्थात् हिन्दू भी व्रीड़ा विहीन होकर मुसलमानों से संबंध करने लगे थे[6]। फलतः, ऐसी परिस्थिति में हिन्दू धर्म का ह्रास होना स्वाभाविक था। हिन्दू धर्म के प्रमुख और निर्भीक संरक्षकों में महाराणा प्रताप विशेष उल्लेखनीय थे। धर्म ने भी कवि के कथनानुसार स्वतंत्रता प्रेमी महाराणा प्रताप का आश्रय ग्रहण किया[7]। हिन्दू धर्म की रक्षा करने वाला उस समय ईश्वर ही था। शेष समस्त भारतवर्ष में किसी न किसी रूप में वर्णाश्रम धर्म को आघात पहुँचा, क्योंकि

१—वि० छ० दो० सं० ६।
२—वही ५।
३—वही ७, १४।
४—वही ६।
५—वही १२।
६—वही १३।
७—वि० छ० दो० सं० ६८, ६९।

'अकबर मारग आठ, जवन रोक राखी जगत' अथवा अकबर ने चतुर वर्ण एवं चतुर आश्रम संबंधी मार्गों को रोक दिया।

कदाचित् इस बात पर बल देने की अपेक्षा न होगी, कि संकेत रूप में कथित दुरसा जी आढा के विचार संक्षेप में अकबर के समय से संबद्ध हिन्दू जनता की राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति पर अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं।

वचनिका राठौड़ रतनसिंह जी री महेसदासोतरी

(मुख्य ऐतिहासिक घटना)

३६५—वचनिका राठौड़ रतनसिंह जी री महेसदासोतरी में उज्जैन के निकट धर्मत में होने वाले युद्ध का स्मरणोत्सव किया गया है। यह युद्ध शाहजहाँ, जिसकी ओर से जोधपुर के महाराणा जसवंतसिंह शाही सेना के सेनापति के रूप में थे, तथा उसके विद्रोही पुत्रों औरंगजेब और मुराद के मध्य हुआ था। महाराजा जसवंत सिंह को शाहजहाँ ने अपने विद्रोही राजकुमारों का दमन करने के लिये, जब कि वे आगरा की ओर सन् १६५८ ई० में प्रगति कर रहे थे, भेजा था। इस युद्ध में महाराजा जसवंतसिंह पराजित हुये थे और उन्हें विवश होकर देश की मरु-भूमि में जाकर शरण ग्रहण करना पड़ा था। इस युद्ध में राजपूतों ने बड़ी वीरता से युद्ध किया था। शाही सेना ने स्वयं इस युद्ध में हिचकते हुये भाग लिया। इस युद्ध में अपने बादशाह के लिये राजपूतों ने बड़ी संख्या में अपना बलिदान दिया था। आत्म बलिदान करने वाले विशिष्ट व्यक्तियों में मालवा के रतलाम के राजा रतनसिंह भी थे जिनकी वीरता का जग्गा खिड़िया ने अपने इस ग्रंथ में विशेष वर्णन किया है।

उपर्युक्त घटना की पुष्टि प्रायः सभी इतिहास ग्रंथों से होती है। अतएव विभिन्न इतिहासों में उपलब्ध इतिवृति का सारांश नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

वि० स० १७१४ (सन् १६५७ ई०) में बादशाह शाहजहाँ अस्वस्थ हो गया[१]। यहाँ तक की उसके मृत्यु की अफवाह लोगों में प्रसारित हो गई। शाहजहाँ को उसका बड़ा पुत्र दारा शिकोह विवश होकर आगरा ले आया। शाहजहाँ के अस्वस्थ होने की बात जान कर उसके चारों पुत्र शासन की बागडोर अपने हाथों में लेने की कामना करने लगे। वचनिका की मूल घटना से संबंधित राजकुमार औरंगजेब दल-बल सहित आगरे की ओर अग्रसर हुआ[२] और मुरादबख्श ने

१—विसेंट स्मिथ हिस्ट्री आव् इंडिया पृ० ४०६, ईलियट—हिस्ट्री आव् इंडिया, वा० ७, पृ० २१३, ओझा। जो० रा० इ०, पृ० ४२४, गहलौत मा० रा० इ० पृ० १५१, रेऊ—मा० इ० पृ० २२० सरकार—हिस्ट्री आव् औरंगजेब वा० १, पृ० ६०२, डा० बी० पी० सक्सेना हिस्ट्री आव् शाहजहाँ पृ० ३२०-२१।

२—रेऊ—मा० इ० पृ० २२०, ओझाः जो० रा० इ० पृ० ४२८।

अहमदाबाद हस्तगत कर लिया[१]। औरंगजेब और मुरादबख्श दोनों ही ने बादशाह के स्वास्थ्य के समाचार के बहाने आगरे की ओर प्रयाण करने का निश्चय किया। दाराशिकोह की परामर्श के अनुसार बादशाह शाहजहाँ ने महाराजा जसवंतसिंह को मनसब ७००० जात, और ७००० सवार करा दिया तथा मालवा की सूबेदारी और एक लाख रुपये नकद देकर औरंगजेब को रोकने के लिये उज्जैन की ओर भेजा[२]। इसके एक सप्ताह पश्चात् एक लाख रुपया और गुजरात की सूबेदारी देकर क़ासिम खाँ को गुजरात की ओर जसवंत सिंह के साथ सम्मिलित होने के निमित्त भेजा गया[३]।

दोनों शाही सेनाओं के उज्जैन पहुँचने पर मुराद उनसे युद्ध करने के लिये बढ़ा किन्तु विशाल वाहिनी को लक्ष्य कर चिंता में पड़ गया। मध्यांतर में उसके पास औरंगजेब का चाटुकारिता एवं कूटनीति पूर्ण पत्र पहुंचा जिसमें उसने मुराद को दिल्ली की बादशाहत दिलाने का प्रलोभन दिया था[४]। शाही जासूसों की अकर्मण्यता अथवा विश्वासघात के कारण जसवंतसिंह को मुराद की सेना का वास्तविक समाचार यथा समय न प्राप्त हो सका और वह देपालपुर के निकट औरंगजेब से जा मिला। जसवंतसिंह के उज्जैन पहुँचने तक दोनों शाहजादे भी १४ मील के अंतर पर धर्मतपुर के पास पहुँच चुके थे, अस्तु, महाराजा ने उससे २ मील के अंतर पर अपने डेरे लगा दिये। इस समय चतुर औरंगजेब ने जसवंत सिंह के पास दूत भेजकर कहलाया कि वे तो अपने पिता की अस्वस्थता का समाचार जान कर उनसे मिलने जा रहे हैं ऐसी परिस्थिति में आप हमारा मार्ग क्यों रोक रहे हैं। प्रत्युत्तर में जसवंतसिंह ने कहला भेजा कि यदि आप पिता से मिलने जा रहे हैं तो इस विशाल सेना की क्या अवश्यकता है। आप अपने गिने चुने व्यक्तियों के साथ बादशाह से मिलने जा सकते हैं[५]। निदान, वि० सं० १७१५, वैशाख वदि

१—इलियट—हिस्ट्री आव् इंडिया, वा० ७, पृ० २१६-१७, रेऊ—मा० इ० पृ० २२०, ओझा—जो० रा० इ० पृ० ४२७,। डा० वी० पी० सक्सेना—हिस्ट्री आव् शाहजहाँ पृ० ३२७, सरकार—हिस्ट्री आव् औरंगजेब, वा० १, पृ० ३०६।

२—डा० बेनी प्रसाद—हिस्ट्री आव् शाहजहाँ पृ० ३२८, रेऊ—मा० इ० पृ० २२०, गहलौत—मा० रा० इ० पृ० १५१, ओझा—जो० रा० इ० पृ० ४२८ डा० बी पी० सक्सेना—हिस्ट्री आव् शाहजहाँ पृ० ३२८।

३—ओझा—जो० रा० इ० पृ० ४२८, रेऊ—मा० इ० पृ० २२०।

४—इलियट—हिस्ट्री आव् इंडिया, वा० ७, पृ० २१७-८, ओझा—जो० रा० इ० पृ० ४२६, रेऊ—मा० इ० पृ० २२१, गहलौत—मा० रा० इ० पृ० १५१।

५—रेऊ—मा० इ० पृ० २२१-२२, ओझा—जो० रा० इ० पृ० ४३०।

६ (ता० १६ अप्रैल, सन् १६५८ ई०) को धर्मातपुर के निकट विपक्षी दलों में युद्ध छिड़ गया[१]।

इस युद्ध में औरंगजेब और मुरादबख्श की सेनाओं में विशेष उल्लेखनीय व्यक्तियों में शाहजादा मुहम्मद आज़म, राजा इन्द्रमणि धन्धेरा, राजा सारंगधर, बीकानेर के राव कर्णसिंह के दो पुत्र केशरीसिंह एवं पद्मसिंह, रघुनाथ सिंह राठौड़ तथा बूंदी के राव शत्रुशाल हाड़ा का पुत्र भगवंतसिंह प्रभृति थे[२]। इसके विपरीत महाराजा जसवंतसिंह की सेना में कोटा नरेश हाडा मुकनसिंह, रतलाम नरेश राठौड़ रतनसिंह, अजमेर प्रांत के राजगढ़ का राजा गौड़ अर्जुन, राजा सुजान सिंह बुंदेला, दयालदास झाला, मोहन सिंह हाड़ा, अमर सिंह चन्द्रावत, टोड़ा (जयपुर राज्य) के राजा रायसिंह प्रभृति विशेष उल्लेखनीय थे[३]।

पहले तो शाही सेना ने औरंगजेब और मुरादबख्श की सम्मिलित सेनाओं को पर्याप्त क्षति पहुँचाई किन्तु विजय के उपयुक्त अवसर के आते ही कासिम खाँ ने विश्वासघात किया और औरंगजेब से मिल गया[४]। फलस्वरूप औरंगजेब को जसवंतसिंह की सेना को पराजित करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं रही। औरंगजेब और मुरादबख्श ने शाही सेना को चारों ओर से घेर लिया। जसवंतसिंह के संबंध में कुछ इतिहास लेखकों का मत है कि राजपूतों ने उन्हें बलात् युद्धस्थल से हटा दिया क्योंकि जिन परिस्थितियों में वे फंस गये थे उनमें उनका मरण अवश्यंभावी था विशेषतया इसलिये और भी कि वह घायल हो चुके थे[५]। अन्य मत के अनुसार परिस्थिति की विषमता देखकर राजपूतों के कहने पर स्वयं ही रणभूमि से हट गये थे[६]। जो कुछ भी हो उनका युद्ध क्षेत्र से हटना निश्चित है। पं० विश्वेश्वर नाथ रेऊ के शब्दों में यद्यपि 'महाराज की इच्छा रणस्थल से हटने की

१—वही पृ० २२२, वही पृ० ४३०, इलियट—हिस्ट्री आव् इंडिया वा० ७, पृ० २१८-६, विंसेट स्मिथ—आक्सफोर्ड हिस्ट्री आव् इंडिया पृ० ४१०, गहलौत—मा० रा० इ० पृ० १५१-५२। डा० बी० पी० सक्सेना—हिस्ट्री आव् शाहजहाँ, पृ० ३२८।

२—ओझा—जो० रा० इ० पृ० ४३०-३१।

३—वही पृ० ४३१-३२, रेऊ—मा० इ० पृ० २२२-२३।

४—ओझा—जो० रा० इ० पृ० ४३१-३२, रेऊ—मा० इ० पृ० २२२-२३,।

५—ओझा—जो० रा० इ० (प्र० मा०) पृ० ५३४। मनूकी—स्टोरिया डोमोगोर वा० १, पृ० २५८-५६।

६—रेऊ—मारवाड़ का इतिहास पृ० २२३, गहलौत—मारवाड़ राज्य का इतिहास पृ० १५२।

न थी, तथापि रतनसिंह जी ने सेना संचालन का भार स्वयं लेकर अपने वंश के नायक को वहाँ से हट जाने पर बाध्य किया। अंत में हाड़ा मुकनसिंह, सीसोदिया सुजानसिंह, राठौड़ रतनसिंह, गौड़ अर्जुन झाला, दयालदास और मोहनसिंह आदि वीरों के मारे जाने से खेत औरंगजेब के हाथ रहा[1]"। कहना न होगा कि औरंगजेब की इस विजय के संबंध में समस्त इतिहास लेखक एकमत हैं।

सांस्कृतिक पक्ष

३९६. वचनिका राठौड़ रतनसिंह जी री महेसदासोतरी का सांस्कृतिक पक्ष तत्कालीन हिन्दू सभ्यता और सांस्कृति की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। इस रचना के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि सनातन धर्म का अनुयायी था और कदाचित् उसने इसीलिये प्रायः अनेक हिन्दू देवी देवताओं को स्थान दिया है जिससे कि कवि की समकालीन सनातन धर्म संबंधी भावना पर प्रकाश पड़ता है। उदाहरण स्वरूप कवि ने ग्रंथारंभ के साथ ही गणेश, विष्णु, शिव, शक्ति और सरस्वती की आराधना की है[2]। इसके अतिरिक्त उसने रचना को युद्ध संबंधी अनेक स्थलों पर रामायण और महाभारत की तत्संबंधी घटनाओं को उपमाओं और रूपकों के रूप में घटित किया है[3]। वेद और शास्त्रों का नाम भी उसने आदरपूर्वक लिया है[4]।

जग्गा खिड़िया ने कदाचित् सनातन धर्म की भावना से ही प्रेरित होकर हिन्दू राजाओं की धार्मिक और दान संबंधी वृत्ति का उल्लेख किया है। युद्ध में प्रवृत्त होने के पूर्व महाराजा जसवंतसिंह ने 'स्नान करके विप्रों को धन, सप्त धातुयें, अश्व और गायें प्रदान की थीं। देव मंदिर में जाकर देवताओं के दर्शन किया। अनंतर होम इत्यादि करके प्रीतिभोज की व्यवस्था की[5]। इसी प्रकार रतनसिंह ने भी जब सेना के संचालन का भार ग्रहण किया था तो अवसर न होने पर भी' सूर्य को नमस्कार कर, ध्यान और ज्ञान को मन में धारण कर युद्ध में प्राण देकर बैकुंठ जाने का संकल्प किया था[6]। इन अवतरणों से यह सहज परिणाम निकाला

१—रेऊ—मारवाड़ का राज्य का इतिहास पृ० २२२-२३। डा० बी० पी० सक्सेना—हिस्ट्री आव् शाहजहाँ, पृ० ३२८।

२—व० रा० र० म० छं० सं० १-२।

३—वही ६९, ८४, ८६।

४—वही ८४।

५—वही ७३-७५।

६—वही १४७।

जा सकता है कि हिन्दू जनता भी कर्मकांड में विश्वास करती रही होगी, विशेषतया जब कि उनके प्रतिनिधि राजागण इन क्रियाओं को कार्यान्वित करते थे।

वचनिका में धार्मिक विचारों के अतिरिक्त हमें दार्शनिकता का भी स्पष्ट स्वरूप कुछ अंशों में उपलब्ध होता है। इसे मृत्यु के उपरांत जीवन संबंधी भावधारा कहा जा सकता है। राजपूत वीरों का यह सहज विश्वास था कि धर्म-युद्ध में प्राणार्पण करने के अनंतर उन्हें मोक्ष प्राप्त होगा। वे मर कर पृथ्वीलोक से स्वर्गलोक अवश्य जांयगे। कवि ने इस विचारधारा का सुन्दर काल्पनिक चित्र खचित किया है। महाराजा रतनसिंह के मरणोपरांत उनके पार्थिव शरीर का दाह-संस्कार हिन्दू प्रथा के अनुसार किया गया। उन्होंने अमर देह प्राप्त की। तदुपरांत 'ब्रह्मा विसन मेहेस इन्द्र सुर साथि आया। इन्द्राणी धमल मंगल पौहम वरिखा करि बधाया। विवाणे पाउधारो। बैकुन्ठ पाधारौ'[1]।

इस कथन पर रतनसिंह ने हाड़ा मुकुंदसिंह, गौड़ अरजन, सीसोदिआ सुजाणसिंह, झाला दलथम्म प्रभृति को भी बैकुंठ में निवास देने के लिये अनुशंसा किया था[2]। और 'राजा रतन नूँ वकुण्ठनाथ समीप वैसाणि दीवाण किया' गया था[3]। इसी प्रकार अतिरूपदे, रैणसुखदे, गुणरूपदे और सुखरूपदे रानियों प्रभृति के सती होने पर भी उनके लिये स्वर्ग लोक से विमान आया था। विमान पर चढ़ कर वे भी स्वर्ग लोक गई थीं। वहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश और इन्द्र के कथनानुसार स्वर्ग की महासतियों—सावित्री, उमा और सीता, ने उनका स्वागत किया था तथा उन्हें राजा रतनसिंह के महल में पहुँचा दिया गया था जहाँ कि वे उनसे मिली थीं[4]। काल्पनिक होते हुये मृत्यु के उपरान्त के जीवन का यह वर्णन मनोमुग्धकर है और मनुष्य को सन्मार्ग में प्रवृत्त करने के निमित्त एक आकर्षक प्रलोभन भी।

राजपूत जाति से सम्बन्धित होने के कारण इस रचना द्वारा राजपूतों के चरित्र और उनके सामाजिक जीवन पर भी यत्किंचित् प्रकाश पड़ता है। एक राजपूत राजा के आश्रित चारण के ग्रंथ में इस प्रकार की सूचना का प्राप्त होना अस्वाभाविक नहीं है। महाराजा जसवंतसिंह अपने समय में राजपूत राजाओं में अग्रगण्य थे यह शाहजहाँ के द्वारा उसके विद्रोही पुत्रों के विरुद्ध उनके अभियान पर गमन करने से प्रमाणित है[5]। चारण परम्परा के अनुसार इसका इतर प्रणाम

१—वही २४३।

२—वही

३—वही

४—वही २५६-६२।

५—वही १४।

उनका छत्तीसों वंशों के अध्यक्ष के रूप में होकर जाना[1] समझा जा सकता है जिसके अंतर्गत महाराजा रतनसिंह, हाड़ा मुकुंदसिंह, गौड़ अर्जुन, सीसोदिया सुजानसिंह तथा झाला दलथंम आदि विभिन्न वंशों के प्रतिनिधि थे। इससे एक बात और भी प्रमाणित होती है कि मुसलमान बादशाहों की छत्रछाया में रहते हुये भी राजपूत पर्याप्त अंशों में संगठित थे। किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट है कि उसमें मातृभूमि की स्वतंत्रता की भावना का अभाव अवश्य था। और इसी कारण वे संगठित होकर दिल्ली की राज्य सत्ता के विरुद्ध खुल कर विरोध नहीं कर सकते थे।

राजपूत स्वभावतः वीर होते थे। युद्ध में कटकर मर जाना वे श्रेस्यकर समझते थे किन्तु रणांगण में पीठ दिखाना नहीं। वे जिसका नमक खाते थे उसकी प्राणपण से स्वामिभक्ति भी किया करते थे। अपने आश्रयदाता के साथ विश्वासघात करना वे अधर्म समझते थे। कहना न होगा कि यही कारण था कि पिता पुत्रों के पारस्परिक युद्ध में सहस्रों राजपूत योधाओं ने अपने प्राणों की आहुति दे दी।

राजपूतों की स्त्रियाँ भी उन्हीं के समान चरित्रवान और वीर हुआ करती थीं। राजा रतनसिंह की रानियों का सती होना इस कथन का रचना में उपलब्ध प्रमाण है। इस प्रकार के अनेक प्रमाण राजपूत इतिहास ग्रंथों से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। जग्गा खिड़िया ने रतनसिंह की रानियों के सती होने का सविस्तार वर्णन किया है जिससे कि सती प्रथा की क्रिया पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। 'महाराज के काम आने का समाचार जान कर शक्ति स्वरूपा रानियाँ हरि का स्मरण कर जल मरने के लिये तुरंत उद्यत हो गईं। इनमें अतिरूपदे, देवड़ी रैणसुखदे, गुणरूपदे, और सुखरूपदे थीं। सती होने के पूर्व उन्होंने गंगा जल में स्नान किया। और 'हरि चीर चामीर परिमल पहिरि, पान कपूर खाइ दान पुण' किया। दूसरी ओर अगर चंदन की चिता तैयार की गई। उन्होंने सोलहों शृंगार किया। अंत में स्वामी और देवताओं का स्मरण किया। प्रियतम पति से मिलने के लिये उन्होंने सांसारिक भ्रम और मोह को तिलांजलि दिया। जनता की दृष्टि इन सतियों की ओर लग गई। चारों रानियाँ द्रव्य और नारियल उछालती हुई जलने के लिये चल पड़ी। ईश्वर और गौरी का पूजन किया और 'जुगि जुगि औ हीज धणी देज्यो' का वरदान माँगा। अनंतर पृथ्वी, आकाश, पानी, चन्द्र और सूर्य आदि को प्रणाम कर आरोगी दोली (चिता) की परिक्रमा किया। फिर 'पूत्त, परिवार ने छेहली सी खमति आसीस' दिया अंत में मृत्यु मंदिर में हरि स्मरण करते हुये प्रवेश कर सती धर्म का पालन किया'[2]।

१—वही १८-१६।

२—वही २४४-२५७।

इसी प्रकार राजा रतनसिंह की मृत्यु पर उनकी अन्त्येष्ठिक क्रिया के द्वारा राजपूतों के अंतिम संस्कार की ओर भी कवि ने 'सरां छड़ां सूं दाग दिश्रां, नर देह जलाई' शब्दों में संकेत किया है[1]।

युद्धों में हिन्दुओं द्वारा हरे राम तथा मुसलमानों द्वारा 'इलल्ला इलल्ला इलल्लाह' और 'रहमान अलाह' के उच्चारण की ओर कवि ने इंगित किया है[2]। कवि की कल्पना है कि युद्धों को देखने के लिये देवता और असुर भी अपने विमानों पर चढकर आते हैं[3]। युद्धों के पूर्व विरोधी दल परस्पर प्राय: समझौते की बातचीत किया करते थे और समझौता न होने पर ही युद्ध करने में प्रवृत्त होते थे। औरंगजेब और मुराद ने भी जसवंतसिंह के साथ इस प्रकार का समझौता करने का प्रयत्न किया था[4] और समझौते के द्वारा किसी निर्णय पर न पहुँच सकने पर युद्धारंभ किया था। डा० टेसीटरी के मतानुसार इस युद्ध से राजपूतों की राजभक्ति प्रमाणित होती है और इसके विपरीत शाही सेना, जिसमें कि अधिकांश मुसलमान थे, में उसका अभाव पाया जाता है[5]। इस घटना के आधार पर हिन्दुओं की चारित्रिक उत्कृष्टता और मुसलमानों की चारित्रिक अस्थैर्यता सुव्यक्त रूप से अभिव्यंजित होती है।

इनके अतिरिक्त यत्र तत्र रचना में सभ्यता और संस्कृति संबंधी अनेक बानगियां प्राप्त होती हैं। महाराजा जसवंतसिंह को विषम परिस्थितियों में देखकर राजपूतों का उनके स्थान पर राजा रतनसिंह को नियुक्त करना सेनाध्यक्ष को जीवित रखने की आवश्यकता तथा उसके प्रति प्रेम भाव का द्योतक है[6]। शाहजहाँ द्वारा जसवंतसिंह को पुत्रों को न मारने और केवल पकड़ने का निर्देश देने की पृष्ठभूमि में पिता का पुत्रों के प्रति स्नेह व्यक्त होता है[7]। राज सभा में राजपूत सामंतों को कपूर और बीड़ा देना सभ्यता का परिचायक है जो कि साथ ही पान के इतिहास की एक प्राचीन कड़ी का प्रकाशक है[8]।

१—वही २४४।
२—वही १२६-१२७, १२६।
३—वही १३३।
४—वही
५—वही पृ० १ (भूमिका)
६—वही
७—वही
८—वही।

राजरूपक

३६७—वीरमाण रत्नू विरचित राजरूपक का संक्षिप्त परिचय अन्यत्र दिया जा चुका है। यह ग्रंथ इतिहास की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है इसीलिए इस रचना को इस अध्याय में विशेष रूप से स्थान दिया गया है। इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथ में ४६ प्रकाश हैं जिनके अंतर्गत इतिहास संबंधी सामग्री का प्रकाश क्रम के अनुसार उल्लेख यहाँ किया जाता है।

ऐतिहासिक घटनायें

प्रथम प्रकाश

३६८—पौराणिक आख्यानों के आधार पर सूर्यवंशियों के उद्गम को अनुरेखन करने के पश्चात् से राठौड़ों के मूलपुरुष सेतराम से लेकर महाराजा जसवंतसिंह का वंश वृक्ष वीरमांण के अनुसार यथा क्रम इस प्रकार है :—

सेताराम (मूलपुरुष)···सीहा···आसथान··धूहड़···रायपाल···कन्हराव···जल्हराव···छाड़ा···तीड़ा···सलखा···वीरम···चूंड़ा···रणमल···जोधा···सूजा···बाघा·····गांगा···मालदेव (राव मारू)······उदयसिंह···सूरसिंह···गजसिंह···जसवंतसिंह (जसराज)।

जसवंत बादशाह औरंगजेब का समकालीन था। इसका स्वर्गवास सन् १६७८ ई० (पौष वदि १०, गुरुवार, सं० १७३५ वि०) में हुआ। उसकी मृत्यु पर रानी जादव जी सती होने को तत्पर हुई किन्तु गर्भवती होने के कारण उदयसिंह ने उन्हें सती नहीं होने दिया। जसवंतसिंह की मृत्यु से औरंगजेब के मार्ग का एक बड़ा रोड़ा दूर हो गया।

इस प्रकाश में उल्लेख की गई वंशावली निस्संदेह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस वंशावली में प्राप्य अधिकांश नाम हमें जोधपुर से संबंधित इतिहास ग्रंथों में मिलते हैं। इसमें सेताराम[१], सीह[२], आसथान[३], धूहड़[४], रायपाल[५], कन्हराव[६],

---

१—जो० रा० इ० पृ० १४६ (पा० टि०) मा० एक पृ० ३२, ३३, मा० रा० इ० पृ० ६१।

२—वही, पृ० १४६-१५८, वही, पृ० ३१-४२, वही, पृ० ६३-६५।

३—वही, पृ० १५८-१६५, वही, पृ० ४२-४६, वही पृ० ६५-६८।

४—वही, पृ० १६५-१६७, वही, पृ० ४६-४८, वही, पृ० ६८-६६।

५—वही, १६७-७८, वही, पृ० ४८-४६, वही, ६६-१००।

६—वही, १७०-१७१, वही, ४६-५०, वही, १००-१०१।

जल्ह राव[१], छाड़ा[२], तीड़ा[३], सलखा[४], वीरम[५], चूंड़ा[६], रणमल[७], जोधा[८], सूजा[९], गांगा[१०], मालदेव[११], उदयसिंह[१२], सूरसिंह[१३], गजसिंह[१४], तथा जसवंतसिंह[१५] का नाम तो प्रत्येक इतिहास में मिलता है। इनमें से कुछ में नामों का साधारण अंतर देखने में आता है यथा कन्हराव को कनपाल अथवा कन्हपाल कहा गया है और तीड़ा को टीड़ा। इसके अतिरिक्त इतिहासों में कथित कुछ नामों का उल्लेख राजरूपक में नहीं है यथा राव, कानड़ अथवा कान्हड़देव, कान्हा, सत्ता, सातल और चन्द्रसेन का। इसके विपरीत, राजरूपक में बाधा का अधिक उल्लेख है जो कि इतिहासों में अप्राप्य है। इतिहासकारों ने बाधा का नाम क्यों छोड़ दिया यह विचारणीय है।

ऐतिहासिक घटना के रूप में राजरूपक के इस प्रकाश में महाराजा जसवंत-सिंह के मृत्यु की तिथि का उल्लेख है जो कि इतिहासकारों ने भी स्वीकार की है।

द्वितीय प्रकाश

३६६—इस प्रकाश में औरंगजेब का अजमेर आना तथा राजपूतों का उसकी सेवा में उपस्थित होना, औरंगजेब का बहादुरखाँ को प्रबंध करने के निमित्त जोधपुर भेजना, भाटी रघुनाथ, कामस्थ केसरीसिंह और इन्द्रसिंह का दिल्ली जाना

१—वही, १७१-१७३, वही, ५०-५१, वही, १०१।
२—वही, १७३-१७६ वही, ५१-५२, वही, १०१।
३—वही, १७६-१७६, वही, ५२, वही, १०१-१०२।
४—वही, १८२-१६३, वही, ५३, वही, १०२-१०५।
५—वही, १६३-२००, वही, ५४-५८, वही, १०५-१०७।
६—वही, २००-२१३, वही, ५८-६८, वही, १०७-११४।
७—वही, २१६-२२६, वही, ७०-८१, वही, ११४-११७।
८—वही, २३५-२५६, वही, ८३-१०४, वही, ११७-१२४।
६—वही, २६४-२७०, वही, १०७-१११, वही, १२५-१२८।
१०—वही, २७०-२८४, वही, १११-११६, वही, १२८-१३५।
११—वही, २८४-३३२, वही, ११६-१६१, वही, १३५-१३६।
१२—वही, २५४-३६४, वही, १७०-१८१, वही, १३६-१३६।
१३—वही, ३६४-३८८, वही, १८१-१६६, वही, १३६-१४१
१४—वही, ३८८-४१२, वही, १६६-२१०, वही, १४१-१४८।
१५—वही, ४१३-४७५, वही, २१०-२४५, वही, १४८-१५७।

और बादशाह से भेंट करना, यादव रानी के उदर से चैत्र वदि ४ बुधवार संवत् १७३५ वि० को अजीतसिंह का जन्म होना, औरंगजेब का राठौड़ों को जसवंतसिंह के पुत्र अजीतसिंह को दिल्ली दरबार में उपस्थित करने की आज्ञा देना, इन्द्रसिंह को जोधपुर के राज्य प्रदान करने का प्रलोभन देकर ज्येष्ठ वदि १२ सोमवार, वि० सं० १७३५ में जोधपुर को प्रयाण करने का परवाना देना, स्वेच्छानुसार यादव रानी का रणछोड़दास जोधा द्वारा जमुना में काटकर वहा दिया जाना, तथा शाही सेना और राठौड़ों की लड़ाई का होना वर्णित है। वीरभांण के अनुसार इस युद्ध में राठौड़ों के ५०० तथा शाही सेना के १००० सैनिक काम आये थे और ३०० सैनिक हताहत हुये थे।

औरंगजेब के भेजे हुये प्रबन्धकर्ता बहादुरखाँ का नाम इतिहास ग्रंथों से पुष्ट नहीं होता[1]। इसके अतिरिक्त हताहतों की संख्या कवि की अपनी दी हुई है। वह इतिहासों की संख्या से मेल नहीं खाती[2]। शेष समस्त घटनायें इतिहास ग्रंथों में उपलब्ध होती हैं। यहाँ तक कि अजीतसिंह के जन्म[3] तथा औरंगजेब द्वारा इन्द्रसिंह को दिये गये परवाने[4] की तिथियाँ भी एक हैं। राजपूतों के अधिकांश सेनानियों के कवि द्वारा दिये गये नाम रचना की अतिरिक्त सामग्री है।

तृतीय प्रकाश

४००—इस प्रकाश की घटनायें—तहव्वरखान का अजमेर जाना तथा पुष्कर (पोहकर) में भादों वदि ११ वि० सं० १७३६ में युद्ध करना है जिसमें कि ग्रंथ रचयिता के अनुसार तहव्वरखान को १०० धनुष पीछे हटना पड़ा था और राजसिंह अनेक योधाओं के साथ फिर युद्ध करता हुआ मारा गया।

इस प्रकाश की उपरोक्त घटना भी इतिहास ग्रंथों से मेल रखती है[४अ]। केवल राठौड़ सरदारों के नाम तथा तहव्वरखान का १०० धनुष पीछे हटना कवि की प्रस्तुत अतिरिक्त सूचना है।

चतुर्थ प्रकाश

४०१—इसमें तहव्वरखान का कूँडाद्रह ग्राम के अधिपति और कुंभकर्ण के पुत्र ऊदाउत रूपसिंह के ऊपर सन् १६६६ ई० (संवत् १७३६ वि०) में आक्रमण करना वर्णित है। इस युद्ध में रूपसिंह (रूपसी) की मृत्यु हुई थी।

१—जो० रा० इ० पृ० ४७७-७६, मा० इ० पृ० २४६।

२—जो० रा० इ० पृ० ४८५ (पा० टि०)।

३—जो० रा० इ० पृ० ४७८, मा० इ० पृ० २४८

४—वही, पृ० ४८१, वही, पृ० २५३।

४—(अ) वही, पृ० ४८७, वही, पृ० २६०।

इस प्रकाश में वर्णित मारवाड़ के दौरे का वर्णन, जो कि मुगल सेना ने शाहजादा अकबर और तहव्वरखान की देख-रेख में किया था, इतिहास ग्रंथों में प्राप्त होता है[1] किन्तु रूपसी के साथ होने वाले युद्ध के सम्बन्ध में इतिहास ग्रंथ मौन हैं। कदाचित् इसलिये कि यह एक साधारण विजय थी जिसका कि विशेष महत्व नहीं था।

पंचम प्रकाश

४०२—इस प्रकाश में औरंगजेब का अजमेर आगमन, वहाँ से दहबारी होते हुये स्वयं उदयपुर पहुंचना और आजमशाह को चित्तौड़ भेजना और युद्ध करना तथा पुनः अजमेर जाकर जालौर में फतहखाँ की सहायता करना, राठौड़ों का जालौर, सोजत और जोधपुर को घेरना, तथा सोनंग और दुर्गादास की अध्यक्षता में खेतासार के युद्ध में इन्द्रसिंह को सन् १६६६ ई० (ज्येष्ठ सुदि १३ संवत् १७३६ वि०) में पराजित करना वर्णित है।

इस प्रकाश में कही गई औरंगजेब की मेवाड़ पर युद्ध यात्रा का वर्णन प्राप्त है[2]। आजमशाह के चित्तौड़ पर आक्रमण करने जाने की निश्चित वार्ता जो राजरूपक में है, मुसलमानों के इतिहास ग्रंथों में नहीं देखने को मिलती, यद्यपि उसका औरंगजेब के साथ संबंधित होना निश्चित सा प्रतीत होता है[3]। वीरमांण ने राजपूतों द्वारा घेरे जाने वाले केवल तीन निश्चित स्थलों का उल्लेख किया है किन्तु इतिहास ग्रंथों के अनुसार राजपूतों ने अनेक स्थलों पर युद्ध किया था[4]। औरंगजेब का फतहखाँ के सहायतार्थ आने की घटना[5] तथा इन्द्रसिंह के पराजय की घटना[6] दोनों ही इतिहासों में उपलब्ध होती हैं।

षष्ठ प्रकाश

४०३—युद्ध में पराजित होकर पलायन करने के कारण औरंगजेब का इन्द्रसिंह पर क्रोध करना, शाहजादा अकबर और तहव्वरखान के निरीक्षण में औरंगजेब का

१—जो० रा० इ० पृ० ४६१-६३।

२—जो० रा० इ० पृ० ४६०-६१, मा० इ० पृ० २६१-६३, उ० रा० इ० पृ० ५५४-६३ (दूसरी जिल्द)।

३—वही, पृ० ४६१, वही, पृ० २६२, वही, पृ० ५५४-६३, सरकार शार्ट, हिस्ट्री आव औरंगजेब पृ० १७२-५।

४—वही, वही पृ० २६२-६४।

५—मा० इ० पृ० २६३।

६—वही, सरकार शार्ट हिस्ट्री आव औरंगजेब पृ० १७२।

का राठौड़ों पर आक्रमण और युद्ध करना इस प्रकाश का वर्ण्य विषय है। इस युद्ध में महाराणा राजसिंह ने अपने पुत्र भीमसिंह को भी भाग लेने के लिये भेजा था और यह युद्ध नाडोल में हुआ था।

जहाँ तक इस प्रकाश में इन्द्रसिंह पर औरंगजेब के कोप करने का उल्लेख प्राप्य है, वह केवल साधारण है क्योंकि इतिहास ग्रंथों में औरंगजेब द्वारा उसके पदच्युत तक कर दिये जाने का इतिवृत्त मिलता है[१]। नाडोल में सन् १६७० ई० (वि० सं० १७३७) में होने वाले युद्ध की भी पुष्टि इतिहास ग्रंथों से होती है[२]। इसमें दोनों पक्षों की बहुत हानि हुई थी।

सप्तम प्रकाश

४०४—यह प्रकाश विस्तृत है। इसमें कवि ने राजपूत योधाओं के नामों की विस्तृत तालिका प्रस्तुत की है। यह तालिका इतिहास की दृष्टि से निस्संदेह महत्वपूर्ण है। इस प्रकाश में अकबर और तहव्वरखान का राठौड़ों से मैत्री करना, शाहजादा अकबर का अपने को बादशाह घोषित करना, उसका औरंगजेब को अजमेर में घेरना, तहव्वरखान का विश्वासघात (अकबर के साथ) और औरंगजेब द्वारा तहव्वर-खान का मरवाया जाना, तहव्वरखान के संदेश कि बाप-बेटे एक हो गये हैं के कारण राठौड़ों का अकबर पर संदेह करना और अकबर का पुनः मेल करना, औरंगजेब का अकबर के विरुद्ध शाहजादा आजम का भेजना, दुर्गादास का अकबर को लेकर दक्षिण में जाना, औरंगजेब का आलम को पश्चिम तथा आजम को पूर्व की ओर से प्रस्थान कराना और स्वयं अकबर के निमित दक्षिण को जाना, सोनंग चांपावत के संरक्षण में आबू पर्वत पर अजीतसिंह का गुप्त रहना, राजपूतों का जोधपुर को घेरना, तथा शाही सेना के साथ युद्ध करने का सविस्तार वर्णन है।

इस प्रकाश के अंतर्गत आई हुई घटनाओं में शाहजादा अकबर का राठौड़ों से मेल करना तथा अपने को बादशाह घोषित करना दोनों ही घटनायें इतिहास ग्रंथों में उपलब्ध होती है[३]। यह मेल सन् १६८० ई० (माघ वदि ९ संवत् १७३७ वि०) में हुआ था। उसी दिन अकबर ने औरंगजेब पर आक्रमण करने का भी निश्चय किया था। 'राजरूपक' के रचयिता के अनुसार अकबर के पास इस समय १ लाख और औरंगजेब के पास ८ हजार मात्र सेना थी। डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार औरंगजेब के पास सेना अत्यल्प और अकबर के पास ७००००

१—जो० रा० इ०, पृ० ४८८ (पा० टि०), वही।

२—वही, पृ० ४९१-९२, मा० इ०, पृ० २६५-६६।

३—वही, पृ० ४९३, मा० इ०, पृ० २६७, सरकार—हिस्ट्री आव् औरंगजेब पृ० ३५५-६ (वा० ३), इलियट—हिस्ट्री आव् इंडिया, वा० ७, पृ० ३००-१।

के लगभग थी[1]। अकबर ने आक्रमण करने में अपनी सुस्ती और विलासिता के कारण समय अधिक लगा दिया जिससे कि शाहजादा मुअज्जम भी पिता के साथ आकर मिल गया[2]। इसी बीच में तहव्वरखान औरंगजेब की धमकी से डर कर उसके पास चला आया जिसे कि औरंगजेब ने मरवा डाला[3]। मनूकी के अनुसार तहव्वरखान औरंगजेब की हत्या करने गया था[4] जो कि ओझा के शब्दों में कल्पनामात्र है[5]।

राठौड़ों का अकबर के प्रति शंका करना इतिहास से पुष्ट है किन्तु इतिहास ग्रंथों में इस संदेह को उत्पन्न कराने वाला स्वयं औरंगजेब था जिसने कि राठौड़ों के शिविर में जाली-पत्र डलवा दिया था[6]। इस संबंध में एक संभावना और प्रतीत होती है। इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं कि तहव्वरखान औरंगजेब की धमकी से भयभीत होकर उसके पास गया था। यदि यह धमकी वाली घटना सत्य हो तो असंभव नहीं कि औरंगजेब ने तहव्वरखान के द्वारा ही राठौड़ों के पास दूत भेजवाया हो क्योंकि उस पर राठौड़ों को विश्वास था। उदाहरण स्वरूप, तहव्वर-खान के जाने के साथ ही अकबर का साथ देने वाले अनेक मुसलमान औरंगजेब के पास वापस चले गये[7]। अकबर विचित्र परिस्थिति में पड़ गया तथा उसने पुनः राजपूतों से मिलकर अपनी मित्रता पर विश्वास दिलाया[8]। इतिहास ग्रंथों में औरंगजेब का, अकबर को दुर्गादास द्वारा दक्षिण में ले जाना जानकर[10], दक्षिण गमन तो प्राप्त होता है[9]; किन्तु राजरूपक का यह उल्लेख कि उसने आलम को

१—वही, पृ० ४६४।

२—सरकार—हिस्ट्री आव औरंगजेब, वा० ३, पृ० ३५६-६१।

३—वही, पृ० ३६१-६३।

४—मनूकी—स्टोरिया डो मोगोर, वा० २, पृ० २४७।

५—जो रा० इ०, पृ० ४६६ (पा० टि०)।

६—जो० रा० इ०, पृ० ४६६, स्मिथ—आक्सफोर्ड हिस्ट्री आव् इंडिया, पृ० ४४१, सरकार—हिस्ट्री आव् औरंगजेब, वा० ३, पृ० ४१४-१५, मा० इ०, पृ० २६८।

७—वही, सरकार—हिस्ट्री आव् औरंगजेब, वा० ३, पृ० ३६३-४, मा० इ०, पृ० २६९।

८—वही, पृ० ४६७, मा० इ०, पृ० २६९।

९—वही, सरकार—हिस्ट्री आव् औरंगजेब, वा० ३, पृ० ४१८, (वा० ४ पृ० २४९)।

१०—सरकार—हिस्ट्री आव् औरंगजेब, वा० ५, पृ० २७५-७६, मा० इ०, पृ० २७३।

पश्चिम तथा आजम को पूर्व की ओर से अकबर के पीछे भेजा था, नहीं मिलता। इसमें संदेह नहीं कि औरंगजेब का यह कार्य, यदि सत्य हो, सर्वथा स्वाभाविक है। इस मध्यांतर में अजीतसिंह का आबू पर्वत पर रहना अधिक निश्चयात्मक है जैसा कि वीरभांण ने बताया है। राजपूतों द्वारा केवल जोधपुर घेरे जाने का उल्लेख राजरूपक में है किन्तु इतिहासों के अनुसार राजपूतों ने इस अवसर पर विभिन्न स्थलों पर शाही सेना को परेशान किया था[1]।

अष्टम प्रकाश

४०५—इस प्रकाश में राठौड़ों के सोझत पर आक्रमण और अन्य स्थलों में उपद्रव एवं लूट पाट करना, औरंगजेब का सोनंग से संधि करने की योजना बनाना किन्तु सन् १६८१ ई० (आश्विन सुदि ११ वि० सं० १७३८) में उसकी मृत्यु का समाचार जान कर उसे स्थगित कर देना, चांपावत अजबसिंह का सेनापति-पद ग्रहण करना, मेतिया मोहकमसिंह का शाही मनसब त्याग कर राजपूतों से मिलना, राठौड़ों और मुसलमानों का मेड़ता में युद्ध और अनेक योधाओं के साथ उसी वर्ष कार्त्तिक सुदि २ मंगलवार वि० सं० १७३८ में उसका मारा जाना तथा चांपावत उदयसिंह का सेनाध्यक्ष होने का वर्णन है।

साधारण परिवर्तनों के साथ उपरोक्त समस्त विवरण इतिहास-ग्रंथों में उपलब्ध होता है। जो परिवर्तन है वह विशेषतया नामों के संबंध में है[2]।

नवम प्रकाश

४०६—इस प्रकाश में राठौड़ों का पुरमांडल को लूटना, अजमेर में कासिम खाँ का पराजित होकर भागना, जैतारण और भाव्राजण से नूरअली शाही सेना नायक[3] का पराजित होकर भागना वर्णित है।

ये घटनायें पूर्व प्रकाश के वर्णित युद्ध में शृंखलित हैं तथा इतिहास-ग्रंथों से इनकी परिपुष्टि होती है[4]।

दशम प्रकाश

४०७—इसमें राठौड़ों का गुजरात के शासक सैयद मुहम्मद से युद्ध करना[5],

---

१—जो० रा० इ०, पृ० ५००-३, मा० इ०, पृ० २७३-७७।

२—जो० रा० इ०, पृ० ५०३, टॉड—'राजस्थान' वा० २, पृ० १००१-६, सरकार—हिस्ट्री आव् औरंगजेब, वा० ३, पृ० ३७१-२, मा० इ०, पृ० २७३-७५।

३—मा० इ०, पृ० २७६।

४—वही।

५—मा० इ०, पृ० २७६। विशेष—रेऊ ने राजरूपक के आधार पर ही इस घटना को स्वीकार किया है।

राठौड़ हताहतों के नाम, इनायतखाँ और नूरमली से राठौड़ों का युद्ध तथा बाला राठौड़ों से नूरमली (?) का सन् १६८२ ई० (भादों सुदि १३, वि० सं० १७३६) में पराजित होकर भागना पाया जाता है।

इस प्रकाश के इतिवृत्त को भी पूर्व प्रकाश की शृंखला समझना चाहिये। इतिहासकारों ने इनका भी उल्लेख किया है[1]।

एकादश प्रकाश

४०८—इसमें सोजत के शासक सीदी तथा उदयसिंह की संधि तथा सन् १७८२ ई० (मार्ग शीर्ष वदि १२ वि० सं० १७३६) में जैतारण में नूरमली की पराजय का उल्लेख है।

यह भी घटना राठौड़ों की लूट पाट से संबंधित शृंखला है तथा इतिहासों में प्राप्य है[2]। अंतर केवल इतिहास से इतना है कि इसमें अपेक्षाकृत विस्तार की अधिकता है।

द्वादश प्रकाश

४०६—विस्तार की दृष्टि से यह प्रकाश बड़ा है। इस प्रकाश की घटनाओं में भाटी रामसिंह का अब्दुल्लाखाँ (अबदलखाँ) को मारना, मेड़तिया मोहकमसिंह का सैयदअली (सेदअली) को मारना, तथा शेख गौहर का भागना, जालम का असदखान के पुत्र को हराना, पाली से राठौड़ों के आक्रमण के कारण खडाला का पलायन करना, राठौड़ों का जोधपुर और अजमेर के आस-पास उपद्रव करना, मिणियारी में राठौड़ों और नूरमली का युद्ध (वैशाख वि० सं० १७४०) करना, चौहानों का मंडोर लूटना और खोजा साहबा से युद्ध करना तथा सोजत में सैराणी से युद्ध करते हुये सामंत रामसिंह का मृत्यु का वरण करना है।

इस प्रकाश की घटनायें भी राजपूतों के उपद्रव और लूट मार से संबंध रखती हैं किन्तु ये विस्तार इतिहास-ग्रंथों में नहीं के समान उपलब्ध हैं।

त्रयोदश प्रकाश

४१०—राजपूतों का उसतरां के थानेदार कूंपावत आना को पराजित कर थाना लूटना, मेड़ता में मोहम्मद अली का धोखे से आषाढ़ सुदि ६ मंगलवार वि० सं० १७४० को मोहकमसिंह को मार डालना[3], सोजत के थानेदार सुजाणसिंह से

१—जो० रा० इ०, पृ० ५०३।

२—वही।

३—रेऊ—मा० इ०, पृ० २७७—ने इस घटना को रा० रू० के आधार पर स्वीकार किया है।

राजपूतों का युद्ध और उरजनोत भाटी महेशदास का मारा जाना, चांपावत उदयसिंह की अध्यक्षता में राजपूतों का बीकानेर की ओर जाकर शाही थानेदारों को पदच्युत करना, और जोधपुर पर आक्रमण करना तथा जूंझारसिंह के पुत्र संग्रामसिंह का मनसब त्याग कर राजपूतों से मिलना—इस प्रकाश की घटनायें हैं।

उपरोक्त समस्त घटनायें भी राजपूतों के औरंगजेब की नीति के विद्रोह से संबंध रखती हैं तथा पूर्व प्रकाशों में वर्णित राजपूतों के उपद्रव के ही अंतर्गत प्रतीत होती हैं। इतिहास-पुस्तकों में इन विस्तारों की उपलब्धि नहीं होती।

चतुर्दश प्रकाश

४११—इसमें नूरमली की राठौड़ों पर चढ़ाई का वर्णन है। इस युद्ध में वीरभाण के अनुसार राठौड़ों ने मुगलों का आराब, २५ हजार की एक तोप और १०० ऊँट हस्तगत कर लिये थे। इसमें ५०० यवन मरे तथा १००० आहत हुए थे। यह लड़ाई भाद्राजण में सन् १६८४ ई० में (माघ सुदि ७ शनिवार वि० सं० १७४१) में हुई थी। मुगलों की भारी क्षति होने के कारण इनायता खाँ ने नूरमली के सहायतार्थ मुहम्मदअली को भेजा था।

इस घटना का उल्लेख मुसलमान इतिहासों में नहीं प्राप्य है किन्तु रेऊ जी ने इसे अपने 'मारवाड़ का इतिहास' में स्वीकार किया है तथा इस घटना की पुष्टि में एक प्रमाण भी उपस्थित किया है[1]। यदि यह घटना सत्य हो तो, जिसकी संभावना अधिक है, औरंगजेब की असफलताओं की दृष्टि से महत्वपूर्ण समझा जाना चाहिये।

पंचदश प्रकाश

४१२—फिरोज खाँ मिवाती के पुत्र पुरदिल खाँ[2] का सिवाना जाना और पलायमान होना, नूरमली और सबलसिंह भाटी का युद्ध, मुगलों का सबलसिंह की दो पुत्रियों को पकड़ना और उनके रक्षार्थ सबलसिंह का कैद होना, काकाणी के थाने पर दोनों सेनाओं में युद्ध होना तथा पुरदिलखाँ का मारा जाना—इस प्रकाश में वर्णित है। यह युद्ध २ अप्रैल सन् १६८५ ई० (चैत्र सुदि १ वि० सं० १७४२) को हुआ था। राजरूपक के अनुसार इस युद्ध में राठौड़ों के १०० तथा मुसलमानों के ६०० योधा वीरगति को प्राप्त हुये थे।

१—मा० इ०, (प्रथम भाग) पृ० २७७।

२—मुआसिरे आलमगीरी, पृ० १५६, एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल।

इस घटना का उल्लेख 'मुआसिरे आलमगीरी' में मिलता है[1]। विश्वेश्वर नाथ रेऊ ने भी इसका उल्लेख किया है[2]। यह राजपूतों को दमन करने का शाही-सेना की ओर से एक प्रयत्न था।

षोडश प्रकाश

४१३—इस प्रकाश में विशेषतया राजपूतों की सफलताओं का वर्णन है। इनके अंतर्गत कुचील गाँव में सबलसिंह का मिरजा नूरमली को मारने के उद्योग में असफल होकर युद्ध करते हुये दिवंगत होना, ज्येष्ठ सुदि ३ वि० सं० १७४२ में वीसलपुर के समीप युद्ध में मीरफतू (?) के मामा अबदुल्ला (?) को मारना, सन् १६८५ ई० (मार्गशीर्ष वदि १० वि० सं० १७४२) में तोडा में नूरमली और शेख वंहवदी को मारना, तथा साचोर का थाना लूटना, मेड़ता में रावण खंड (कटे होठों वाला) मिरजा मुहम्मद अली (?) को घेर कर पराजित करना तथा सन् १६८५ ई० (वि० सं० १७४२ के अंतिम भाग) में जोधपुर को घेरने का उल्लेख है।

जैसा प्रकट है, यह प्रकाश राजपूतों की सफलताओं तथा औरंगजेब की असफताओं की दृष्टि से निस्संदेह महत्वपूर्ण है किन्तु खेद का विषय है कि इतिहास-ग्रंथों से इन घटनाओं पर किंचित् प्रकाश नहीं पड़ता।

सप्तदश प्रकाश

४१४—इस प्रकाश के वर्ण्य-विषय के अंतर्गत मिरजा मुहम्मद अली का भाद्राजण से भागना और खुशहाल वेग इक्का का मारा जाना, राठौड़ों का जालोर को लूटना तथा युद्ध के बिना ही फतहखान का भागना, राठौड़ों का देईझर लूटना, वि० सं० १७४३ में राठोड़ों की इच्छानुसार महाराजा अजीतसिंह का दर्शन देना, इनायत खाँ का महाराजा के प्रकट होने का संदेश औरंगजेब के पास भेजना, अजीतसिंह का देश भ्रमण करना तथा दक्षिण से आकर दुर्गादास का मीमरलाई में जाकर महाराजा को श्रद्धांजलि समर्पण करना है।

जहाँ तक इस प्रकाश में की गई राजपूतों की सफलताओं का सम्बन्ध है, इतिहास मौन है। लगभग ८ वर्ष तक गुप्त रहने के उपरान्त अजीतसिंह के प्रकट होने की घटना इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण थी, अतः इसका उल्लेख अनेक इतिहास-कारों ने किया है। उनके अनुसार अजीतसिंह ने १८ मार्च सन् १६८७ ई० (चैत्र सुदि १५, वि० सं० १७४४) को राजपूतों को दर्शन दिया था[3]। ऐसे शुभ अवसर पर

१—वही (इसमें घटना की तिथि १४ अप्रैल दी है)।

२—मा० इ० (प्रथम भाग), पृ० २७७।

३—जो० रा० इ०, पृ० ५०६, मा० इ०, पृ० २७८, टॉड—"राजस्थान" वा० २, पृ० १००७।

दुर्गादास का उपस्थित होना स्वाभाविक था[1]। किन्तु उस समय दूर दक्षिण में रहने के कारण दुर्गादास महाराजा से बाद में मिला था। साथ ही इनायत खाँ का इस वृत्तान्त की सूचना बादशाह के पास भेजना भी स्वाभाविक था[2]। इन घटनाओं का भी उल्लेख इतिहास-पुस्तकों में प्राप्य है।

अष्टादश प्रकाश

४१५—इस प्रकाश में इनायत खाँ की वि० सं० १७४४ में मृत्यु होना, औरंगजेब का कृत्रिम अजीतसिंह (मुहम्मदराय नामक जसवंतसिंह के पुत्र) को उत्तराधिकारी घोषित करना तथा उसकी मृत्यु, राठौड़ों की सहायता से हाडा दुर्जनसाल का बूँदी जाकर शाही सेना को भगाना किन्तु स्वयं गोली खाकर मरना, शुजाअत खाँ का चौथ देकर संधि के लिये प्रस्तुत होना तथा इनायत खाँ के पुत्र अहमद अली को राठौड़ों का लूटना वर्णित है।

इनायत खाँ की मृत्यु का होना इतिहासों से प्रमाणित है[3]। कृत्रिम अजीतसिंह को औरंगजेब ने प्रकट किया था, यह बात भी इतिहासकार स्वीकार करते हैं; किन्तु औरंगजेब के दुर्भाग्य से उसकी मृत्यु सन् १६८८ ई० (वि० सं० १७४५) में बीजापुर में हो गई थी[4]। राजरूपक के कर्ता ने जिस घटना का उल्लेख हाडा दुर्जनसाल से सम्बन्धित बताया है, इतिहासकार उसे दुर्गादास से भी सम्बन्धित करते हैं। सरकार के अनुसार इसमें दोनों ही सम्मिलित थे और मुगलों की गोली से हाडा दुर्जनसाल मारा गया था[5]। राजपूतों का मुगलों से चौथ वसूल करना प्रायः अधिकांश इतिहासकार स्वीकार करते हैं[6]। इनायत खाँ के पुत्र मुहम्मद अली से सम्बन्धित घटना को रेऊ जी ने अंगीकार किया है और उसकी पुष्टि एक अन्य साधन से भी किया है[7]।

१—वही, पृ० ५०७, वही, पृ० २७६।

२—वही, पृ० ५०८, वही, पृ० २८०।

३—सरकार—हिस्ट्री आव् औरंगजेब, वा० ३, (पा० टि०) पृ० ४२३, जो० रा० इ०, पृ० ५०८, मा० इ०, पृ० २८०।

४—मा० इ०, पृ० २८०, मुआसिरे आलमगीरी, पृ० ३१८।

५—जो० रा० इ०, पृ० ५०७, मा० इ०, पृ० २७६, सरकार—हिस्ट्री आव् औरंगजेब, वा० ५, पृ० २७२।

६—सरकार—हिस्ट्री आव् औरंगजेब, वा० ३, पृ० ३७२, वा० ५, पृ० २७३, जो० रा० इ०, पृ० ५०६-७, मा० इ०, पृ० २८० (पा० टि०)।

७—मा० इ०, पृ० २८१।

एकोनविंश प्रकाश

४१६—इस प्रकाश में वीरभांण द्वारा कथित इतिवृत्तों का ब्योरा इस प्रकार है—औरंगजेब का शम्भा मरहठा को पकड़ना, मारवाड़ में काजमवेग का आगमन, राठौड़ों और सुजावेग का युद्ध और सुजावेग का पलायन, महाराजा अजीतसिंह का पीपलोद में निवास करना, शफी खाँ का दुर्गादास से पराजित होकर अजमेर से भागना तथा औरंगजेब को मिथ्या सूचना प्रदान करना कि दुर्गादास घायल होकर दक्षिण की ओर भाग गया है, मियां ईशाक (इसहाक) का महाराजा की खोज में पीपलोद जाना तथा शफी खाँ का पत्र दिखाना, महाराजा का २०००० राठौड़ों के साथ अजमेर जाना और वापस लौटना, अजीतसिंह का महाराणा जयसिंह तथा उनके पुत्र अमरसिंह की पारस्परिक कलह का अंत कराना, सन् १६६२ ई० (सं० १७४६ वि०) में लाखा का मीर इक्का को मारना, औरंगजेब का अपनी पोती के संबंध में चिंता करना तथा दुर्गादास को पकड़वाने का असफल प्रयत्न करना और इस संबंध में उसका शुजाअत खाँ को निर्देश देना, महाराजा अजीतसिंह का लशकर खाँ को पराजित कर भगाना, औरंगजेब के आग्रह से दुर्गादास का शाहजादा अकबर की स्त्री को दक्षिण भेजना और उसके पुत्र-पुत्री को अपने पास रखना, महाराजा अजीतसिंह का महाराणा तथा उसके पुत्र अमरसिंह का गृहकलह शान्त कराना और महाराणा का अपने भाई गजसिंह की कन्या से अजीतसिंह का ज्येष्ठ वि० सं० १७५३ में और आसाढ़ सुदि ६ वि० सं० १७५३ में देवलिया के राजा की कन्या का पाणिग्रहण करना, औरंगजेब का शुजाअत खाँ द्वारा दुर्गादास से संधि प्रस्ताव करना एवं महाराजा का शाहजादा, सुजाअत खाँ और दुर्गादास के साथ जोधपुर पदार्पण करना।

शाहजादा अकबर का दुर्गादास के साथ शम्भा जी के पास जाना प्रमाणित है[1] अस्तु औरंगजेब का पहला लक्ष्य दक्षिण में जाकर उसे पकड़ना स्वाभाविक था। इस बात की पुष्टि इतिहासों से होती है[2]। काजिमबेग के मारवाड़ में आगमन तथा शफी खाँ का उल्लेख तो इतिहासों में मिलता है[3] किन्तु सुजाबेग के युद्ध और पलायन की घटना का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। मुसलमानों की पराजय से संबंधित होने के कारण मुसलमान-इतिहासकारों का इस घटना का उल्लेख न करना असंभव नहीं है। इतिहास की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण नवीन सूचना समझी जा सकती

१—सरकार—हिस्ट्री आव औरंगजेब, वा० ३, पृ० ३६४-७, वा० ४, पृ० २४६, जो० रा० इ०, पृ० ४६६, मा० इ०, पृ० २७१।

२—वही, पृ० ३६७।

३—मा० इ०, पृ० २८१।

है। शफी खाँ के दुर्गादास द्वारा पराजित होने का इतिवृत्त इतिहास में है[१]। ईशाक मियां के महाराजा का पता लगाने के लिये आने की सूचना इतिहासों में अप्राप्य है। शफी खाँ के द्वारा महाराजा अजीतसिंह को धोखा देकर अजमेर बुलाने का भी उल्लेख है। तदनुसार, महाराजा उससे मिलने गये थे और शफी खाँ को विवश होकर महाराजा को उपहार प्रदान करना पड़ा था[२]। महाराजा द्वारा महाराणा और उनके पुत्र में पुनः वैषम्य हो जाने पर मध्यस्थता करने का उल्लेख भी इतिहासों में उपलब्ध होता है[३]। औरंगजेब द्वारा अपनी पोती के संबंध में दुर्गादास से बातचीत करने का उल्लेख तो इतिहास में उपलब्ध होता है[४] किन्तु दुर्गादास के पकड़ने के प्रयत्न कराने का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। लेकिन औरंगजेब की ओर से परिस्थितियों को देखते हुये, इस प्रकार के प्रयत्न किये जाने की बात असंभव नहीं कही जा सकती। महाराजा अजीतसिंह से लशकर खाँ को हराने की वार्त्ता भी इतिहास में मिलती है[५]। दुर्गादास ने अकबर की स्त्री को पृथक् से औरंगजेब के पास भेजवाया था, ऐसा कोई उल्लेख इतिहास में नहीं देखने में आता। महाराजा अजीतसिंह के व्याहों का वृत्तान्त इतिहास से प्रमाणित होता है[६]। अपने पौत्र और पौत्री को प्राप्त करने के निमित्त औरंगजेब ने दुर्गादास के पास संधि का प्रस्ताव भेजा था, यह भी साधारण वैवरणिक अंतर के साथ इतिहास से परिपुष्टि है[७] तथा महाराजा का जोधपुर आना भी टॉड के अनुसार ठीक प्रतीत होता है[८]।

विंश प्रकाश

४१७—इस प्रकाश में दुर्गादास के दक्षिण जाने, सन् १६९८ ई० (सं० १७५५ वि०) में जालोर पर अधिकार करने, महाराजा के पांच अन्य व्याह करने, शुजाअत खां की मृत्यु होने के कारण आजम के गुजरात का सूबेदार होने तथा

१—मा० इ०, पृ० २८१-२८२, जो० रा० इ०, पृ० ५१०-११, हिस्ट्री आव् औरंगजेब, पृ० २७८-९ (वा० ५)।

२—जो० रा० इ०, पृ० ५१०-५११, मा० इ०, पृ० २८३।

३—जो० रा० इ०, पृ० ५१४।

४—जो० रा० इ०, पृ० ५११-१२, ५१३-१४, सरकार—हिस्ट्री आव् औरंगजेब, वा० ५, पृ० २८०, टॉड—'राजस्थान' वा० २, पृ० १०१०।

५—जो० रा० इ०, पृ० ५१४, मा० इ०, पृ० २८४।

६—वही, टॉड—'राजस्थान' वा० २, पृ० १०१०।

७—जो० रा० इ०, पृ० ५१५-१८।

८—टॉड—'राजस्थान' वा० २, पृ० १०११।

महाराज कुमार अभयसिंह के सन् १७०२ ई० (मार्गशीर्ष वदि १४ वि० सं० १७५१) में जन्म होने की घटनायें लिखित हैं।

दुर्गादास के दक्षिण में जाने की घटना औरंगजेब से संबंधित है। इसका उल्लेख मुसलमान-इतिहासकारों ने भी किया है[१]। महाराजा अजीतसिंह का जालोर पर अधिकार करने का उल्लेख भी इतिहास ग्रंथों में है; किन्तु उनके अनुसार अन्य स्थानों के साथ जालोर उन्हें औरंगजेब से जागीर के रूप में मिला था[२]। अजीतसिंह के विवाहों का उल्लेख इतिहास-ग्रंथों में अप्राप्य है। शुजाअत खाँ की मृत्यु तथा उसके पश्चात् आजम के गुजरात के सूबेदार होने का इतिवृत्त भी इतिहास-पुष्ट घटनायें हैं[३]। महाराजकुमार का जन्म भी डा० ओझा ने चौहान रानी से, जो कि वीरभांण के अनुसार अजीतसिंह की छठीं रानी तथा चौहान चतुरसिंह की पुत्री थी, लिखा है[४]।

एकविंश प्रकाश

४१८—इसमें सन् १७०३ ई० (वि० सं० १७६०) में अजीतसिंह के ८ वें विवाह, जो कि उन्होंने साचोर के सहसमल की पुत्री से किया था, मुरशिदकुली से मेड़ता प्राप्त करना, राव इन्द्रसिंह के पुत्र मोहकम सिंह का महाराजा के प्रति ईर्षान्वित होना तथा जालोर पर आक्रमण करना और सन् १७०५ ई० (माघ सुदि १३ वि० सं० १७६२) के युद्ध में अजीतसिंह को उसे पराजित करना वर्णित है।

प्रथम घटना का उल्लेख इतिहासकारों ने नहीं किया है। मुरशिदकुली ने अजीतसिंह को मेड़ता प्रदान किया था इसे टॉड ने स्वीकार किया है[५]। मोहकमसिंह और अजीतसिंह के मध्य होने वाले युद्ध को अनेक इतिहासकारों ने माना है[६]। टॉड के मतानुसार तो मोहकमसिंह इस युद्ध में मारा भी गया था[७] किन्तु राजरूपक से

१—सरकार—हिस्ट्री आव् औरंगजेब, वा० ५, पृ० २८४-५, जो० रा० इ०, पृ० ५१७-५१८।

२—वही, पृ० २८४, जो रा० इ०, पृ० ५१७।

३—वही, पृ० २८७, बांबे गजेटियर, भा० १, खंड १, पृ० २६१, मा० इ०, पृ० १८८।

४—जो० रा० इ०, पृ० ५२२।

५—टॉड—'राजस्थान' वा० २, पृ० १०११।

६—सरकार—हिस्ट्री आव् औरंगजेब, वा० ५, पृ० २४१-२, जो० रा० इ०, पृ० ५२४, मा० इ०, पृ० २६०-१।

७—टॉड—'राजस्थान' वा० २, पृ० १०११-१२।

टॉड के कथन का खंडन हो जाता है। इस संबंध में राजरूपक के कर्त्ता का कथन अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है।

द्वाविंश प्रकाश

४१९—इस प्रकाश में अजीतसिंह का जोधपुर पर अधिकार करना तथा औरंगजेब का रोग-ग्रस्त होना और संसार त्याग कथित है।

इतिहास-ग्रंथों के अनुसार भी महाराजा अजीतसिंह ने औरंगजेब की मृत्यु[1] के पश्चात् तुरन्त ही जोधपुर पर अधिकार किया था[2]। यहाँ यह संकेत कर देना आवश्यक है कि इस प्रकाश में कुछ अन्य साधारण ऐतिहासिक घटनायें भी उल्लिखित हैं जो कि अजीतसिंह की सफलताओं से संबंध रखती हैं और उस दृष्टि से महत्वपूर्ण भी कही जा सकती हैं।

त्रयोविंश प्रकाश

४२०—इसमें शाहआलम का बादशाह होना, शाहआलम (बहादुरशाह) तथा महाराजा अजीतसिंह की भेंट, शाहआलम का अजीतसिंह के साथ कामबख्श पर आक्रमण करने जाना, नर्मदा से अजीतसिंह का जयपुर-नरेश के साथ वापस लौटना, दोनों नरेशों का महाराणा संग्रामसिंह से मिलना, अजीतसिंह का जोधपुर आना, और सूबेदार महराब खाँ का गढ़ छोड़कर जाने का वृत्तान्त है।

इस प्रकाश में महाराजा अजीतसिंह का एक ओर मुगलों तथा दूसरे ओर राजपूतों से सम्बन्ध दिखाया गया है। शाहआलम का आजमशाह से युद्ध करने के बाद अपने को दिल्लीपति घोषित करना इतिहास से प्रमाणित है[3]। शाह आलम तथा अजीतसिंह के भेंट की घटना भी इतिहासों में प्राप्य है[4]। शाहआलम कामबख्श पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये दक्षिण की ओर गया था और अजीतसिंह तथा जयसिंह मार्ग से ही उसे छोड़कर वापस चले आये थे, ये घटनायें भी इतिहास से पुष्ट होती हैं[5]। अजीतसिंह और जयसिंह महाराणा के पास उदय-

---

१—सरकार—हिस्ट्री आव् औरंगजेब, वा० ५, पृ० २५५-८, मुआसिरे आलमगीरी, पृ० ३०८।

२—वही, पृ० २९१-९२, जो० रा० इ०, पृ० ५२७, मा० इ०, पृ० २९१-९२, मा० रा० इ०, पृ० १५९।

३—लेटर मुगल्स, वा० १, जो० रा० इ०, पृ० ५३१।

४—वही, पृ० ४८, जो रा० इ०, पृ० ५३२-३३, मा० इ०, पृ० २९४-९५।

५—जो० रा० इ०, पृ० ५३४-३५, मा० इ०, पृ० २९५।

पुर गये थे, यह भी इतिहास-ग्रंथों से सिद्ध होता है[१]। महराब खाँ द्वारा जोधपुर के किले को छोड़ देने का उल्लेख भी इतिहास-पुस्तकों में प्राप्त होता है[२]।

चतुर्विंश प्रकाश

४२१—इस प्रकाश में महाराजा अजीतसिंह का सैयदों को पराजित कर सांभर हस्तगत करना तथा जयसिंह को आंबेर के राजसिंहासन पर बिठाना वर्णित है।

उपर्युक्त दोनों ही घटनाओं का होना इतिहासकारों ने स्वीकार किया है[३]। हुसेनअली खां को अजीतसिंह और जयसिंह ने रात्रि के समय आक्रमण कर भगा दिया था, ये सफलतायें अजीतसिंह के बढ़ते हुए प्रताप और गौरव की द्योतक कही जा सकती हैं।

पंचविंश प्रकाश

४२२—आलमशाह का कामबख्श को मार कर दक्षिण से आना और महाराजा द्वारा सांभर का अधिकृत किया जाना सुनकर दुखी होना, महाराजा को दीपावत भंडारी खीमसी और रघुनाथ को राज-काज के निरीक्षण के निमित्त नियुक्त करना, अजीतसिंह का इन्द्रसिंह से नागोर हस्तगत करना, अजीतसिंह का कोलिया ग्राम में जयसिंह से मिलना, शाहआलम का अजमेर जाकर अजीतसिंह और जयसिंह को क्रमशः जोधपुर और जयपुर का राज्य प्रदान करना, अजीतसिंह का गौड़रानी के साथ जवां व्याह करना तथा कुरुक्षेत्र और हरिद्वार होकर जोधपुर पदार्पण करना, शाहआलम की मृत्यु, मुइज्जुद्दीन जहांदारशाह का बादशाह होना, अजीतसिंह को दक्षिण और गुजरात की सूबेदारी मिलना, फर्रुखसियर का मुइज्जुद्दीन को मारकर बादशाह होना, फर्रुखसियर का जुलफिकार का बध कराना, मोहकमसिंह का दिल्ली जाना और वहाँ मारा जाना—इस प्रकाश का विषय है।

इस प्रकाश की घटनाओं पर विहंगम दृष्टि डालने से विदित होता है कि यह अत्यधिक राजनैतिक उथल-पुथल से सम्बन्धित अध्याय है। विलियम इरविन के अनुसार कामबख्श की मृत्यु सन् १७०६ ई० में हुई थी[४]। दक्षिण से लौटने पर महाराजा का सांभर पर अधिकार करने का हाल सुन कर उनका दुखी होना

१—वही, पृ० ५३५-३६।

२—वही, पृ० ५३६-३७, लेटर मुगल्स, वा० १, पृ० ६७, 'राजस्थान' वा० २, पृ० १०१४। मा० इ०, पृ० २६६।

३—मा० इ०, पृ० २६६-६८, जो० रा० इ०, पृ० ५४३, टॉड—'राजस्थान', वा० २ पृ० १०१५, लेटर मुगल्स, वा० १ पृ० ६६-७०।

४—लेटर मुगल्स, वा० १, पृ० ६२-६४।

स्वाभाविक ही था। महाराजा ने इन्द्रसिंह से नागोर छीन लिया था, इस घटना की पुष्टि इतिहास से होती है[1]। रेऊ के अनुसार अजीतसिंह शाहआलम का सामना करने के लिये तत्पर थे[2] किन्तु शाहआलम ने अपनी विषम परिस्थितियों को देखते हुये स्वयं ही संधि कर ली और अजीतसिंह को जोधपुर तथा जयसिंह को जयपुर का स्वत्व प्रदान किया था[3]। अजीतसिंह के अन्य कुछ विवाहों के समान इस विवाह का उल्लेख भी इतिहास-लेखकों ने नहीं किया है। महाराजा का भ्रमण करना इतिहास-पुस्तकों से मेल रखता है[4] यद्यपि राजरूपक में भ्रमण के स्थल अपेक्षाकृत अधिक हैं।

शाहआलम की मृत्यु के कारण के सम्बन्ध में इतिहास-लेखकों में मतभेद है[5]। बील के अनुसार उसकी मृत्यु २६ फरवरी सन् १७१२ ई० में हुई थी[6]। विलियम इरविन ने भी इसी तिथि को उसके मरने का संकेत किया है[7]। शाह-आलम के मरणोपरांत उसके पुत्रों में भी उत्तराधिकार-युद्ध हुआ जिसमें कि मौजुद्दीन (मुइज्जुद्दीन जहांदारशाह) को सफलता मिली जो कि अनंतर बादशाह हुआ[8]। वह अधिक समय तक राज्यसुख का उपभोग भी नहीं कर सका कि फर्रूखसियर (अजीमेश्शान का पुत्र) ने उस पर आक्रमण कर उसे कैद करा लिया और १ फरवरी सन् १७१३ ई० में उसका बध करा दिया[9]। इस प्रकार फर्रूख-सियर और सैयद लोग शक्तिमान् हो गये। इन्द्रसिंह के पुत्र मोहकमसिंह ने सैयदों की शक्ति में वृद्धि होते देख उनसे मेल-जोल बढ़ाना प्रारम्भ किया जिसे जानकर अजीतसिंह ने उसे अपने आदमियों से दिल्ली में मरवा डाला।[10]

१—जो० रा० इ०, पृ० ५४५, मा० इ०, पृ० २६६-३००।

२—मा० इ०, पृ० ३००।

३—मा० इ०, पृ० ३०१, जो रा० इ०, पृ० ५४३-४४, लेटर मुगल्स, पृ० ७१ (वा० १)।

४—जो० रा० इ०, पृ० ५४६, मा० इ०, पृ० ३०३।

५—जो० रा० इ०, पृ० ५५१ (पा० टि०)।

६—बील—एन ओरिएंटल बायोग्राफिकल डिक्शनरी, पृ० ६५।

७—लेटर मुगल्स, पृ० १३३।

८—जो० रा० इ०, पृ० ५५१, लेटर मुगल्स, वा० १, पृ० १८६।

९—लेटर मुगल्स, पृ० १८६, २०५-४०, २४५-५५ (वा० १), जो० रा० इ०, पृ० ५५१-५३, मा० इ०, पृ० ३०३।

१०—जो० रा० इ०, पृ० ५५४-५५५, मा० इ०, पृ० ३०५-६।

षड्विंश प्रकाश

४२३—इस प्रकाश के इतिवृत्त के रूप में सैयद हसनअली खाँ का महाराजा पर आक्रमण करने के लिये अजमेर जाना, अजीतसिंह का सामना करने के लिये जाना किन्तु पुनः संधि करने का निश्चय कर जोधपुर आना और महाराज-कुमार अभयसिंह को दिल्ली भेजना, अभयसिंह का फर्रुखसियर से मिलना तथा उसका इनको गुजरात का सूबा प्रदान करना और अभयसिंह का जोधपुर पुनरागमन हैं।

इतिहास के अनुसार फर्रुखसियर ने एक ओर तो सैयद हसनअली खां (हुसेनअली खां) को अजमेर आक्रमण करने के निमित्त भेजा था और दूसरी ओर अजीतसिंह को उसे मार डालने के लिये प्रोत्साहन दे रहा था[1]। अजीतसिंह ने छोटे सैयद को दिल्ली के राजदरबार से प्राप्त तत्सम्बन्धी पत्र भी दिखाये थे। इसी कारण पहले तो कदाचित् अजीतसिंह ने हुसेनअली खां से लोहा लेने का निश्चय किया होगा किन्तु उसकी दोहरी चाल को समझ कर संधि करने का निश्चय किया। इसी निश्चय के अनुसार उन्होंने अभयसिंह को संधि करने के लिये दिल्ली भेजना उचित समझा और तदनुसार वे दिल्ली भी गये[2]। फर्रुखसियर ने उन्हें गुजरात का सूबा प्रदान किया[3]। ये घटनायें इतिहास से परिपुष्ट हैं।

सप्तविंश प्रकाश

४२४—इसमें महाराजकुमार अभयसिंह के गुजरात प्रान्त को जाने का उल्लेख है। इसका वर्णन इतिहास-ग्रंथों में मिलता है[4] किन्तु उनसे महाराजा का स्वयं भी अहमदाबाद जाना विदित होता है।

अष्टविंश प्रकाश

४२५—इसमें अजीतसिंह का सन् १७१६ ई० (श्रावण सुदि ३ वि सं० १७७३) में नागोर पर अधिकार करना और राव इन्द्रसिंह का उनकी शरण में आना वर्णित है। इस घटना को रेऊ ने अपने इतिहास में राजरूपक के आधार पर ही कदाचित् स्थान दिया है तथा एक अन्य पुस्तक के तत्सम्बन्धी इतिवृत्त से उसकी परिपुष्टि भी की है[5]।

१—वही, पृ० ५५५-५६।

२—लेटर मुगल्स, वा० १, पृ० २६०, जो० रा० इ०, पृ० ५५६-६०, मा० इ०, पृ० ३०७-८।

३—वही।

४—जो० रा० इ०, पृ० ५६०-६१, मा० इ०, पृ० ३०८।

५—मा० इ०, पृ० ३०६।

एकोनविंश प्रकाश

४२६—इस प्रकाश में महाराजा अजीतसिंह की सेना द्वारा जैतावत अर्जुनसिंह और इन्द्रसिंह के पुत्र मोहनसिंह के मारे जाने का वर्णन है। इतिहास में जैतावत अर्जुनसिंह के मारे जाने का इतिवृत्त तो लेखक को देखने को नहीं मिला किन्तु मोहन सिंह के मारे जाने का उल्लेख अवश्य प्राप्त हो सका है। यहाँ यह संकेत कर देना आवश्यक है कि डा० ओझा ने मोहन सिंह की मृत्यु भिन्न परिस्थिति में दिखाई है[1]।

त्रिंश प्रकाश

४२७—इसमें महाराजा द्वारा झालों से हलवद राज्य का विजय किया जाना और उनका द्वारकानाथ के दर्शन करने का वृत्तान्त है। इस घटना का उल्लेख रेऊ जी ने भी अपने इतिहास में किया है[2]।

एकत्रिंश प्रकाश

४२८—महाराजा अजीतसिंह का द्वारका से जोधपुर आना और दिल्ली जाते हुये मार्ग में देवड़ा मानसिंह की पुत्री का पाणिग्रहण करना, पुष्कर और अलावर्दी सराय में ठहरना, सैयदों का महाराजा अजीतसिंह का स्वागत करना, फर्रूखसियर और अजीतसिंह का अनेक बार मिलना, हसनअली खां के साथ मिलकर महाराजा का फर्रूखसियर को मरवाकर रफील उद्दरजात को दिल्ली के सिंहासन पर बिठाना, उसके मर जाने पर रफीउद्दौला को सिंहासनासीन कराना और उसके भी मर जाने पर मुहम्मदशाह को बादशाह बनाना, इस प्रकाश के इतिवृत्त हैं।

इस प्रकाश में वर्णित दिल्ली पहुँचने से पूर्व के महाराजा अजीतसिंह सम्बन्धी विस्तार इतिहास में नहीं प्राप्त होते। इन्हे अजीतसिंह संबंधी अतिरिक्त घटना समझना चाहिये। साथ ही अजीतसिंह सम्बन्धी उनके गुजरात के सूबेदारी से च्युत किये जाने की घटना[3] को कदाचित् वीरभांण ने जान-बूझ कर छोड़ दिया है, कारण इससे उनका अपमान स्पष्ट होता था। फर्रूखसियर द्वारा अजीतसिंह के

१—जो० रा० इ०, पृ० ५५५।

२—मा० इ०, पृ० ३१०।

४—इलियट—हिस्ट्री आव् इंडिया, वा० ७, पृ० ५१७, जो० रा० इ०, पृ० ५६७-८।

दिल्ली बुलाये जाने पर वहां उनका जाना तथा उससे मिलना भी इतिहास में प्राप्त होता है[१]। इतना ही नहीं फर्रूखसियर पर कदाचित् अजीतसिंह का इतना आतंक छाया था कि उसने इन्हें गुप्त रूप से मरवा डालने के असफल उद्योग भी किये[२] और एक बार तो उसने इनसे क्षमा याचना तक की थी[३]। ये घटनायें-इतिहासों में प्राप्य है। पता नहीं क्यों वीरभांण ने इनका विवरण नहीं दिया। अजीतसिंह का हसन अली खां (हुसेनअली खां) से मिलकर फर्रूखसियर को कैद कराना तथा उसकी हत्या कराना इतिहास की प्रामाणिक घटना है[४]। अनंतर क्रमशः रफीउद्दरजात[५], जो कि फर्रूखसियर के पश्चात् दिल्ली के सिंहासन पर बिठाया गया था, तथा रफीउद्दौला की मृत्यु होना[६] और अंत में मुहम्मदशाह का बादशाह होना[७] इतिहास की अत्यन्त प्रमुख घटनायें होने के कारण मुगलकालीन सभी इतिहासों में प्राप्य हैं।

द्वात्रिंश प्रकाश

४२६—इस प्रकाश का विषय नेकू (निकोसियर) बादशाह का कैद किया जाना, अजीतसिंह का हसनअली खां से जयसिंह की रक्षा करना, दिल्ली से जोधपुर वापस आते समय मनोहरपुर में ११ वाँ विवाह करना तथा जोधपुर आकर सामंतों के परामर्श से सन् १७१७ ई० (ज्येष्ठ वदि ६ वि० सं० १७७६) में राजकुमारी चंद्रकुँवरि का जयसिंह से व्याह करना है।

निकोसियर का कैद किया जाना इतिहास-लेखकों ने स्वीकार किया है[८]। सैयदों और जयसिंह में संधि कराने का उल्लेख भी इतिहासकारों ने किया है[९]। इसके अतिरिक्त शेष घटनायें जो कि अजीतसिंह के पारिवारिक जीवन से संयुक्त हैं, उनका वृत्त इतिहासों में अप्राप्य हैं।

१—जो० रा० इ०, पृ० ५६६-७२, लेटर मुगल्स, वा० १, पृ० ३३६-५३।
२—लेटर मुगल्स, वा० १, पृ० ३५३-६, जो० रा० इ०, पृ० ५७२-७३, ५७४।
३—वही, पृ० ३५७-६३, वही, पृ० ५७४।
४—जो० रा० इ०, पृ० ५७७-८१, लेटर मुगल्स, पृ० ३६१-६४ (वा० १)।
५—लेटर मुगल्स, वा० १, पृ० ४१७-८, जो० रा० इ०, पृ० ५८३।
६—वही, वा० १, पृ० ४३०-३२, तथा वा० २, पृ० १-२, वही, पृ० ५८५-६।
७—वही, वा० २, पृ० १-२।
८—लेटर मुगल्स, वा० १, पृ० ४२२-२८, जो० रा० इ०, पृ० ५८३-४।
९—मा० इ०, पृ० ३१७-१८।

त्रयस्त्रिंश प्रकाश

४३०—इसमें महाराजा अजीतसिंह का अजमेर पर अधिकार करने का वर्णन है। डा० गौरीशंकर ओझा ने अजमेर पर अजीतसिंह के अधिकार करने का परोक्ष ढंग से उल्लेख किया है[1]।

चतुस्त्रिंश प्रकाश

४३१—इस प्रकाश के अंतर्गत वर्णित इतिवृत्त में मुहम्मदशाह का मुजफ्फर खाँ को अजीतसिंह पर आक्रमण करने के लिये भेजना, उससे युद्ध करने के लिये अजीतसिंह का अभयसिंह को भेजना और मुजफ्फर खाँ का आँवेर और फिर दिल्ली पलायन करना तथा विभिन्न स्थलों में अभयसिंह के उत्पात के कारण उन्हें 'धूकलसिंह' का उपनाम प्राप्त होना है।

मुजफ्फर खाँ के अजीतसिंह पर आक्रमण करने जाने तथा उसके साथ लोहा लेने के लिये अभयसिंह के जाने तथा राजपूतों की सेना देखकर और रसद की कमी होने के कारण उसका आँवेर में जाकर शरण लेना और अनंतर दिल्ली भाग जाना इतिहास से प्रमाणित है। 'लेटर मुगल्स' के अनुसार तो उसे अपनी असमर्थता का विचार कर इतनी ग्लानि हुई कि वहीं से उसने अजमेर की सूबेदारी का फरमान और खिलअत बादशाह को लौटा दी और स्वयं फकीर हो गया'[2]। विशेष उत्पात मचाने के कारण अभयसिंह को 'धूकलसिंह' का उपनाम दिया गया था, इतिहास में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता; किन्तु उनका इस नाम से सुशोभित किया जाना असंभव नहीं कहा जा सकता।

पंचत्रिंश प्रकाश

४३२—इसमें महाराजकुमार अभयसिंह के खाटू, पाटण तथा लदाणा में होने वाले विवाहों तथा सांभर से मुसलमानों को मार भगाने का उल्लेख है। जहाँ तक विवाहों का संबंध है, वह अभयसिंह के व्यक्तिगत जीवन से संपर्कित है, उनका उल्लेख इतिहास में न मिलना विशेष महत्व नहीं रखता। हाँ, साँभर से मुसलमानों के मार भगाने की घटना अवश्य ही ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

षट्त्रिंश प्रकाश

४३३—इसमें चेला नाहर खाँ का संधि के लिये अजीतसिंह के पास सांभर जाना और गर्वोक्ति करने के कारण ४ हजार सेना समेत मारा जाना वर्णित है।

१—जो० रा० इ०, पृ० ५६१-६४।

२—लेटर मुगल्स, वा० २, पृ० १०६-१०, मा० इ०, पृ० ३२२।

साधारण परिवर्तनों के साथ, जो कि इस घटना के विस्तृत वर्णन से संबंधित है, इस घटना का घटित होना इतिहास में पाया जाता है[1]।

सप्तत्रिंश प्रकाश

४३४—इस प्रकाश में चूड़ामणि के पुत्र का अजीतसिंह की शरण में आना, मुहम्मदशाह का हैदरकुली और इरादत खाँ को अजमेर आक्रमण करने के निमित्त भेजना, महाराजा का युद्ध न करके लूटमार करना, अजमेर में अजीतसिंह का ऊदावत अमरसिंह को प्रधान नियुक्त करना तथा हैदरकुली और इरादत खाँ की मध्यस्थता से मुहम्मदशाह **और अजीतसिंह में संधि होने का विवरण है।**

इस प्रकाश की प्रथम घटना का तो इतिहास-ग्रंथों में कोई उल्लेख नहीं मिलता, संभवतः इसलिये कि इतिहास लेखकों ने इसे महत्वपूर्ण नहीं समझा। किन्तु सामान्य अंतर के साथ जिनसे कि उक्त घटनाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, इरादतखाँ (शर्फुद्दौला इरादतमंद खाँ) और हैदरकुली का अजमेर आना[2], महाराजा अजीतसिंह का युद्ध न करना[3], अमरसिंह को सांभर का प्रधान नियत करना[4] तथा संधि होना[5], समस्त घटनायें इतिहास से प्रमाणित हैं।

अष्टत्रिंश प्रकाश

४३५—इसमें महाराजकुमार अभयसिंह का अजीतसिंह द्वारा दिल्ली भेजा जाना वर्णित है। यह उल्लेख संधि से संबंधित है तथा संधि के निमित्त अभयसिंह का दिल्ली जाना इतिहास में पाया जाता है[6]।

एकोनचत्वारिंश प्रकाश

४३६—इसमें अभयसिंह का मुहम्मदशाह से मिलना, महाराजा अजीतसिंह की मृत्यु, रानियों आदि का सती होना, मुहम्मदशाह और जयसिंह आदि का महाराजा अजीतसिंह के प्रति श्रद्धांजलि समर्पण करना, जयसिंह की कन्या से अभयसिंह का व्याह करना तथा अभयसिंह के दिल्ली जाने का वर्णन है।

१—वही, पृ० ११२, टॉड—'राजस्थान' वा० २, पृ० १०२७, जो० रा० इ०, पृ० ५९६, मा० इ०, पृ० ३२४।

२—लेटर मुगल्स, वा० २, पृ० १२८-९, जो० रा० इ०, पृ० ५९७-९८।

३—वही, पृ० ११३-४, जो० रा० इ०, पृ० ५९८।

४—वही, पृ० ११३, ११४ (पा० टि०), मा० इ०, पृ० ३२५-६।

५—मा० इ०, पृ० ३२६, लेटर मुगल्स, वा २, पृ० ११४, जो० रा० इ०, पृ० ५९८-९९।

६—वही, तथा इलियट—हिस्ट्री आव् इंडिया, वा० ८, पृ० ४४।

अभयसिंह के मुहम्मदशाह से मिलने के उपरांत महाराजा अजीतसिंह के मरने की घटना अर्थगर्भित है। इस सार्थकता का उल्लेख इतिहासों में स्पष्ट रूप से मिलता है। महाराजा अजीतसिंह का बध अभयसिंह के[1] निर्देश के अनुसार उनके अनुज बख्तसिंह ने सोते समय किया था[2]। वीरमांण अभयसिंह का आश्रित था, अतः उसने इस घटना का स्पष्ट वर्णन नहीं किया है। केवल निम्नलिखित छप्पय द्वारा—

अै संसार अनित्य आदि सविकार उचारै
काल अंत बस करै धीर बलवंत न धारै।
की राज पतसाह टलै भूत राह न कोई
जितौ भोग अप्पियौ इतौ भोगवै सकोई।
विध कलम रेख समरथ बचै दूर लेख न हुवै दुवै।
न मिटै धार बाधै न क्यों हुवणहार सोई हुवै॥[3]

भवितव्यता पर विशेष बल दिया है। इस प्रकाश की शेष घटनायें ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। अभयसिंह का विवाह अवश्य ही कुछ महत्व का है किन्तु वह उनके व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित है[4]।

चत्वारिंश प्रकाश

४३७—इसमें महाराजा अभयसिंह के दिल्ली से जोधपुर जाने तथा दरबार करने का इतिवृत्त है। इसमें ऐतिहासिक महत्व की कोई वस्तु नहीं। यह तो राजा-महाराजाओं के दैनिक जीवन का साधारण-सा कार्य क्रम मात्र है।

एकचत्वारिंश प्रकाश

४३८—इस प्रकाश के वर्ण्य-विषय में मुहम्मदशाह का इरादत खाँ, बेगस और जयपुर नरेश को अभयसिंह के अजमेर पर अधिकार कर लेने के कारण आक्रमण करने भेजना, शाही सेना का अजमेर और नागौर पर अधिकार करना, प्रत्युत्तर में अभयसिंह का नागौर पर सन् १७२७ ई० (वि० सं० १७८१) के अंतिम चरण के लगभग आक्रमण कर अधिकार करना, मुहम्मदशाह द्वारा सर विलंद खाँ का गुजरात प्रान्त को भेजा जाना तथा अभयसिंह का विभिन्न राजपूत जातियों द्वारा सम्मानित होना है।

१—वही, पृ० ३२७, जो० रा० इ०, पृ० ६००, इंडियन ऐंटीक्वेरी, वा० ५८, पृ० ४७-५१; मा० सा० इ०, पृ० १६३।

२—राजरूपक, पृ० ५७८।

३—मा० इ०, पृ० ३३२।

४—मा० रा० इ०, पृ० १६४, जो० रा० इ०, पृ० ६०८, मा० इ०, पृ० ३३४।

इस प्रकाश में वर्णन किये गये नागोर पर अभयसिंह के अधिकार करने का इतिवृत्त तो इतिहास-ग्रन्थों में प्राप्त होता है,[1] किन्तु इरादत खाँ, बेगस और जयपुर नरेश मुहम्मदशाह की ओर से इनपर आक्रमण करने आये थे, इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसी प्रकार अन्य घटनायें भी इतिहास में प्राप्त नहीं होती हैं। यह संभव है कि शेष घटनायें ऐतिहासिक घटनायें न होकर साधारण सूचनायें मात्र हैं।

द्वाचत्वारिंश प्रकाश

४३९—इसमें अभयसिंह का दिल्ली जाकर मुहम्मदशाह से मिलने, सर बुलंद के गुजरात में प्रबल होने, मुहम्मदशाह का अभयसिंह को गुजरात का प्रान्त देकर सर बुलंद खाँ पर चढ़ाई का आदेश देने, अभयसिंह के मारवाड़ आकर ४ अन्य विवाह करने तथा चढ़ाई का प्रबन्ध कर जोधपुर से रण यात्रा करने के इतिवृत्त हैं।

मुहम्मदशाह द्वारा दिल्ली बुलाये जाने पर महाराजा अभयसिंह के यहाँ जाने का उल्लेख डा० ओझा तथा रेऊ ने किया है[2]। महाराजा के विवाह करने की घटनाओं के अतिरिक्त महाराजा अभयसिंह को गुजरात की सूबेदारी मिलने[3] तथा उनके (सर बुलंद खाँ) पर जाने के लिये जोधपुर से प्रयाण करने[4] की घटनायें इतिहास-ग्रंथों से परिपुष्ट हैं।

त्रिचत्वारिंश प्रकाश

४४०—इस प्रकाश की घटनायें रण-यात्रा के समय के अंतर्गत की हैं। इसमें महाराजा अभयसिंह के सिरोही के राव मान की कन्या से विवाह करने तथा महाराजकुमार रामसिंह के जन्म का कथन है।

इस प्रकाश में उल्लिखित विवाह की घटना का वृतान्त तो इतिहास में अनुपलब्ध है किन्तु रामसिंह के, जो कि महाराजा के उत्तराधिकारी पुत्र थे, भादों वदि १० वि० सं० १७८७ (२८ जुलाई सन् १७३० ई०) में जन्म होने का उल्लेख अवश्य मिलता है[5]।

१—जो० रा० इ०, पृ० ६०८-९, मा० इ०, पृ० ३३५ क्रमशः।

२—वही, पृ० ६११-१२, मा० इ०, पृ० ३३६, मा० रा० इ०, पृ० १६५।

३—वही, पृ० ६१२-१३, वही, पृ० ३३६।

४—वही, पृ० ६७४, वही, पृ० ३५९, मा० रा० इ०, पृ० १६६-७।

५—लेटर मुगल्स, वा० २, पृ० २०३-१२, जो० रा० इ०, पृ० ६१३-६१७, मा० इ०, पृ० ३३७-३९, मा० रा० इ०, पृ० १६५।

चतुःचत्वारिंश प्रकाश

४४१—संक्षेप में यह प्रकाश महाराज अभयसिंह द्वारा सेरबिलंद के पराजित होने से संबंध रखता है। राजरूपक में इस घटना का सविस्तार वर्णन है। इस घटना के समय, ऐसा माना जाता है कि वीरमाण रत्नू स्वयं घटना-स्थल पर उपस्थित था। उसने इस प्रकाश में महाराजा अभयसिंह का सिरोही से चलकर अहमदाबाद पहुँचना, अभयसिंह का आगमन सुनकर सेरविलंद का उत्तेजित होना, महाराजा का उत्तेजित होना, महाराजा की व्यूह रचना करना, कवियों का विरद कथन करना, रणभेरी का बजना, युद्ध का आरम्भ होना, युद्ध और उसमें तरीन खाँ पठान का मारा जाना, कायम खाँ का युद्ध करना, अंतिम युद्ध करते हुये बखतसिंह द्वारा मारा जाना, सेर बिलंद का रणविमुख होना, अभयसिंह के वीरगति प्राप्त करने वाले सरदारों के नाम तथा महाराजा अभयसिंह की विजय का वर्णन है।

इस प्रकाश में वर्णित युद्ध का उल्लेख प्रायः सभी मुगलकालीन इतिहास-कारों ने किया है[1]। कहना अनावश्यक है कि वीरमाण द्वारा किये गये वर्णन में घटना संपूर्ण रूप से प्राप्त होती है। उसमें घटना का प्रत्येक विस्तार और सेना-पतियों आदि का नामोल्लेख इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्व रखते हैं, विशेषतया इसलिये और भी कि इसमें कवि का स्वयं देखा हुआ वर्णम है। साथ ही यहाँ यह भी संकेत कर देना आवश्यक है कि कदाचित् वीरमाण ने नामों का उल्लेख राज पत्रों के आधार पर किया होगा। कारण, कल्पना के आधार पर इतने नामों का देना संभवनीय नहीं प्रतीत होता।

पंचचत्वारिंश प्रकाश

इस प्रकाश में कोई महत्वपूर्ण सूचना नहीं है केवल दूसरे शब्दों में वीरमाण ने सेरविलंद (सर बुलंद खाँ) की पराजय का वर्णन किया है।

षट्चत्वारिंश प्रकाश

इसमें ऊदाउत अमरसिंह का अजमेर से आगमन तथा उसी द्वारा दोनों दलों में संधि का संपन्न होना कहा गया है।

अमरसिंह की मध्यस्थता से इस संधि का होना इतिहास-ग्रंथों में भी पाया जाता है[2]। इसमें अभयसिंह और सेर विलंद खाँ ने परस्पर पगड़ी भी आदान-प्रदान किया था।

१—जो० रा० इ०, पृ० ६१८, मा० इ०, पृ० ३४०।

२—लेटर मुगल्स, पृ० २११-१२।

सांस्कृतिक पक्ष

४४२—राजरूपक के बृहदाकार ग्रंथ के कारण इसमें अन्य रचनाओं की अपेक्षा सांस्कृतिक सूचना अधिक उपलब्ध होती है। इस रचना में प्राप्य सांस्कृतिक सूचना के वर्गीकरण की अपेक्षा है जो कि निम्नलिखित विषयों में की जा सकती है:—

(१) धर्म और दान की वृप्रत्ति

(२) सामाजिक संस्कार

(३) हिन्दुओं, विशेषतया राजपूतों और मुसलमानों का पारस्परिक संबंध तथा उनकी चरित्रगत विशेषतायें

(४) सेना तथा युद्ध संबंधी विशेष सूचनायें

(५) मोहम्मद शाह के शासन काल की स्थिति

(६) आर्थिक दशा

(७) अन्य सूचनायें

धर्म और दान की प्रवृत्ति

४४३—वीरमाण के राजरूपक को देखने से ऐसा अनुमान होता है कि कवि में धर्म की भावना स्वयं अत्यन्त प्रबल थी। कदाचित् वह राधाकृष्ण संप्रदाय में दीक्षित भी रहा होगा क्योंकि रचना के प्रारम्भ में ही उसने राधाकृष्ण की वंदना की है और उसके पश्चात् गणेश और सरस्वती की वंदना की है[1]। अनंतर उसने सृष्टि के उत्पत्ति क्रम का अनुरेखन करते हुये राजपूतों की व्युत्पत्ति सूर्यवंश के अंतर्गत बताई है[2]। कवि द्वारा वर्णित ऊपर संकेत की गई पौराणिक सूचना को देखते हुये यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि जातीय अभिमान के कारण राजपूतों को अपने पौराणिक एवं धार्मिक आख्यानों का थोड़ा बहुत ज्ञान अवश्य रहा होगा।

राजपूत राजा समय-समय पर तीर्थाटन किया करते थे, इसका कवि ने अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। राठौड़ों का एक पूर्व पुरुष सीहा द्वारकानाथ के दर्शन करने गया था[3]। महाराजा जसवंतसिंह की रानी ने राजपूत सामंतों को निर्देश किया था कि उन्हें काट कर यमुना के पवित्र जल में प्रवाह कर दिया जाये और

१—रा० रू०, प्रथम प्रकाश, छं० सं० १-४।

२—वही, छं० सं०, ५-१२।

३—वही, छं० सं० ३०।

तदनुसार वैसा ही किया भी गया था[१] । अकबर के साथ औरंगजेब के विरुद्ध जाते समय राठौड़ों ने शुभ मुहूर्त्त (योगिनी पीठ की, चन्द्रमा दक्षिण हाथ और काल भैरव दाहिना था) में प्रस्थान किया था[२] । मुसलमानों की धार्मिक भावना को आघात पहुँचाने के निमित्त माटी दुर्जनसाल ने ईदगाह वाली मस्जिद को सूअरों के रक्त से लाल कर दिया था[३] । महाराजा अजीत सिंह पुष्कर अनेक बार तीर्थाटन करने गये थे तथा इसके अतिरिक्त द्वारिका और हरिद्वार भी तीर्थयात्रा के संबंध में गये थे । उन्होंने पाबूजी, नागणेच्यियां देवी, रामसापीर और एकलिंग महादेव के दर्शन भी किये थे[४] । जोधपुर के राजमहल का संसर्ग कुछ समय मुसलमानों से हो गया था, अतएव उसे पवित्र करने के लिये उन्होंने गंगा, यमुना और पुष्कर के जल से प्रक्षालित कराया था तथा वहाँ वेद-मन्त्र पढ़वाये थे[५] । उनके समय में अजमेर में जहाँ-तहाँ झालर और घंटा इत्यादि के बजने एवं देवपूजा होने का उल्लेख दो स्थलों पर वीरमांण ने किया है तथा इसके विपरीत मस्जिदों में मुल्लों के अजां देना बन्द होने एवं पीरों की पूजा होने का भी एक स्थल पर उल्लेख किया है[६] । महाराजकुमार अभयसिंह भी त्रिवेणी स्नान करने गये थे[७] । पिता की मृत्यु होने पर उन्होंने भी यमुना में स्नान कर अजीतसिंह को अपनी श्रद्धांजलि समर्पण किया था[८] । तीर्थों में जाने पर महाराजा लोग विशेष रूप से दान पुण्य किया करते थे । अजीतसिंह के पुष्कर में दो बार और हरिद्वार में एक बार तथा अभयसिंह के पिता के मृत्यु पर दान पुण्य करने का रचना में विशेष उल्लेख प्राप्त होता है[९] ।

(२) सामाजिक संस्कार

४४४—राजपूत नारियाँ अपने पति के मरण के उपरान्त जीवित रहने की तनिक भी कामना नहीं करती थी । महाराजा जसवंतसिंह की मृत्यु के उपरान्त उनकी दो रानियों को गर्भवती होने के कारण विवश होकर जीवित रहना पड़ा

१—वही, द्वितीय प्रकाश, छं० सं० ४४-४५ ।
२—वही, सप्तम प्रकाश, छं० सं० २७६ ।
३—वही, षोडश प्रकाश, छं० सं० १२ ।
४—वही, क्रमशः पृ० ३०४, ३०५, ३४७ ।
५—वही क्रमशः पृ० ४१४ ।
६—वही, पृ० ४१६ तथा ४२३ ।
७—वही, पृ० ५३६ ।
८—वही, पृ० ५६६ ।
९—वही, क्रमशः पृ० ४४६, ४६६ ।

था[1]। किन्तु प्रसव के कुछ ही समय उपरान्त जब औरंगजेब ने इन्द्रसिंह को जोधपुर का राज्य देने का परवाना लिखकर भेजा और रानियों को अपने सम्मान और सतीत्व के नष्ट होने की आशंका हुई तो उन्होंने रणछोड़दास के द्वारा अपनी हत्या करवा कर जमुना में प्रवाह कर देने का आदेश दिया जो कि सम्पन्न भी किया गया[2]। स्पष्ट है कि पति को वे सर्वस्व समझती थीं और उसके संसार त्याग के उपरान्त वे सांसारिक माया-मोह से नितान्त विरत हो जातीं थीं। राजरूपक में इसका अन्य उदाहरण महाराजा अजीतसिंह की मृत्यु के उपरान्त मिलता है। अजीत सिंह के मरणोपरांत उनकी दो पटरानियों चौहानरानी राजमती तथा मटियाणी रानी लालाँ, चार अन्य रानियां मिरधावती तुंवर चावड़ी, मटियाणी देरावर और सेखावत एवं ५८ पड़दायतें (उपपतनियां) और नाज़रनथू सती हुई थीं[3]।

इस प्रसंग में राजरूपक में सविस्तार वर्णित सती प्रथा का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा। सती होने के पूर्व रानियां स्नान करके श्रृंगार करती थीं और तदनंतर नारायण का स्मरण अथवा प्रत्यक्षतः नामोच्चारण कर चलने की तैयारी करती थीं। सतियाँ राजा की बैकुंठी (टिकटी) के पीछे पालकियों में बैठकर जाती थीं। सतियों के आगे नक़ीब पुकारते थे। बाजे बजते थे। सवारी धूम-धाम से जाती थीं। ब्राह्मण, गरीब और अनाथों के लिये प्रचुर धन जिनमें कि हीरे, माणिक्य और मोती प्रभृति होते थे, लुटाया जाता था। चिता, चंदन और अगरू आदि सुगंधित काष्ठों से निर्मित की जाती थी। चिता के मध्य में सर्व प्रथम राजा का शव रखा जाता था। सतियाँ गंगाजल छिड़ककर, चिता परिक्रमा करके उसमें प्रवेश करती थीं। अंत में पुरोहित के निर्देशानुसार चिता प्रज्वलित की जाती थी[4]।

ऊपर के विवरण से प्रकट है कि स्त्रियों को नियति पर पूर्ण विश्वास होता था। शरीर को वे क्षणभंगुर मानती थीं और पति के बिना वैधव्य-जीवन-यापन करना वे धिक्कार की वस्तु समझती थीं। कवि, पुरोहित, मन्त्री, प्रधान आदि ने जब चौहान रानी राजमती से अभयसिंह के हेतु शरीर सुरक्षित रखने की प्रार्थना किया था तो उसने इसी प्रकार का कथन कर उन्हें निरुत्तर कर दिया था[5]।

वात्सल्य का भाव, मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति कहा जा सकता है। शाहजादा अकबर ने औरंगजेब के प्रति विद्रोह किया। यहाँ तक कि फारस जाते

१—वही, पृ० १७-१८।

२—वही, ३३।

३—वही, ५८०-८२।

४—वही, ५८७-९२।

५—वही, ५८३।

समय उसने अपने परिवार को औरंगजेब अथवा किसी मुसलमान की शरण में न रखकर दुर्गादास के भाई खेमकरण की शरण में छोड़ दिया। किन्तु इतने पर भी औरंगजेब को उसके परिवार की चिन्ता थी। वह चाहता था कि अकबर का परिवार राजपूतों की शरण में न रहकर उसकी शरण में चला जाय। अपने उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त उसने छल, बल और याचना प्रभृति सभी ढंग अपनाये और अंत में वह अपने उद्देश्य में सफलीभूत भी हुआ[१]। इसका एक अन्य उदाहरण भी राजरूपक में है। प्रत्येक माता प्रसव के पूर्व एक सुंदर संतान के प्राप्त होने की रूपरेखा अपने मस्तिष्क में खचित करती है। इसी भावना के कारण अभयसिंह के जन्म के पूर्व राजमती ने स्वप्न देखा था[२]।

वीरभांण ने अपनी रचना में हिन्दुओं में प्रचलित अनेक उत्सवों के मनाने का उल्लेख किया है। इनमें जन्मोत्सव, होलिकोत्सव, वसंतोत्सव, महाराजा अजीतसिंह का दर्शनोत्सव, तथा दीपमालिका का उत्सव है। जन्मोत्सव बड़े धूम-धाम के साथ मनाया जाता था। महाराजकुमार अभयसिंह के जन्मोत्सव पर कैदी कारागार से मुक्त कर दिये गये थे, सरदारों को जागीरें प्रदान की गई थी। चारणों को लाख पसाव प्रदान किये गये थे[३]। महाराजा अजीतसिंह के दर्शन करने पर राजपूतों ने न्योछावर (निछरावल) की थी। भोज किया गया था। दुर्गादास ने दक्षिण से आकर विशेष रूप से नजर न्योछावर किया था तथा सिर पर मोती वारे थे[४]।

परिनिर्णय (विशेष उपाधितथा पारितोषिक) विशेष अवसरों पर—महाराजाओं के बादशाह से भेंट के अवसर पर, विशेष उत्सवों पर तथा विशेष दरबार आदि होने पर प्रदान किये जाते थे। उदाहरणार्थ, जब महाराजा अजीतसिंह बादशाह से मिलने गये थे तो उन्हें तेगबहादुर की उपाधि प्रदान की गई थी[५]। मुहम्मदशाह से जब अभयसिंह मिलने गये थे तो उसने उन्हें जवाहिरात, हाथी, सरपेच, नौबत, मोतियों की माला और पाँच हजारी मनसब प्रदान किया था[६]। अभयसिंह के जन्मोत्सव पर सरदारों को जागीरें और चारणों को लक्ष प्रसाद प्रदान किये गये थे[७]।

१—वही, ३३२, ३३७-३३६, ३४४, ४५, ४८, ४६ (एकोनविंश प्रकाश)।

२—वही, ३६६-६६।

३—वही, ३८१-८२।

४—रा० रू०, पृ० ३०५।

५—वही, पृ० ४२४।

६—वही, पृ० ४७३।

७—वही, पृ० ३८१।

राज्याभिषेक के अवसर पर अभयसिंह ने उमरावों को द्रव्य दिया था[१]।

राजपूतों में कुछ विशेष प्रथायें प्रचलित थीं जिनका वीरभाण ने कहीं-कहीं संकेत किया है। चारण लोग युद्ध के पूर्व तथा दरबारों में राजाओं का कीर्ति बखान करते थे[२]। विवाह के पूर्व अफीम का प्रयोग किया जाता था तथा राजपूत हाथ में तलवार ग्रहण करते थे। मिरजा नूरमली ने जब माटी कन्या से विवाह करने का विचार प्रकट कर सबलसिंह को श्वसुर बनाने का निश्चय किया था तो सबलसिंह ने उससे अफीम और तलवार दोनों वस्तुयें मांगी थी[३]। पुत्रवधुयें उस समय भी सासों के अनुशासन में रहती थीं और उनके चरणों का विशेष अवसरों पर स्पर्श करती थीं[४]। कहना अनावश्यक है कि यह अफीम-प्रथा आज भी प्रचलित है। अनशन अथवा अन्न-जल त्याग करने की प्रथा उस समय भी प्रचलित थी और चौहान मुकनसिंह ने गुप्तवासी अजीतसिंह का दर्शन न प्राप्त करने तक के लिये इसी अहिंसा के अस्त्र का उपयोग किया था[५]। राजपूत राजा बहु विवाह प्रथा के समर्थक थे जैसा कि महाराजा जसवंतसिंह, अजीत सिंह और अभयसिंह से संबंधित अनेक विवाह संबंधी उल्लेखों से सुव्यक्त हैं[६]।

(३) हिन्दुओं, विशेषतया राजपूतों और मुसलमानों का पारस्परिक संबंध तथा उनकी चरित्रगत विशेषतायें

४४५—राजपूत राजाओं और मुसलमान बादशाहों का पारस्परिक संबंध-विशेष अच्छा नहीं था। कारण, राजपूत स्वभावतः वीर हुआ करते थे जिसके कारण बादशाहों को सदैव उनके प्रति आशंका बनी रहती थी। वे वाह्यतः उनसे प्रेम भाव रखते थे किन्तु हृदय में उन्हें संदेह की दृष्टि से देखा करते थे। राजपूत इसके विपरीत अपेक्षाकृत सच्चे हुआ करते थे। वे प्रायः शीघ्र ही और सहज ही मुसलमानों का विश्वास कर लेते थे जिसके कारण उन्हें कभी-कभी विश्वासघात का शिकार होना पड़ता था। उदाहरण स्वरूप अकबर और तहव्वरखान ने जब उनके मैत्रीभाव का प्रदर्शन किया तो राठौड़ उनके मित्र बन गये। अवसर पाकर तहव्वरखान ने उनके साथ विश्वासघात किया। 'पिता और पुत्र परस्पर एक है', ऐसा संकेत कर वह

१—वही, पृ० ६२२-२८।

२—वही, पृ० ७५८-६५, ५०६।

३—वही, पृ० २८२।

४—वही, पृ० ५४६।

५—वही, पृ० २६७।

६—वही, पृ० १७-१६, ३४५, ३४६, ३५५, ३५६, ३६०, ४६५, ५२१, ५४०, ५४१, ५४२, ६७०, ७०४।

औरंगजेब से जा मिला। इस पर राठौड़ों ने उसके कथन पर विश्वास कर अकबर का साथ छोड़ दिया। अकबर ने जब पुनः उन्हें अपने मैत्री पर विश्वास दिलाया तो उन्होंने पुनः उससे मेल कर लिया[1]। एक अन्य स्थल पर वीरमांण ने दिखाया है कि शफी खां ने महाराजा अजीतसिंह को पकड़ने के निमित्त उन्हें धोखा देकर अजमेर बुला लिया था और वे अजमेर गये भी थे यद्यपि सतर्क अवश्य थे[2]। इसी प्रकार मुहम्मद अली ने ऊपरी प्रेम प्रदर्शित कर विश्वासघात के द्वारा मोहकमसिंह को मार डाला था[3]।

स्वयं विश्वासघात को व्यवहार में लाने के कारण मुसलमान राजपूतों से भी उसी प्रकार के व्यवहार की आशा करते थे यद्यपि वास्तविक बात और ही थी। अकबर ने विश्वास करके दुर्गादास के भाई खेमकरण को अपने परिवार के संरक्षण का भार प्रदान कर दिया था[4] किन्तु औरंगजेब को राठौड़ों पर तनिक भी विश्वास न था। महाराज अजीतसिंह के वयस्क होने पर वह उनकी ओर से विशेष सशंकित रहता था क्योंकि उस समय तक शाहजादा अकबर की कन्या भी युवती हो चुकी थी। फलतः वह अंतरतम से चाहता था कि अकबर का परिवार उसके पास निष्कलंक पहुँच जाय। दुर्गादास ने किया भी उसके इच्छानुसार ही। उसने पहले उसकी पुत्रबधू को और अनंतर उसकी पौत्री तथा पौत्र को उसके पास भेज दिया[5]।

इसके विपरीत भाटी सबलसिंह की दो कन्याओं को मिरजा नूरमली ने युद्ध में हस्तगत कर लिया था और कुचील गाँव में जाकर उनसे विवाह कर भाटी सबलसिंह को अपना श्वसुर बनाने की योजना बनाई[6]। इस घटना से मुसलमानों का चारित्रिक पतन स्पष्टतया अभिव्यञ्जित होता है। दोनों घटनायें परस्पर वैसा दृश्य प्रकट करती हैं। इस संबंध में यह ध्यान रखना चाहिये कि राजपूतों का नैतिक-स्तर केवल तुलनात्मक दृष्टि से कुछ ऊँचा था।

मुसलमानों के व्यवहार से राजपूत, पूर्णतया तो नहीं कहा जा सकता किन्तु कुछ अंशों में अवश्य ही, सचेत हो चुके थे। यही कारण था कि जब औरंगजेब ने बालक अजीतसिंह को अपने संरक्षण में लेना चाहा था तो राजपूतों ने उन्हें छिपा दिया[7]। औरंगजेब ने जब केसरी सिंह से अजीतसिंह के गुप्तवास का रहस्य जानना

१—वही, पृ० ६१, १०१-१११।
२—वही, ३२६।
३—वही, ४५७।
४—वही, ११५।
५—वही, ३४५, ३४६, ३५०।
६—वही, २८२।
७—वही, ३०।

चाहा तो उसने उसके गोपनार्थ विष द्वारा स्वाजीवनोत्सर्ग कर दिया[१], जो कि उसकी स्वामिभक्ति का ज्वलंत प्रमाण है। राजपूत सदैव ही अजीतसिंह के प्रति अपनी स्वामिभक्ति और राजभक्ति के मामलों में आचारनिष्ठ रहे और उनकी रक्षा के हेतु उन्होंने सफलतापूर्वक प्राणपण से चेष्टा की। कुछ मुसलमान इसके विरुद्ध अधिकतर बादशाह की आँखों में धूल झोंकने का यत्न करते थे। औरंगजेब का पुत्र अकबर उसके प्रति विद्रोही हो गया था[२]। तहव्वरखान अपने इसी प्रकार के चरित्र के कारण मारा गया[३]। शफी खाँ वस्तुतः दुर्गादास से युद्ध करके हार कर भागा था; किन्तु औरंगजेब के पास उसने मिथ्या लिखकर भेजा कि दुर्गादास युद्ध में आहत होकर दक्षिण की ओर भाग गया[४]।

राजपूतों का प्रमुख निर्बल पक्ष उनकी पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता थी। कोई भी राजा, चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा, परस्पर एक-दूसरे के आधीन नहीं रहना चाहता था। राव इन्द्रसिंह तथा उसका पुत्र मोहमकसिंह सदैव महाराजा अजीतसिंह से ईर्ष्या करते थे[५]। द्वेष की भावना के वशीभूत होकर ही जैतावत अर्जुनसिंह, महाराजा के विरोध में मोहकमसिंह के साथ हो गया था[६]। इसी विद्वेष के कारण अजीतसिंह ने इन दोनों को मरवा डाला था[७]। अजीतसिंह और राव इन्द्रसिंह में नागोड़ में युद्ध भी हुआ था[८]। इसी प्रकार की भावना से प्रेरित होकर कदाचित् अजीतसिंह ने झालों के राज्य हलवद को विजय कर लिया था[९]।

महाराजा अजीतसिंह ने इस प्रकार के कार्य किये थे जिनसे कि उनका राजपूतों को एक करने का उपयोग करना प्रमाणित होता है। उन्होंने महाराजा जयसिंह की अनेक बार सहायता की तथा उन्हें आंबेर का राज्य दिलाने के लिये सक्रिय प्रयत्न भी किया था[१०]। इसी प्रकार उदयपुर के महाराजा जयसिंह के

१—वही, २८-२९।

२—वही, ९१-१००।

३—वही, १०२।

४—यही, ३२३-३२४।

५—वही, २९-३०, ३८७।

६—वही, ३८८।

७—वही, ४८२, ४८३।

८—वही, ४७८।

९—वही, ४८५।

१०—वही, ४३३, ४४१।

पारिवारिक कलह का अंत करने के निमित्त उन्होंने दो बार प्रयत्न किया था[१]। इतना ही नहीं, राजपूतों को एक सूत्र में संगठित करने के विचार से वह महाराजा जयसिंह के साथ महाराणा जयसिंह के पास भी गये थे[२]।

मुगल शाहजादों में महत्वाकांक्षा अत्यन्त प्रबल थी। औरंगजेब के जीवन-काल में ही उसके पुत्र अकबर ने उसके विरुद्ध विद्रोह करना प्रारम्भ कर दिया था। तत्संबंधित उल्लेख किया जा चुका है। जैसा कि राजनीति संबंधी ऐतिहासिक विवेचन में उल्लेख किया जा चुका है, औरंगजेब के पश्चात् उत्तराधिकार युद्ध में आलम, जो कि इतिहास में बहादुरशाह के नाम से विख्यात है, सफल हुआ था[३]। उसकी मृत्यु के उपरान्त मुइज्जुद्दीन बादशाह हुआ किन्तु फर्रूखसियर ने उसे मार कर स्वयं राजसिंहासन को हस्तगत कर लिया[४]। फर्रूखसियर भी पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता के कारण मारा गया था[५]। नेकू (निकोसियर) भी साम्राज्य संबंधी महत्वाकांक्षा और प्रतिद्वंद्विता के कारण ही मौत के घाट उतार दिया गया[६]। यह तो मुगल शाहजादों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा की कहानी है। औरंगजेब ने तो अजीतसिंह के विरोध में कृत्रिम अजीतसिंह को खड़ा किया था और उसका नाम मुहम्मदराय रक्खा था[७]।

(४) सेना तथा युद्ध-संबंधी विशेष सूचनायें

४४६—इस रचना में वर्णित घटनाओं में युद्ध तथा उसमें भाग लेने वाली राजपूत सेनाओं का विस्तार अधिकांश स्थलों पर प्राप्त होता है। इसमें लगभग ३० स्थलों पर युद्ध का वर्णन मिलता है[८]। ये युद्ध राजपूतों और मुगलों से विशेष रूप से संबंधित हैं यद्यपि कुछ युद्ध ऐसे भी हैं जो कि राजपूतों में आपस में भी हुये थे। जहाँ तक युद्धों का संबंध है, उनमें भाग लेने वाले विशिष्ट व्यक्तियों का नामोल्लेख सर्वत्र प्राप्त होता है। राजपूत योधाओं की सूचियाँ कहीं-कहीं विशेष रूप से भी प्राप्त

१—वही, ३२८, ३४५।

२—वही, ४२७।

३—वही, ४१७।

४—रा० रू०, पृ० ४५५।

५—वही, ४५६।

६—वही, ५१६।

७—वही, ३०८।

८—वही, ३३, ४५, ५३, ५६, ७८, १७५, १८६, १६५, २०७, २१८, २२१, २२४, २३२, २४४, २४७, २६५, २७३, २७६, २८६; २८८, ३२१, ३२३, ३३३, ३६६, ४१७, ४३४, ४४६, ४८५, ६३१-३२ तथा ७६५-८११।

होती हैं[1]। मुसलमानों में केवल सेनापतियों अथवा कुछ अन्य प्रधान योधाओं के नाम ही प्राप्त होते हैं[2]। इनमें सेना की संख्यायें भी अनेक स्थानों पर मिलती हैं[3]। युद्ध में वीरगति प्राप्त होने वाले सैनिकों की संख्यायें भी अनेक स्थलों पर प्राप्त होती हैं[4]। उक्त तीस के लगभग युद्धों में १८ युद्ध इस प्रकार के हैं जिनमें कि मुगलों की या तो पराजय हुई थी अथवा वे रण से भाग गये[5]। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि युद्ध संबंधी ये विवरण किसी भी इतिहास-ग्रंथ में इतने विस्तार के साथ नहीं प्राप्त होते हैं। युद्धों के अतिरिक्त अनेक उल्लेख राजपूतों, विशेषतया राठौड़ों के उपद्रव अथवा लूट पाट से संबंधित हैं। इनकी संख्या लगभग ११ हैं[6]। इनके अतिरिक्त ५ घेरों का उल्लेख भी मिलता है[7]।

युद्धों में युद्ध-संबंधी विस्तार भी एकाध स्थलों पर मिलते हैं जिनसे कि यह विदित होता है कि साधारणतया सेना के तीन अथवा चार भाग किये जाते थे—वाम पार्श्व, दक्षिण पार्श्व, मध्य तथा हरावल[8]। सेना चतुरंगिणी होती थी—हाथी, रथ, घोड़े, पैदल के रूप में। इन युद्धों में सर्वाधिक विस्तार कवि ने महाराजा अभयसिंह तथा प्रांतपति सरबुलंदखाँ के युद्ध को प्रदान किया है जिसमें कि महाराजा का अहमदाबाद जाना, उनके पदार्पण को सुनकर सर बुलंदखाँ का उत्तेजित होना, स्वयं महाराजा का उत्तेजित होना, महाराजा की व्यूहरचना, चारण कवियों का महाराजा का विरुद कहना, युद्ध की दुदुंभी, युद्धारम्भ तथा संग्राम वर्णन है[9]। इन विस्तृत इतिवृत्तों का उल्लेख करने का कारण वीरमाण का स्वयं युद्ध-स्थल पर उपस्थित रहना तथा राजाश्रित कवि होना है।

१—वही, सप्तम, नवम, अष्टादश, एकविंश, त्रयोविंश, अष्टविंश तथा त्रयश्चत्वारिंश प्रकाश।

२—वही १८२, १८८, ३२६, ३३१, ३६०, ३६४, ४१६, ४२३, ४६०, ७६५, ७६७।

३—वही, ३६-४०, १६४, २०७, ८, २५१, २७२, २८१, ८१०।

४—वही, पृ० ६३, २१६, २१७, २२३, २२४, २३१, २३२, २३५, २५२, २७५, २६२, ३२१, ३२३, ३४१, ४०७, ४१३, ५३४, ६३२, ८११-८१२।

५—वही, पृ० १८३, १६६, २१३, २१८, २३८, २४४, २५२, २८७, २६३, २६५, ३१७, ५३५।

६—वही, ५५, ५७, १००, १८८, २८८, २८६।

७—वही, ७१६।

८—वही, ४५६।

९—वही, ७०७, ८११।

(५) मोहम्मदशाह के शासन-काल की सामान्य स्थिति

४४६—सन् १७२७ ई० के लगभग गुजरात के प्रांतपति सरबुलंद खां ने दिल्ली से अपना संबंध विच्छेद क्रियात्मक रूप में कर लिया था तथा वह एक स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासक हो गया था। वस्तुतः इस समय तक मुहम्मदशाह एक अयोग्य बादशाह प्रमाणित हो चुका था। कारण पंजाब में जकरिया खाँ, पूर्व में सादित खाँ और दक्षिण में निजामुलमुल्क लगभग स्वतन्त्र हो चुके थे। सरबुलंद खाँ के विश्वासघात से मुहम्मदशाह का माथा ठनका। उसने एक दिन दरबार कर सत्तरखाँ और बहत्तर उमरावों को आमंत्रित किया। उपस्थित मनसबदारों और राजाओं के समक्ष उसने कहा कि इनमें से कोई भी सरबुलंद खाँ के विरुद्ध जाने का बीड़ा ग्रहण करे, किन्तु किसी ने भी इस अभियान पर जाना शिरोधार्य नहीं किया। इस घटना से दो बातें विदित होती हैं। प्रथम यह कि मुहम्मदशाह का आधिपत्य मानने के लिये एक प्रकार से कोई भी तैयार नहीं था क्योंकि वह स्वयं भी मंत्रियों के हाथों की कठपुतली था और साथ ही भीरु और कापुरुष भी। द्वितीय यह कि उसके अधीनस्थ समस्त अमीर-उमरे भीरु होने के कारण आपत्तियों का ग्राहक होने से घबराते थे। जैसा कि बताया जा चुका है, कमरदी खाँ के परामर्शानुसार इस कार्य को मुहम्मदशाह की प्रार्थना पर महाराजा अभयसिंह ने करना स्वीकार किया था[1]।

(६) आर्थिक दशा

४४७—राजरूपक में प्राप्य उल्लेखों के[2] आधार पर कहा जा सकता है कि भारतवर्ष उस समय भी आर्थिक दृष्टि से संपन्न था किन्तु यह संपन्नता कदाचित् एक विशेष-वर्ग तक ही सीमित थी और यह वर्ग था दिल्लीपति तथा उसके अधीन राजा महाराजाओं तथा अमीर उमरावों का। प्रकट है कि धन संपत्ति के विशिष्ट वर्ग के हाथों में होने के कारण उसका वितरण समान रूप से नहीं हो पाता रहा होगा। राजपूतों तथा मरहठों की लूट मार के कारणों में यह एक प्रमुख कारण समझा जा सकता है। संक्षेप में, यह निष्पक्ष और निस्संकोच भाव से कहा जा सकता है कि तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था कुसंतुलित थी।

(७) अन्य सूचनायें

४४८—वीरमाण की इस कृति द्वारा मुगलों की शासन नीति पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। जिन मुगल बादशाहों का इस रचना में उल्लेख है उनमें सर्वाधिक सफल शासक औरंगजेब था। औरंगजेब के समय में महाराजा जसवंतसिंह, जोधपुर-

१—वही, पृ० ६४८-६५६।

२—वही, पृ० ४०२, ४७३-७४, ४९८-५०७, ६१६-६२६।

नरेश अत्यन्त प्रतापी थे जिसके कारण कि औरंगजेब उनसे भय खाता था। फलतः उसने उन्हें सदैव ही मिलाकर रक्खा। किन्तु सन् १६७८ ई० में जसवंतसिंह की मृत्यु होने के उपरान्त उसने राजपूतों के प्रति अपनी नीति को परिवर्त्तित कर दिया और उसने राजपूतों को दमन कर उन्हें पूर्णरूप से अपने आधीन करना चाहा। इसी नीति के अनुसार एक ओर तो उसने राठौड़ों से महाराजकुमार अजीत-सिंह को, जो कि उस समय एक नवजात शिशु थे, उपस्थित करने का आदेश दिया तथा दूसरी ओर राव इन्द्रसिंह को जोधपुर के राज्य प्रदान करने का लोभ दिया। कहना न होगा, कि दुर्गादास की अध्यक्षता में राजपूतों ने औरंगजेब की इस चाल को समझा किन्तु राव इन्द्रसिंह लोभ में पड़ गया। संक्षेप में, औरंगजेब राजपूतों में फूट का बीज बोने में तो सफल हो सका किन्तु अपने लक्ष्य की पूर्ति में उसे पूर्ण सफलता कभी भी नहीं प्राप्त हो सकी। उसकी राजनैतिक असफलता के दो कारण सुस्पष्ट थे—(१) राजपूतों का उसके प्रति सतर्क होना तथा (२) शाहजादा अकबर की राजपूतों से मित्रता। राजपूतों के सतर्क होने के कारण औरंगजेब के छल पूर्ण प्रयोग नितान्त व्यर्थ सिद्ध होते थे। फलतः उसके सामने अंतिम अस्त्र बल प्रयोग ही शेष रहता था और बल प्रयोग द्वारा राजपूतों से पार पाना और उन्हें अपने अंकुश में करना उसके लिये टेढ़ी खीर थी। शाहजादा अकबर की मित्रता के कारण उसका अधिकांश ध्यान राजपूतों से हट कर प्रारम्भ में उसकी ओर केन्द्रित हो गया था। और आगे चलकर जब वह फारस चला गया तो शाहजादा अकबर के परिवार के (राजपूतों के संरक्षण में होने के कारण जो कि प्रकटित उसी के परिवार का) अंग था, वह मुक्त रूप से उनके विरुद्ध कोई अंतिम चरम प्रयोग करने में विवश था क्योंकि उस प्रयोग के द्वारा स्वयं उसके परिवार को कष्ट होने की आशंका रहती थी जो कि उसके लिये कदाचित् रुचिकर और श्रेयस्कर न था।

औरंगजेब के पश्चात् समस्त मुसलमान बादशाह स्वयं निर्बल थे। उनका अनुशासन अपने अधीनस्थ अमीर-उमरावों और राजाओं पर ही सम्यक् रूप से प्रभावोत्पादक नहीं होता था। अस्तु, वे राजपूतों जैसी वीर जाति को अपने आधीन कहाँ तक कर सकते थे, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। राजपूत केवल अपने जातिगत पारस्परिक युद्धों, वैमनस्य और ईर्ष्या के कारण दिल्लीपति को नाम मात्र के लिये अपना अधिपति मानते थे। वैसे अपनी राजनीति के संबंध में वे स्वतंत्र थे। दिल्ली के मुगल बादशाह प्रायः अपने शत्रुओं और विद्रोहियों के दमनार्थ राजपूतों को बुला लिया करते थे। ऐसे अवसरों पर राजपूत राजा लोग बादशाह से मिलने जाया करते थे और उनकी सहायता के निमित्त अभियानों पर जाया करते थे। बादशाहों के सिंहासन आरोहण और अवरोहण में राजपूतों का विशेषतया अजीतसिंह जैसे राठौड़ नरेशों का विशेष हाथ रहता था। इतिहासकारों के अनुसार

अजीतसिंह की मृत्यु का कारण इन्हीं दलबंदियों में भाग लेना ही था। सच तो यह है कि एक वीरजाति होने के कारण राजपूत सदैव ही अल्प अथवा अधिक अंशों में मुसलमान बादशाहों के कृपापात्र और प्रीतिपात्र रहे। और औरंगजेब के पश्चात् मुसलमान बादशाहों ने सामान्यतया उनको मिलाकर ही रक्खा। इसे ही संक्षेप में, उनकी राजपूतों संबंधी राजनीति कहा जा सकता है।

राजरूपक में एक स्थल पर प्रसंगवश महाराणा प्रतापसिंह तथा राव मालदेव के संबंध में विशेष सूचना प्राप्त होती है। वीरभांण के शब्दों में—

> **रांणै प्रताप राव मालदे सत्र जीतां चाला सटै।**
> **पण बांध विखौ भांजो पिसण विरवा वडप्पण नह घटै॥**

भावार्थ यह है कि महाराणा प्रताप और राव मालदेव ने जन्मभर लूट मार किया था। उसके अनुसार—

> **महाराजा जसराज साह देखै रीसायौ,**
> **औरंग सूधर अकस विखो आधंतर लायौ।**

अर्थात् महाराजा जसवंतसिंह से औरंगजेब के घबराने का कारण उनकी लूट-मार संबंधी रणनीति थी। एक चारण के मुख से जो कि एक राजपूत राजा का आश्रित भी था, इस प्रकार का कथन राजपूतों की युद्धनीति पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि राजपूत मुसलमानों से युद्ध में प्रत्यक्ष साक्षात्कार तभी करते थे जब कि वे अपने को शत्रुओं से प्रबल समझते थे। यदि वे अपने को निर्बल पाते थे तो वे मुसलमानों की सेना पर आकस्मिक आक्रमण किया करते थे जिससे कि मुसलमानों की सेना को अधिकतर हानि पहुँचा करती थी। मुसलमान बादशाहों की राजपूतों संबंधी नीति पर उक्त कथन द्वारा भी एक निश्चित ढंग का प्रकाश पड़ता है।

विरदशिणगार

४४६--कदाचित् यह पुनः कहने की आवश्यकता न होगी कि विरद शिणगार कवि करणीदान (जो कि वीरभांण रत्नू के समकालीन थे) के ग्रंथ सूरजप्रकाश का संक्षिप्त रूपान्तर अथवा कवि के ही शब्दों में 'सूरज प्रकाश रो तंत सार' है। वस्तुतः इस ग्रंथ को सूरज प्रकाश का 'तंत सार' मानना भ्रामक है क्योंकि इसमें केवल जोधपुर नरेश अभयसिंह से संबंधित इतिवृत्त का संक्षिप्त उल्लेख है जब कि सूरज प्रकाश का 'छंदसार' में महाराजा अजीतसिंह के जीवनीपक्ष पर भी विशेष बल दिया गया है। जो कुछ भी हो, इस अवांतर विषय को यहीं पर छोड़कर विरद शिणगार के ऐतिहासिक अंश की व्याख्या करना ही इस अध्याय के अंतर्गत समीचीन है, अस्तु, यहाँ उस अंश पर विशेष प्रकाश डाला जायगा।

ऐतिहासिक घटना तथा पक्ष

४५०—विरद शिणगार के अंतर्गत ऐतिहासिक घटना की दृष्टि से प्रधानतया महाराजा अभयसिंह तथा गुजरात के सूबेदार सरबुलंद खां के युद्ध का वर्णन है जिसमें कि कवि के कथनानुसार अभयसिंह की विजय हुई थी जैसा कि रचना की निम्नलिखित पंक्तियों से ज्ञात होता है—

> **भड़ विलंद इम्भ मदभर भजाय**
> **यह अभौ नाहरो फतह पाय।**
> **'नौबत बजाय जीत्यो नरिंद'।**
> **'सुण फतह रीझ इम दी दिलेस'।**[1]

कहना न होगा कि इस घटना का उल्लेख वीरभांण रत्नू कृत राजरूपक में भी प्राप्त होता है। राजरूपक में प्राप्य इस घटना की विवेचना हम कर चुके हैं। अस्तु, इस घटना के परीक्षण के संबंध में केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि इसका संघटित होना पूर्णरूप से निश्चित है तथा इतिहास-ग्रंथों से परिपुष्ट है। विरद शिणगार तथा राजरूपक में उल्लेख किया गया यह युद्ध, एक दूसरे में प्राप्त तत्संबंधी घटना के प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है।

संक्षेप में, विरदशिणगार में उपलब्ध इस युद्ध-संबंधी विस्तार का विवरण इस प्रकार है—

१—विरदशिणगार, छं० सं० ११६, ११७, ११८।

गुजरात से यह संदेश आने पर कि सरबुलंद खां ने मरहठों के साथ मैत्री कर वहाँ की शांति को व्याघात पहुँचाया है, बादशाह मुहम्मदशाह ने अपने अधिकृत समस्त सामंतों को बुला भेजा। जब अन्य कोई सर बुलंदखां के पास लोहा लेने जाने को तत्पर न हुआ तो अभयसिंह ने स्वयं यह बीड़ा उठाया। अभयसिंह के इस अभियान को ग्रहण करने के उपलक्ष में बादशाह ने उन्हें लाखों तोपें, हाथी, घोड़े, खड्ग और कटार प्रदान किया तथा शाबासी देते हुये और यह कहते हुये कि 'तखतरी लाज मरजाद तूझ' बिदा किया।

बादशाह से विदा लेकर अभयसिंह गुजरात की ओर चल पड़े। जब वह पालणपुर (पालनपुर) पहुँचे तो करीमखां (करीमदादखाँ) उनसे आकर मिल गया। अनंतर कवि के शब्दों में—

सति यास बरस संवत सतास,
महमंत सरद आसोज मास।
सन विजय दशम बधियो संग्राम,
चिखियों अहमदपुर धाम धाम।[1]

अर्थात् वि० सं० १७८७ आश्विन सुदि (अक्टूबर सन् १७३० ई०) में दोनों दलों में घोर युद्ध हुआ और अंत में अभयसिंह की विजय हुई। इस युद्ध का करणीदान द्वारा किया गया वर्णन, निस्संदेह रोचक है किन्तु युद्ध के विस्तार इसमें जो कुछ भी है, वह सामान्य रूप में है।

राजरूपक में वर्णित युद्ध में जहाँ सैनिक संख्या, सैनिकों के नाम, रणस्थल आदि का विशेष उल्लेख है, वहाँ विरद शिणगार में इनका लगभग नहीं के बराबर उल्लेख है। इस युद्ध में वस्तुतः अभयसिंह की विजय हुई थी, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कारण इतिहासकारों ने इस प्रकार का निश्चयात्मक उल्लेख कहीं भी नहीं किया है। अधिकांश इतिहास-लेखक इस संबंध में दोनों ओर की क्षति तथा अंत में दोनों दलों में होने वाली संधि के संबंध में ही एकमत हैं जिसका उल्लेख राजरूपक में उल्लिखित तत्संबंधी घटना के विश्लेषण में किया जा चुका है[2]। यहाँ यह भी कह देना अप्रासंगिक न होगा कि करणीदान ने विरद शिणगार में संधि के होने का कोई भी संकेत नहीं किया है जो कि उसके विजय संबंधी निश्चित मंतव्य का परिपोषक समझा जा सकता है। इतिहास-ग्रंथ उसके इस मंतव्य का खंडन करते हैं, यह उनमें प्राप्त संधि के उल्लेख से प्रमाणित है। अस्तु, करणीदान के केवल

१—वही, छं० सं० ४३ तथा ४४।

२—अध्याय ६।

विजय के उल्लेख करने को निस्संकोच होकर अत्युक्तिपूर्ण कथन कहा जा सकता है, विशेषरूप से राजरूपक से भी तुलित करने पर।

विरद शिणगार अत्युक्तिपूर्ण शैली पर गठित चारणों की प्रथा का अनुगमन करने वाली रचना है, यह उसमें प्राप्य प्रशंसात्मक विवरणों से सुव्यक्त है। उसमें केवल अभयसिंह की सफलताओं, प्रताप और गौरव का वर्णन उपलब्ध होता है जिनमें अभयसिंह का मुहम्मदशाह द्वारा सम्मानित होना तथा मुक्तमाल दिया जाना, उनका आगरा और दिल्ली में धाक जमना, उनका शाहजहाँपुर को नष्ट-भ्रष्ट करना, सम्राट् द्वारा 'धोकलसिंह' नाम प्रदान किया जाना, रोशन उद्दौला को पराजित करना, होसंग का उनसे भयभीत होना, नागौर के राव इन्द्रसिंह को पराजित करना, तथा सिरोही के राजा उम्मेदसिंह को दंडित करना प्रभृति हैं।

इसमें संदेह नहीं कि इनमें से अनेक घटनायें ठीक हैं तथा इतिहास से पुष्ट हैं जैसा कि राजरूपक के अध्ययन में भी दिखाया गया है[1] किंतु जिस ढंग से उन्हें विरद शिणगार में स्थान दिया गया है, वह सत्काव्य का स्वरूप ही समझा जाना चाहिये।

सांस्कृतिक पक्ष

४५१—कवि या करणीदान के विरद शिणगार में भारतवर्ष में मुगल साम्राज्य के पतन के समय का एक आंशिक किंतु यथार्थ चित्र दृष्टिगत होता है। दिल्ली के सिंहासन पर आसीन मुहम्मदशाह की शक्ति केवल इस समय केवल नाममात्र के लिए अवशेष थी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि उसी के द्वारा नियुक्त किये गये गुजरात के प्रांतपति सरबुलंद खां ने मरहठों से तंग आकर तथा मुहम्मदशाह की अक्षमता को समझते हुए, उन्हें बिना बादशाह की मंत्रणा लिए हुए, चौथ देना स्वीकार कर लिया था। स्पष्ट है कि वह गुजरात के शासन के संबंध में एक प्रकार से अपने को पूर्णतया स्वतंत्र समझता था। बादशाह के अधीनस्थ राजागण तथा प्रांतपति आदि अभियानों पर जाने के निमित्त अपने को अशक्त समझते थे तथा भय खाते थे[2]। यही कारण था कि सरबुलंद खां के दमन के लिए बादशाह के कहने पर, महाराजा अभयसिंह के अतिरिक्त अन्य किसी ने भी साहस अथवा उत्साह नहीं प्रदर्शित किया[3]। अभयसिंह के गुजरात के अभियान पर जाने का बीड़ा उठा लेने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राजपूतों में उस समय भी राजभक्ति का भाव और जातिगत अभिमान शेष था तथा राजपूतों के अधिनायक के रूप में

१—अध्याय ६।

२—वि० शि०, छं० सं० २३।

३—वही।

महाराजा अभयसिंह थे। किंतु यह निश्चित है कि मुहम्मदशाह अत्यंत निर्बल बादशाह था क्योंकि उसने मरहठों को, जिन्होंने कि दक्षिण में उत्पात मचा रक्खा था, दबाने का कभी भी कोई प्रयत्न नहीं किया।

उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर हम सहज ही इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि भारत में मुगलराज्यशक्ति के निर्बल होने के कारण देश प्रांतपतियों के आधीन हो चुका था जिसके कारण सामाजिक जीवन भी शांति और सुखमय नहीं रहा होगा। इस समय भी सतीप्रथा का प्रचलन राजपूतों में विशेष रूप से था[1]। युद्ध के पूर्व नशीली वस्तुओं का प्रयोग विशेष रूप से किया जाता था[2]। सामाजिक दृष्टि से इस रचना में अन्य कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं प्राप्त होती।

धार्मिक दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सनातनधर्म का इस समय पर विशेष प्रभाव था। उन्हें अपने धार्मिक और पौराणिक आख्यानों पर विश्वास था। रचना में इस प्रकार की सुस्पष्ट छाया मिलती है क्योंकि कवि ने अनेक स्थानों पर गनेश, शिव, राम, कृष्ण, हनुमान, अर्जुन, भीम, सरस्वती, काली, गौरी इत्यादि नामों को संघटित किया है[3] जो कि व्यक्तिगत होते हुए भी समाजगत धार्मिक भावना का प्रतिबिंब कहा जा सकता है। इस समय नाथ-संप्रदाय का भी राजस्थान में प्राबल्य अवश्य था जिसका उल्लेख करणीदान ने एक स्थल पर किया है[4]। इस रचना में यह भी पाया जाता है कि युद्ध में प्रवृत्त होने के पूर्व—

'पढ़ हर पुराण कर हर प्रणाम'[5]

शंकर का नामस्मरण किया जाता था। युद्ध राजपूतों का धर्म-विशेष था जिसमें मरने पर उनका विश्वास था कि उन्हें मोक्ष की उपलब्धि सहज ही हो जाया करती थी तथा अप्सरायें उनका वरण किया करती थीं[6]।

सांस्कृतिक दृष्टि से इस रचना के द्वारा कोई इतर विशेष सूचना नहीं मिलती। अस्तु, इसे सांस्कृतिक दृष्टि से एक दीन रचना कहा जा सकता है जिसका प्रमुख कारण इसका व्यक्ति-विशेष महाराजा अभयसिंह की प्रसंशा में रचा जाना है।

१—वही, ७४।

२—वही, ७७।

३—वि० शि०, १, ७३, ७५, ७७, ८०, ८६, १०३ आदि।

४—वही, ८०।

५—वही, ७३।

६—वही, १०५, ६८।

केहरप्रकाश

४५२—कवि राव बख्तावर विनिर्मित केहरप्रकाश का संक्षिप्त परिचय एक प्रेमकाव्य के रूप में अन्य स्थान पर दिया जा चुका है किन्तु यह केवल एक प्रेम-काव्य ही न होकर, ऐतिहासिक काव्य भी है, जैसा कि इसके निम्नलिखित विवरण से प्रकट है—

कन्ह के वंश में, जो कि पृथ्वीराज चौहान का संबंधी था, दलपत नाम का एक व्यक्ति हुआ था जो कि नीमराण का स्वामी था। दलपत ने मुसलमानों से पावागढ़ विजय किया था जो कि गोलकुंडा के शाह के अधिकार में था। दलपत की वंश-परंपरा में देवराज नाम का व्यक्ति हुआ था जो कि आगे चलकर पावागढ़ का स्वामी हुआ। देवराज बाहरिया नामक स्थान का भी स्वामी था जिसको कि उसने अपने नाम के साथ संयुक्त कर देवगढ़बाहरिया के नाम से संस्कार किया। देवराज की वंशपरंपरा में मदनपाल ने देवगढ़बाहरिया को उत्तराधिकार में प्राप्त किया। किन्तु गोलकुंडा के शाहजादे ने देवगढ़बाहरिया को उससे विजय कर स्वयं हस्तगत कर लिया। मदनपाल का पुत्र विजयपाल हुआ जो कि पावागढ़ में रहता था। विजयपाल का पुत्र भांण हुआ। भांण के भीम नामक पुत्र था जो कि दिल्ली के फ़ीरोजशाह का समकालीन था। इसी भीम का पुत्र कुंवर केसरीसिंह, जैसा कि बताया जा चुका है, केहर प्रकाश का नायक है। कुंवर केसरीसिंह ने सिद्धपुर के राजा अभैराज सोलंखी की कन्या से व्याह किया था।

दिल्ली के सम्राट् फीरोजशाह ने अहमद (अहमदशाह) को गुजरात का नवाब नियुक्त किया था। अहमदशाह के चार लड़के थे—(१) मुहम्मद (२) जल्लाल, (३) फज़ल और (४) देवल। मुहम्मद (मुहम्मदशाह) अहमदशाह की मृत्यु के उपरांत अहमदाबाद के राजसिंहासन पर बैठा। मुहम्मदशाह ने अपने को विद्रोही घोषित किया। इसने देवगढ़बाहरिया के राजा भीम को पराजित कर उसे अपने अधीन कर लिया। फलस्वरूप, कुंवर केसरीसिंह को अहमदाबाद की शाही सेवा के लिए उपस्थित होना पड़ता था।

बीकानेर राज्य के जांगलू पूगल शहर में राजा माण्डलीक रहता था। उसके राज्य में जवाहर नाम की वेश्या थी जो कि उसके अनुज की प्रेमिका थी। दोनों के संयोग से कमलप्रसन्न का जन्म हुआ था। कमलप्रसन्न अपूर्व रूपसी थी जिसके कारण कि राव मांडलिक का पुत्र उसकी ओर आकृष्ट हो गया। अपनी कन्या की रक्षा के निमित्त जवाहर कमलप्रसन्न को लेकर दिल्ली गई किन्तु वहाँ फीरोज़शाह

उसके रूप पर मोहित हो गया। जवाहर और कमलप्रसन्न वहाँ से अहमदाबाद चलीं गईं जहाँ कि कमलप्रसन्न की भेंट कुंवर केसरीसिंह से हो गई।

जवाहर ने महमूद का आकर्षण कमलप्रसन्न की ओर देखकर उसे उसके हाथ बेच दिया। कमलप्रसन्न के कारण केसरीसिंह भी कैद कर लिया गया परन्तु कमलप्रसन्न और उसकी दासी टूनां की बुद्धिमत्ता से वह मुक्त हो गया। केसरीसिंह ने सेना की सहायता से मुहम्मदशाह को लूटा तथा उसको उसके भाई जल्लाल और दावल समेत मौत के घाट उतार दिया। फज़ल केसरीसिंह का मित्र था जो कि आगे चलकर उसकी सहायता से अहमदाबाद का शासक हुआ। उसने केसरीसिंह को पावागढ़ तथा अन्य परगनों के साथ देवगढ़बाहरिया प्रदान किया।

मुख्य-घटना

४५३—उपर्युक्त ऐतिहासिक विवरण से प्रकट है कि रचना की प्रधान ऐतिहासिक घटना कुंवर केसरीसिंह तथा मुहम्मदशाह का कमलप्रसन्न के लिये युद्ध करना है। इस युद्ध का वर्णन किसी भी इतिहास-ग्रंथ में नहीं उपलब्ध होता। हाँ, रासमाला में मोहम्मद शाह के विषय में केवल इतना उल्लेख अवश्य मिलता है कि 'या तो वह मर गया था अथवा उसे विष दिया गया था[१]।' इसके विपरीत 'गुजरात का इतिहास' के अनुसार अभियान से लौटते समय वह गोधराह नगर (सनौली परगना) में बीमार हो गया और बाद में उसकी मुहर्रम के बीसवें दिन (A. Hi J. 855) सन् १४५१ ई० में मृत्यु हो गई[२]।'

गौणघटनायें

केहरप्रकाश में आई हुई अन्य सभी घटनायें गौण कही जा सकती हैं, कारण कि कवि ने उनका केवल चलते ढंग से उल्लेख किया है। ऐसी घटनाओं में गोलकुंडा के शाह से दलपत का पावागढ़ विजय करना, गोलकुंडा के शाहजादे का मदनपाल से देवगढ़बाहरिया हस्तगत करना, केसरी सिंह का सिद्धपुर के राजा अभैराज सोलंखी की पुत्री से विवाह करना तथा फिरोजशाह का अहमदशाह को गुजरात का नवाब नियुक्त करना कही जा सकती हैं।

इन गौणघटनाओं के संबंध में सबसे बड़ी कठिनाई रचना में समय का अप्राप्य होना है तथा दूसरी कठिनाई इनका अप्रसिद्ध होना है। तृतीय कठिनाई

१—रासमाला या हिन्दू अनाल्स आव् दि प्राविंस आव् गुजरात, वा० १ (१८५६ का संस्करण), पृ० ३५२।

२—जेम्स बर्ड—दि पोलिटिक्स ऐंड स्टेटिस्टिकल हिस्ट्री आव् गुजरात, पृ० १६७।

रचनाकार का ग्रंथनायक का समकालीन न होना है। अतएव कथित गौणघटनाओं की प्रामाणिकता पर भरोसा भी नहीं किया जा सकता क्योंकि उसने उन साधनों, जिनके द्वारा उसे घटनाओं की सूचना उपलब्ध हुई है, का संकेत नहीं किया है।

ऊपर की प्रथम दो गौण-घटनाओं का जहाँ तक संबंध है, लेखक को उस प्रकार का कोई इतिवृत्त इतिहास संबंधी रचनाओं में देखने को नहीं मिला। संभव है कि गोलकुंडा के इतिहास पर अन्वेषण कार्य हो जाने पर कोई प्रकाश इन घटनाओं पर भी पड़ सके। इसी प्रकार तृतीय और चतुर्थ गौणघटनाओं की भी समस्या है जिनके संबंध में इतिहास मौन हैं।

सांस्कृतिक पक्ष

४५४—इस रचना की ऐतिहासिकता में कहाँ तक तथ्य है, यह तो कहना कठिन है किंतु इसमें संदेह नहीं कि सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से रचना में अनेक सूचनायें प्राप्त होती हैं जिनका कि उल्लेख प्रायः ऐतिहासिक रचनाओं में देखने में आता है। इस रचना के बाहरिया प्रकरण से राजकुमारों की शिक्षासंबंधी प्रणाली पर प्रकाश पड़ता है। राजकुमार भावी राजा हुआ करते थे, अतएव उन्हें राजाओं के उपयुक्त उत्तरदायित्व के निर्वाह करने के लिये मल्ल-युद्ध तथा उसके विभिन्न दाँव, करेती (तलवार चलाना), बिन्नोट (तलवार के वार से रक्षा करने के उपाय), जलबाँक (जल में युद्ध करने के दाँव-पेंच) और चढ़ेती (अश्वारोहण) इत्यादि में निपुण होने के लिये पूर्ण शिक्षा प्रदान की जाती थी। केहर अथवा राजकुमार केसरीसिंह ने इन विद्याओं की यथेष्ट शिक्षा प्राप्त किया था, यह इस रचना में सविस्तार वर्णित है[1]। रणसंबंधी अनेक प्रसंगों में विशेषतया आरब उजबक के साथ केसरीसिंह का जलयुद्ध, शाह महमद के साथ उसका शरयुद्ध, खड्गयुद्ध और गुरजयुद्ध, केहर की ये शिक्षायें पूर्णतया लाभप्रद सिद्ध हुई थीं[2]।

केहरप्रकाश में ऐसा पाया जाता है कि हिन्दूराजाओं को धर्म में पूर्ण आस्था थी। नीमराणें का स्वामी राजा दलपत तीर्थ यात्रा के निमित्त द्वारिका गया था[3]। पावागढ़ में जब उसने डेरा डाला तो वहाँ की देवी ने उसे स्वप्न दिया था। उस स्वप्न और मंदिर के पुजारी के आग्रह से प्रेरित होकर उसने मुसलमानों का दमन कर पावागढ़ को विजय किया था। यह उसकी धार्मिक आस्था का ज्वलंत

१—के प्र०, पृ० १२—१६।

२—वही, क्रमशः पृ० ७५-७७, १६५-६६।

३—वही, पृ० ५।

प्रमाण है[१]। इस घटना से संपर्कित मुसलमानों की सभ्यता और संस्कृति का उल्लेख कर देना भी यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

पावागढ़ में रहने वाले मुसलमान वहाँ हिन्दुओं की इच्छा के विरुद्ध गोहत्या तथा अन्य अनिष्ट कर्म (जवनाणों) किया करते थे[२]। वे अपने धर्म के प्रति भी विशेष रूप से जागरूक थे जो कि आज भी प्रायः देखने में आता है। जिस समय दलपत ने उन पर आक्रमण किया था, वे अपने धार्मिक उत्सव—कत्ल की रात को मनाने में संलग्न थे[३]।

हिन्दूराजाओं की धार्मिकता के संदर्भ में कुंवर केसरीसिंह के पिता राजा भीम का तीर्थयात्रा के निमित्त जाना भी उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है[४]।

कवि राव बख्तावर के इस ग्रंथ के आधार पर यह स्पष्टतया कहा जा सकता है कि हिन्दू राजा और मुसलमान बादशाह प्रायः विलासिता के प्रेमी हुआ करते थे। इस कथन की पुष्टि में इस रचना से अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। देवगढ़बाहरिया का राजा मदनपाल अत्यन्त विलासी था। यहाँ तक कि उसको इस संबंध में उसके पुत्र ने भी समझाने और सुधारने का प्रयास किया था[५]। जांगलू पूगल के राजा माण्डलीक का कनिष्ठ भ्राता जला ने जवाहर नाम की एक वेश्या को अपनी प्रेमिका बनाकर रक्खे था[६]। जला और जवाहर वेश्या के संयोग से उत्पन्न कमलप्रसन्न नामक कन्या पर माण्डलीक का पुत्र आसक्त हो गया था। उस राजकुमार से रक्षा करने के लिये जवाहर[७] और कमलप्रसन्न दोनों ही दिल्लीपति फीरोज़शाह के शरण में गई थीं। यहाँ फीरोज़शाह स्वयं कमलप्रसन्न के रूप का शिकार हुआ और फलस्वरूप माँ-बेटी को अहमदाबाद प्रयाण करना पड़ा[८]। अहमदाबाद में कमलप्रसन्न के लावण्य को लक्ष्य कर कुँवर केसरीसिंह उसका चंचरीक बना[९]।

१—वही।
२—वही।
३—वही।
४—वही, पृ० १० तथा २६-३०।
५—वही, पृ० ८।
६—वही, पृ० ३५।
७—वही, पृ० ३५-३६।
८—वही, पृ० ३६।
९—वही, मिलण प्रकरण।

कमलप्रसन्न के रूप को संकट का कारण जानकर जवाहर ने उसे बलात् बादशाह महमद, जो कि उसके सौंदर्य पर मुग्ध था, के हाथ विक्रय कर दिया[1]। सच तो यह है कि काम, मानव-मात्र का सहजात निर्बल पक्ष है तथा प्रभुता और कंचन के सहयोग से राजाओं अथवा बादशाहों का विलास-प्रेमी हो जाना अस्वाभाविक न था।

केहरप्रकाश में कवि ने यह दिखलाया है कि नारी स्वभावतः प्रेम की ओर उसके लक्ष्य के प्राप्ति की कामना करती है। कमलप्रसन्न वेश्या की बालिका होते हुये भी नारीहृदय रखती थी। कुंवर केसरीसिंह की प्रशंसा के श्रवण से उसके अंदर प्रेम का बीजारोपण हुआ था तथा स्वप्नदर्शन और चित्रदर्शन के द्वारा वह अभिसिंचित हुआ था और प्रत्यक्ष दर्शन करने पर उसका प्रेम अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। फलतः उसे प्राप्त करने के निमित्त उसने सब प्रकार के कष्ट सहन किये और अन्ततोगत्वा सफल हुई थी[2]। वेश्यायें किसी समय में शृंगार, संगीत और नृत्य आदि ललित कलाओं में पारंगत हुआ करती थीं—यह कमलप्रसन्न के चरित्र से प्रमाणित है[3]। समाज में उन्हें यथोचित सम्मान प्राप्त होता था तथा समाज में उन्हें एक निश्चित स्थान प्राप्त था, यह जवाहर तथा कमल प्रसन्न के प्रसंगों से सुव्यक्त है। स्त्रियों के कारण राजाओं में प्रायः युद्ध हो जाया करता था, इसकी परिपुष्टि भी कमलप्रसन्न के जीवनांश से होती है[4]। स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा प्रायः अधिक चतुर हुआ करती हैं, इसके प्रमाणस्वरूप कमलप्रसन्न तथा उसकी दासी द्वारा कुंवर केसरीसिंह को कारागार से मुक्त करा देने की घटना प्रस्तुत की जा सकती है[5]। इसमें संदेह नहीं कि मानव-जीवन में प्रायः ऐसे अवसर आते हैं कि जहाँ पुरुष अपने को किसी कार्य की सद्धि में असमर्थ और असक्त पाता है वहाँ स्त्रियाँ उस दुष्करकार्य को सुगमतापूर्वक हल कर देती हैं। जैसा कि प्रायः बुद्धिमान् तथा गुरुजन स्वीकार करते हैं—नारी वस्तुतः अबला नहीं सबला है। तुलसीदास जी ने इसके समर्थन में कहा ही है—

'काह न अबला कर सकहिं......।'

स्त्री यदि चाहे तो उसके सतीत्व को कभी कोई आँच नहीं लग सकती। कमलप्रसन्न यद्यपि वेश्या की कन्या थी, किन्तु इस दृष्टि से उसका चरित्र

१—वही, पृ० ६६-६७।

२—वही, पृ० १७५।

३—वही, पृ० ४६-५५ तथा १५३-५४।

४—वही, शाहयुद्ध प्रकरण।

५—वही, पृ० १६१।

आकाशदीप की भाँति मार्ग-दर्शक कहा जा सकता है।

केहरप्रकाश के द्वारा हिन्दुओं की सामाजिक रीतियों तथा विशेष उत्सवों पर भी प्रकाश पड़ता है। इस विचार से उसमें जन्मोत्सव मनाने, मोहरा मुक्लावण (मिलाने), फाग, फागचौक प्रवेश, सतीप्रसंग, गंगोदक उच्छाह (उत्साह) प्रभृति का उल्लेख किया जा सकता है[1]।

१—वही, क्रमशः पृ० ११, ६१-६२, ८१, ८२, १६६, २२०-२१।

पुस्तक-सूची

मूल-ग्रंथ

अ—अप्रकाशित

१—अचलदास खीचीरी वचनिका	गाडण सिवदान कृत अनूप संस्कृत लाइब्रेरी (पु० सं० १)
अजीत विलास	अनूप संस्कृत लाइब्रेरी (पु० सं० २)
अजीतसिंह चरित्र	हरिदास भाट
अन्योक्ति प्रकाश	बख्तावर जी
अभय भूषण	करणीदान
अभय विलास	पृथ्वीराज सांदू
अमर बत्तीसी	हरिदास भाट
उमादे (भटियाणी)	सती राकवित्त आशानन्द
ऊमादे सती रा कवित्त	अ० सं० पु० बीकानेर [देखिये ऊमादे (भटियाणी) सती रा कवित्त]
१०—करुणा बत्तीसी	करुण रस प्रधान पुस्तक प्रकाश, जोधपुर, काव्य गु० न० १०
किरतार बावनी	दुरसा जी (संदिग्ध)
कृष्णचन्द्रिका	बाँकीदास श्री सीताराम लालस के संग्रह में है
खीवड़ा के दोहे	पुस्तक प्रकाश जोधपुर (काव्य गु०न० ३०)
गजगुण रूपक	केशवदास गाडण (अप्राप्य)
गज मोख	माधोदास,दधवाड़िया
गरुण पुराण	ईसरदास
गीति रूपक संग्रह	सरस्वती भंडार
गीत व छंदों का संग्रह	बांकीदास
गुण आगम	ईसरदास
गुण गोव्यंद	कल्याण दास भाट सरस्वती भवन, उदयपुर (ग्र० सं० ५६१)

गुण जोधायण	गाडण पसाइत
गुण भगवन्त हंस	ईश्वर दास
गुण राय रासो	माधोदास दधवाड़िया, देखो (रामरासो)
गुण रूपक	हेमकवि विरचित, विषय महाराज गजसिंह की प्रशंसा, पुस्तक प्रकाश, जोधपुर
गुण रूपक वंध या गुण रूपक	गाडण केसोदास कृत, पुस्तक प्रकाश, जोधपुर, काव्य गु० ३ ख
गुण हरिरस	ईश्वर दास, प्रयागदास की स्थल लाइब्रेरी, उदयपुर
गोगै जी री निसाणी	अ० सं० पु० बीकानेर (पु० सं० २८)
गोरखनाथ जी रा छंद	केसोदास गाडण
गंगालहरी	पृथ्वीराज
ग्रंथराज या गजसिंह रूपक	गोपीनाथ समय संवत् १८०० के आसपास (अप्र०) अं० सं० पु० पु० सं० ३३
३१—चन्द्रभूषण दर्पण	बाकीदास—सीताराम लालस का संग्रह
चन्द्रायण (श्रृंगार)	पुस्तकप्रकाश, जोधपुर (काव्य गु० न० ३३)
चमत्कार चन्द्रिका	बांकीदास सीताराम लालस का संग्रह
छोटा हरिरस	ईसर दास
छन्दो मयूख	सूर्यमल मिश्रण
जती रासा	करणीदान
जमलै रादूहा	अ० सं० पु०, बीकानेर (पु० सं० १२१)
जाह्वी रा दूहा	अ० स० (पु० सं० ४१) बीकानेर
जेठुवा के दोहे	
झांमाल	खिड़ियो वीरदास, अ० सं० पु० बीकानेर (पु० सं० ६)
ठाकुर जी रा दूहा	अ० सं० पुस्तकालय, बीकानेर (पु०सं०४३)
ठाकुर लालसिंह का यश	करणीदान
तिथियों के दोहे	पुस्तक प्रकाश, जोधपुर (का० गु०न०३०)
दशरथ रावउत	पृथ्वीराज
दसम भागवत रा दूहा	राठौड़ पृथ्वीराज, सरस्वती भंडार उदयपुर
दातार सूर री संवादो	अ० स० पु०, बीकानेर (पु० सं० ७६ ग)
देवियाण	ईसरदास

दोहा जेठवारा	अ० स० पु० बीकानेर (पु० सं० ७६ ठ)
नागड़ा के दोहे	पुस्तकप्रकाश, जोधपुर (काव्य गु० न० ३०)
नाग दमण	सांया झूला कृत—अ० स० पु०, बीकानेर (पु० स० ४६ और १०६) तथा पुस्तक प्रकाश, जोधपुर (काव्य गु० न० १०)
नाथ चन्द्रिका	ओसवाल उत्तम चन्द
नाथ चरित्र	महाराजा मानसिंह कृत
नाथिया रा दूहा	सरस्वती भवन, उदयपुर (ग्रंथ सं० १२५)
निन्दा स्तुति	(संदिग्ध) ईसरदास
नीसाणी वीरभाणरी	ढाढी बादर
पिसण श्रृंगार	सेवादास—अ० स० पु०, बीकानेर (पु० सं० ५५)
पेट कवित्त	पुस्तक प्रकाश, जोधपुर (काव्य गु०न०३ ख)
प्रस्ताविक	पुस्तक प्रकाश, जोधपुर (काव्य गु०न० ३,०)
प्रिथी राज रा दूहा	अ० सं० पु०, बीकानेर (पु० स० ६१) रचयिता—राठौड़ प्रिथीराज (ग्र० सं० ८५ तथा ८६)
प्रेम पत्री	पुस्तक प्रकाश, जोधपुर (का० गु०न० ३०)
फतह यश प्रकाश	बख्तावर जी, कविराय मोहनसिंह, उदयपुर के संग्रह में
फुटकर कवित्त सवैये	सूर्यमल्ल
बन्द पत्री रा दूहा	सरस्वती भवन, उदयपुर (ग्र० सं० ४६८)
बाघरो के दोहे	आशानन्द, पुस्तक प्रकाश, जोधपुर, (काव्य गु० न० ३०)
बारहमासा के दोहे	पुस्तक प्रकाश, जोधपुर (काव्य गु०न०३०)
बारह मासै रानै बीजा दूहा	अ० सं० पु०, बीकानेर (पु० सं० ६३)
बाल लीला	ईसर दास
बीझा सोहणी के दोहे	पुस्तक प्रकाश, जोधपुर (काव्य गु०न०३०)
बैराट	ईसर दास
भगत भावरा चन्द्रायण	सोटी नाथी, अ० सं० पु०, बीकानेर (पु० सं० ११०)

भगवंत हंस	बारहट ईश्वर दास कृत—अ० सं० पु०, बीकानेर (ग्रन्थ सं० ६१)
भाषा दसम स्कंध	माधोदास दधिवाड़िया
भाषा भारथ	सांदू खेतरी, सरस्वती भंडार
भीम प्रकाश	राम दान
भीम विलास	किशन जी आढा (पुस्तक किशन जी आढा के उत्तराधिकारी ठाकुर लक्ष्मण दान के पास है)
माहाराजा गजसिंह जी री कविता	रचयिता—महाराजा गजसिंह, अं०स० पु०, बीकानेर (पु० सं० ६१)
महाराज रतनसिंह जी री कविता	रचयिता—वीठू भोमो रामदान कृत—अ० सं० पु० बीकानेर (पु० सं० ७३)
महाराजा गजसिंह जी री निर्वाण	अ० सं० पु०, बीकानेर (पु० सं० ७१)
महाराजा गजसिंह जी री रूपक	रचयिता—(चारण सिंदायच फतैराय, अ० सं० पु०, बीकानेर (पु० सं० ७२)
मानयशो मंडन	बांकीदास—सीताराम लालस का संग्रह
रघुवर जस प्रकास	किशन जी आढा
रणमल छन्द	
रतन बिलास	बीठू चारण भोमो कृत
रतन रूपक	कविया चारण सागर दान
रस तथा अंलकार का ग्रंथ	बांकीदास
राउ जइतसी रउ छंद	अज्ञात कवि कृत
राज प्रकाश	राव किशोरदास भाट, सरस्वती भंडार तथा अ० जै० ग्रं० न० १२, काव्य विभाग
राणा रासो	(संदिग्ध) दयाल दास
राय रसो	चारण माधोदास, सरस्वती भंडार, अ० सं० पु०, बीकानेर (ग्रंथ संख्या ६४) तथा पुस्तक प्रकाश, जोधपुर (काव्य गु० न० ५० तथा ३ ख)
राव माल दे रा कवित्त	अल्लू जी चारण
राव रिण मल रो रूपक } राव रिण मल राववित्त }	गाडण पसाइत
राव अमरसिंर जी रा दूहा	केशव दास गाडण

राम रंजाट	सूर्य मल, बंगाल हिन्दी मंडल, कलकत्ता का संग्रहालय से प्राप्त, व्यक्तिगत प्रति
रास कैलास	ईसरदास
रुक्मिणी हरण	सांया झूला
वसुदेव रावउत	पृथ्वीराज
विरह चंद्रिका	बांकीदास
विवेक वार्ता	केसवदास गाडण
विवेक बार री नीसांणी	रचयिता—गाडण केसवदास, अ० स० पु०, बीकानेर (पु० सं० १०६)
वीर मायण	ढाढी रामचन्द्र या बादर
वैराट	देखिये, बैवाट रघुनाथ प्रसाद सिंहानिया मंत्री, रा० सि० सो० के संग्रहालय में २०० वर्ष पूर्व की प्रति है। इसमें हरिरस, देव्यायण, निंदास्तुति के अतिरिक्त ५ काव्य ईश्वरदास के और हैं
शंभु यश प्रकाश	वख्तावर जी कवि राव मोहनसिंह, उदयपुर का संग्रह
श्री कुमार अज्जाजीनी भूचरमोरी नी गजगत	दुरसा जी (संदिग्ध)
श्री दरबारी री कविता	बांकीदास
रामचन्द्र जी रा दूहा	अ० सं० पु०, बीकानेर (पु० रा० ४३)
श्रृंगार के दोहे	पुस्तक प्रकाश (काव्य गु० स० २१) जोधपुर
सगत सिंघ रासो	गिरधर आसिया
सभापर्व	ईसरदास
सप्तसती रा छंद	श्रीधर
सुजानसिंह रासो या बरसलपुर गढ विजय	
सूर दातार रौ संवाद	रचयिता—बारठ सांकर, अ० सं० पु०, बीकानेर (पु० सं० ११०)
हरिपिंगल प्रबंध	जोगीदास चारण, सरस्वती भंडार

आ—प्रकाशित

ऊमर काव्य — ऊमरदान, मेसर्स अचलू प्रताप न्यायी ऐंड को०, जोधपुर, सन् १६३० ई०—तृतीय बार

कायर बावनी — बांकीदास, (बां० ग्र० भाग ३ में संग्रहीत) ना० प्र० स०, काशी, १६३८ ई० प्रथम बार

कुकवि बत्तीसी — बांकीदास, (बा० ग्रं० भाग २ में संग्रहीत), इंडियन प्रेस, प्रयाग १६३१ ई०

केहर प्रकाश — बख्तावर जी, बाबू चांदमल भन्डक प्रबंध-कर्त्ता द्वारा वैदिक मंत्रालय, अजमेर में मुद्रित, विक्रमाव्द १६६१, प्रथम बार

कृपण दर्पण — बांकीदास (बा० ग्र० भाग २ में संग्रहीत), इंडियन प्रेस, प्रयाग १६०१ ई०

कृपण पचीसी — बांकीदास (बा० ग्र० भाग ३)

गंगा लहरी — बांकीदास (बा० ग्र० भाग २)

चुगल मुख चपेटिका — बांकीदास (बा० ग्र० भाग २)

छंद राव जैतसी — वीठू सूजा, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, सन् १६१७ ई०

जेहल जस जड़ाव — बांकीदास (बा० ग्र० भाग ३)

भमाल नखशिख — वही

ढोला मारू रा० दूहा — ना० प्र० स० काशी, प्रथम संस्करण, वि० सं० २०११

दातार बावनी — बांकीदास (बा० ग्र० भाग १) ना० प्र० सं०, काशी, १६२४ ई०

धवल पचीसी — वही

घूड़सार — उदयराज उज्ज्वल, पूरणमल शर्मा

नटनागर विनोद — संपादक—कृष्णबिहारी मिश्र, प्रयाग, १६३५

नाग दमण — प्रसिद्ध बर्त्ता लखधरीरात्मज हमीरदान ग्रंथ मलवानुं टेकाणुं राज्यकवि लाखा जी कानजी ठै० दिल खुशाल बाग, मु० पालण-पुर (उ० गुजरात) सं० १६८१

नीतिमंजरी — बाँकीदास (बाँ० ग्र० भाग १)

बांकीदास ग्रंथावली	भाग १, ना० प्र० स०, काशी, १९२४ ई०
	भाग २, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९३१ ई०
	भाग ३, ना० प्र० स०, काशी, १९३८ ई०
भुरजाल भूषण	बांकीदास (बां० ग्र० भाग २)
भैरव विनोद	करनीदान (देखो, विरदशिणगार)
मावड़िया मिजाज	बां० ग्रं०, भाग २
मोहमर्दन	वही
रघुनाथ रूपक गीतांरो	मनसाराम, ना० प्र० स०, काशी, सं० १९९७ वि० प्रथम बार
राजरूपक	वीरभाण—ना० प्र० स०, काशी, सं० १९९८ वि०
राजिया काव्य	साहित्य सुमन माला, नोरमैन वेल ऐंड को०, २०स्टांड रोड, कलकत्ता, जून १९३७ प्रथमावृत्ति
राजिये रा दूहा	नवयुग ग्रंथ कुटीर, बीकानेर, फर्रुखाबाद
राजिये रा सोरठा	हिन्दी साहित्य मंदिर, घंटाघर, जोधपुर, जुलाई सन् १९३४ ई०, तीसरी बार
वचनविवेक पच्चीसी	बा० ग्रं०, भाग ३
वचनिका राठौड़ रतनसिंह—जी री महेसदासोतरी	एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९१७ ई०
विदुर बत्तीसी	बां० ग्रंथ, भाग २
विरद छिहत्तरी	दुरसा जी आढा—डायमंड जुबिली बुक डिपो, जोधपुर सन् १९२२ ई०
विरद शिणगार	करणीदान, श्री मरुधर प्रकाशन मंदिर, जोधपुर, संवत् १९९९ वि० द्वितीयावृत्ति
वीर विनोद	बांकीदास (बाँ० ग्रं० भाग १)
वीर सतसई	सूर्यमल मिश्रण, बंगाल हिन्दी मंडल, कलकत्ता सन् १९४८ ई०
वेलि क्रिसन रुक्मिणी री	एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, सन् १९१९ ई० ; हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, सन् १९३१ प्रथम संस्करण
वही	आनन्द प्रकाश दीक्षित, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर १९५३ ई०

वैसक वार्त्ता	बां० ग्र०, भाग २
वैस वार्त्ता	वही
सती सतक	उदयराज उज्ज्वल, प्रथमावृत्ति १६५४ ई०
संतोष बावनी	बां० ग्र०, भाग ३
सिद्धराज छत्तीसी	वही
सीह छत्तीसी	वही, भाग १
सुजरु छत्तीसी	वही, भाग ३
सुपह छत्तीसी	वही, भाग १
सूर छत्तीसी	वही
सूरज प्रकाश	रायल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, कलकत्ता, सन् १६१७ ई०
४७ —हरिरस	ईसरदास, राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता, सन् १६३८ ई०, मानदान बारहठ, ग्राम नगरी, सं० १६६४ वि० प्रथम संस्करण
हमरोट छत्तीसी	बां० ग्र०, भाग ३
हालां झालां रा कुंडलिया	हितैषी पुस्तक भंडार, उदयपुर, स० २००७ वि०

सहायक-ग्रन्थसूची

१. अपभ्रंश काव्यत्रयी	जिनदत्त सूरि, संपादक—लालचन्द्र भगवान दास गांधी, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बड़ोदा १९२७ ई०
आईने अकबरी	वाल्यूम-३, एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, कलकत्ता, १८९२ ई०
आक्सफोर्ड हिस्ट्री आव् इंडिया	विंसेट स्मिथ, आक्सफोर्ड १९१९ ई० ।
आधुनिक हिन्दी साहित्य	डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९४१ ई०
उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १	गौरीशंकर हीराचंद ओझा
उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग २	वही
ए डेस्क्रिप्टिव कैटलाग आव् बार्डिक ऐंड हिस्टारिकल मैनुस्क्रिप्ट्स, सेक्शन २ बार्डिक	रायल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, कलकत्ता, १९१७ ई०
पोट्री पार्ट १, वही सेक्शन १, पार्ट २	वही
ए स्टडी आव् हिस्ट्री	आर्नल्ड जे० टायनबी, वाल्यूम १—६ का संक्षिप्त संस्करण, डी० सी० सोरवेल कृत, १९४६ ई०
ए शार्ट हिस्ट्री आव् औरंगजेब	जे० एन० सरकार, सरकार ऐंड संस, १९३० ई०
ए हिस्ट्री आव् गुजरात	एम० एस० कामिसैरियट, वाल्यूम १, १९३८ ई०, लांगमैंस ग्रीन ऐंड को० लिमिटेड, बाम्बे, कलकत्ता, मद्रास, ंदन, न्यूयार्क, टोरंटो
ऐन ओरियंटल बाओग्राफिकल डिक्सनरी	टामस विलियम बील, कलकत्ता १८८१ ई०
ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट आव् बंगाली लैंग्वेज, वाल्यूम १	डा० सुनीति कुमार चटर्जी
कविरत्न माला (प्रथम भाग)	जोधपुर निवासी मु० देवी प्रसाद विरचित, मुद्रक भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता, १९३८ ई०

काव्यादर्श	दंडिन, भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, १६३८ ई० (संस्कृत)
काव्य दर्पण	रामदहिन मिश्र, ग्रंथमाला कार्यालय, बांकीपुर, १६४७ ई०
कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव् इंडिया, वाल्यूम २	
कृष्ण विलास	जोधपुर १६२२ ई०
गीत मंजरी	अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर १६४४ ई०
गुजरात ऐंड इट्स लटरेचर	के० एम० मुंशी (प्रथम संस्करण)
ग्रामीण-हिन्दी	डा० धीरेन्द्र वर्मा,साहित्य भवन,प्रयाग, १६३३ ई०
छंद-प्रभाकर	जगन्नाथ प्रसाद भानु (छठा संस्करण)
जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग १	गौरीशंकर हीराचंद ओझा, १६३८ ई०
जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग २	गौरीशंकर हीराचंद ओझा, १६४१ ई०
डिंगल-कोश	मुरारिदान, ॱगनाथ प्रेस, बूँदी
डिंगल में वीररस	मोतीलाल मेनारिया, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत् १६६७
डिंलग शब्द की व्युत्पत्ति	उदयराज उज्ज्वल, अक्षय प्रिंटिंग प्रेस, १६५२ ई०
दलपत पिंगल (गुजराती)	
दयालदास री ख्यात	अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर, १६५८ ई०
दाराशुकोह	कालिका रंजन कानूनगो, एस० सी० सरकार ऐंड को० लिमिटेड, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, १६५२ ई०
दि एनाल्स ऐंड ऐंटिक्विटीज आव् राजस्थान, भाग १ और २ नवीन पिंगल—अवध उपाध्याय	कर्नल जेम्स टाड, संपादक—क्रुक मिल-फोर्ड, १६२० ई०
दि पोलिटिकल ऐंड स्टैटिस्टिकल हिस्ट्री आव् गुजरात आव् अली मोहम्मद खान	जेम्स वर्ड, लंदन, १८३५ ई०

दि लाइफ ऐंड टाइम्स आव् हुमायूं — डा० ईश्वरी प्रसाद, ओरियंट लांगमैंस लिमिटेड, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, १६५५ ई०

ध्वन्यालोक — निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १८६१ ई०

पाबू प्रकाश (बड़ा) — मोडजी आसिया, ठा० भोपालसिंह जी, ठिकाना कैरू, (मारवाड़)

पूर्व आधुनिक राजस्थान — डा० रघुवीर सिंह, राजस्थान विश्व-विद्यालय, उदयपुर, १६५१ ई०

प्रतापगढ़राज्य का इतिहास — गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, अजमेर, १६४१ ई०

बीकानेरराज्य का इतिहास, भाग १ — गौरीशंकरहीराचंद ओझा, १६३६ ई०

बीकानेरराज्य का इतिहास, भाग २ — गौरीशकर हीराचन्द ओझा, १६४० ई०

भक्तमाल (सटीक वार्त्तिकप्रकाश युत) — नाभादास, श्री अयोध्या जी प्रमोद वन कुटिया निवासी सीतारामशरण भगवान प्रसाद विरचित, प्रथम वार १६१३ ई०

भारत की भाषायें और भाषासंबंधी समस्यायें — डा० सुनीति कुमार चैटर्जी

भाषा-रहस्य — श्यामसुंदर दास और पद्मनारायण-आचार्य, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, संवत् १६६२

भाषा और साहित्य

म—आसिरे आलमगीरी — रायल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, कलकत्ता, १६४७ ई०

महाराणा यशप्रकाश — ठा० भूरसिंह शेखावत, १६२५ ई०

मारवाड़ का इतिहास, प्रथम भाग — जोधपुर आर्कलियाजिकल डिपार्टमेंट, १६३८ ई०

मारवाड़ का इतिहास, द्वितीय भाग — जोधपुर आर्कलियाजिकल डिपाटमेंट १६४० ई०

मारवाड़राज्य का इतिहास — जगदीश सिंह गहलौत, हिन्दी साहित्य मन्दिर, जोधपुर, १६२५ ई० (द्वितीय संस्करण)

मिश्रबन्धु विनोद, भाग १
मिश्रबन्धु विनोद, भाग २
मिश्रबन्धु विनोद, भाग ३ — इलाहाबाद, संवत् १६७० वि० ।

मिश्रबन्धु विनोद, भाग ४	लखनऊ, संवत् १९९१ वि०
मीनिंग इन हिस्ट्री	कार्ल लोविथ, यूनिवर्सिटी आव् शिकागो प्रेस, कलकत्ता, १८८४ ई०
मुनतखबुत्तवारीख, वा० २	कलकत्ता, १८८४ ई०
मुहणोत नैणस्वी की ख्यात, भाग १	ना० प्र० स०, काशी, १९८२ वि० (प्रथम संस्करण)
मुहणोत नैणस्वी की ख्यात, भाग २ (द्वितीय खंड)	ना० प्र० स० काशी की ओर से इंडियन प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित संवत् १९९१ (प्रथम संस्करण)
राजस्थान का पिंगल साहित्य	मोतीलाल मेनारिया, हितैषी पुस्तक भंडार, उदयपुर, प्रथम संस्करण १९५२ ई०
राजस्थान में हिन्दी के हस्त-लिखित ग्रंथों की खोज, भाग १	मोतीलाल मेनारिया, हिन्दी विद्यापीठ, उदयपुर, १९४२ ई०
राजस्थानी भाषा	सुनीति कुमार चैटर्जी, प्राचीन साहित्य शोध संस्करण, उदयपुर, १९४९ ई०
राजस्थानी भाषा और साहित्य	मोतीलाल मेनारिया हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत् २००६ वि०
राजस्थान रा दूहा	नरोत्तमदास स्वामी, मुद्रक—हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, संवत् १९९१ वि०
राजस्थानी व्याकरण	सीताराम लालस, प्रकाशन, उदयराज उज्ज्वल तथा सीताराम लालस, प्रथम वार १९५४ ई०
राजस्थानी वीरगति, भाग १	अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर, १९४५ ई०
राजस्थानी साहित्य का महत्व	संपादक—रामदेव जोखानी, ना० प्र० स०, काशी, १९४३ ई०
राजस्थानी साहित्य	मोतीलाल मेनारिया, छात्र हितकारी पुस्तक माला, प्रयाग, १९३१ ई०
रामचरित मानस (रामायण)	संस्करण १९५२ ई०
रस तरंगिणी	लिथोप्रति, बनारस, (पब्लिक लाइब्रेरी, इलाहाबाद)
रास माला	फैब्रिसकृत-संपादक, रालिंसन आक्सफोर्ड, वाल्यूम १, १९२४ ई०

लाइफ ऐंड कंडीशंस आव् दि पीपुल आव् हिन्दुस्तान	डा० कुंवर मुहम्मद अशरफ
लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया, वाल्यूम १, पार्ट १	सर जार्ज, ग्रियर्सन, १६०८ ई०
लेटर मुगल्स, वाल्यूम १	कलकत्ता, लंदन, लूजाक ऐंड को०,
लेटर मुगल्स, वाल्यूम २	कलकत्ता, एम० सी० सरकार ऐंड संस, १६२२ ई०
वीर-काव्य	उदयनाराय तिवारी, संवत् २००६ वि०
वंश-भास्कर	सूर्यमल, प्रताप प्रेम, जोधपुर, सं० १६५६ वि०
वीसलदेव रासो	ना० प्र० स०, काशी
श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण	इंडियन प्रेस, इलाहाबाद
स्टोरिया डो मोगोर वा० १, २	निकोलाई मनूकी, लंदन १६०७ ई०
साहित्य दर्पण	जयकृष्ण दास हरिदास गुप्त, बनारस
सोमनाथ दि श्राइन इटर्नल	के० एम० मुंशी
हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग	नामवर सिंह
हिन्दी भाषा का इतिहास	डा० धीरेंद्र वर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक—इतिहास	डा० रामकुमार वर्मा, रामनारायणलाल, सन्० १६४१ ई०
हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल, संवत २००३ वि०
हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव	डा० सरनामसिंह अरुण, राम नारायण-लाल, इलाहाबाद, १६५२ ई०
हिस्ट्री आव् औरंगजेब, वा० १	जे० एन० सरकार, १६१२ ई०
हिस्ट्री आव् औरंगजेब, वा० २	जे० एन० सरकार, १६१२ ई०
हिस्ट्री आव् औरंगजेब, वा० ३	जे० एन० सरकार, १६३८ ई०
हिस्ट्री आव् औरंगजेब, वा० ४	जे० एन० सरकार, १६१६ ई०
हिस्ट्री आव् औरंगजेब, वा० ५	जे० एन० सरकार, १६२४ ई०
हिस्ट्री आव् इंडिया, वा० ७	इलियट लंदन, १८७७ ई०
हिस्ट्री आव् दि राइज आव् दि मोहेमेडन पावर इन इंडिया, वाल्यूम १	लंदन, १८२७ ई०

पत्र-पत्रिकायें तथा निबंध

इंडियन ऐंटीक्वैरी, वाल्यूम ५८
इम्पीरियल गजेटियर, वाल्यूम २
कैटलाग आव् राजस्थानी, मैनुस्क्रिप्ट्स — अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर
खोज रिपोर्ट — ना० प्र० स० काशी (अप्र०)
जै० ए० एस० बी०, वा० २
जै० ए० एस० सी०, वा० १३, १६१७ ई०
जर्नल एंड प्रोसीडिंग्ज आव् एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल, वा० १०
ट्राजैक्शंस आव् दि इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस ५, (हैदराबाद)
ना० प्र० पत्रिका—भाग १४ अंक १, संवत् १६६०
ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ४५, सन् १६४०-४१
प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कार्य विवरण, भाग २
प्रेलिमिनरी रिपोर्ट आन दि आपरेशन इन सर्च आव् दि मैनुस्क्रिप्ट्स आव् बार्डिक क्रानिकिल्स ११११३ ई०
बार्डिक ऐंड हिस्टारिकल सर्वे आव् राजपूताना, १६१७ ई०, वा० १३
बाम्बे गजेटियर भाग १, खंड १
माधुरी, वर्ष ११, खंड १, संवत् १६८६ वि०
राजस्थान भारती, भाग १, अंक ४
राजस्थान, वाल्यूम १, संवत् १६६२
राजस्थान, वाल्यूम २, संवत् १६६३
राजस्थान साहित्य, जून १६५४, राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर
राजस्थानी, भाग ३, अंक ४, १६४० ई०
विशाल भारत, जुलाई १६५० ई०
शोध-पत्रिका, जून १६५२, राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर
सरस्वती, भाग ३३, खंड १, जनवरी सन् १६३३
हिन्दुस्तानी, भाग २, अंक १, जनवरी १६३३ ई०
हिन्दुस्तानी, वाल्यूम १३, सन् १६४३ ई०

हिस्ट्री आव् जहाँगीर — डा० बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, १६३० ई०
हिस्ट्री आव् शाहजहाँ — डा० बी० पी० सक्सेना, इलाहाबाद १६३२ ई०
हिस्ट्री आव् सिविलिजेशन ऐंड कल्चर — एफ० आर० कावेल, १६५२ ई० ऐडम्स ऐंड सी ब्लैक